अकबर की मृत्यु के समय का भारत

डब्ल्यू० एच० मोरलैंड
सी० एस० आई० सी० आई० ई०, भारतीय सिविल सेवा के भूतपूर्व सदस्य

दि मैकमिलन कंपनी आफ इंडिया लिमिटेड
नई दिल्ली बंबई कलकत्ता मद्रास
समस्त विश्व में सहयोगी कंपनियां

अनुवाद : सुधाकिरण सिनहा
प्रथम हिंदी संस्करण : 1976

'इंडिया ऐट दि डेथ आफ अकबर'
का प्रथम हिंदी रूपांतर

भारत सरकार से रियायती दर पर प्राप्त कागज
इस पुस्तक में इस्तेमाल किया गया है।

भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद द्वारा प्रवर्तित

एस० जी० वसानी द्वारा दि मैकमिलन कंपनी आफ इंडिया लिमिटेड के लिए प्रकाशित तथा यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली 110007 में मुद्रित।

W H Moreland : Akbar Ki Mrityu Ke Samay Ka Bharat

भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद की ओर से

भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद के अनेक उद्देश्यों में एक है शोध की उपलब्धियों को उस पाठक वर्ग तक पहुंचाना जो हमसे यह अपेक्षा रखता है कि हम भारतीय भाषाओं में इतिहास संबंधी रचनाएं तैयार तथा प्रकाशित करें। अंग्रेजी भाषा के माध्यम से भारतीय इतिहासविद अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में पहुंच सकते हैं, नाम और प्रतिष्ठा अर्जित कर सकते हैं, किंतु भारतीय पाठकवर्ग का एक छोटा अंश ही इससे लाभ उठा पाता है। शिक्षण और अनुसंधान के माध्यम के रूप में हिंदी तथा अन्य भारतीय भाषाओं के प्रयोग की प्रवृत्ति बल पकड़ रही है। ऐसी स्थिति में इतिहास की स्तरीय पुस्तकों की कमी गंभीर रूप से अनुभव की जा रही है। सबसे पहले हमें भारतीय इतिहास की ओर ध्यान देना है। अत: भा० इ० अ० प० ने कुछ गौरवग्रंथों (क्लासिक्स) तथा इतिहास विषयक शोध की निर्दोष पद्धतियों पर आधृत और इतिहास की समकालीन प्रवृत्तियों को प्रतिबिंबित करने वाली कुछ अन्य पुस्तकों का अनुवाद कराने का निश्चय किया है।

इस पुस्तक में सत्रहवीं शताब्दी के प्रारंभ के भारत के आर्थिक जीवन का खाका खींचने का प्रयत्न किया गया है। ब्रिटिश पूर्व भारत के विषय में अतिशयोक्तिपूर्ण विवरणों द्वारा जो 'भ्रामक राय' कायम हो गई थी, 'संख्यात्मक' आंकड़ों के प्रयोग द्वारा मोरलैंड ने उसे एक 'शोधक' (करेक्टिव) प्रदान किया। यद्यपि बाद में हुए शोध ने उन्हें कई स्थलों पर गलत सिद्ध किया है तथा, इंडियन सिविल सर्विस के आदमी होने के नाते उनका रवैया ब्रिटेन के प्रति स्वाभाविक रूप से पक्षपातपूर्ण था तथापि अंतर्दृष्टियों से परिपूर्ण मोरलैंड का यह कार्य अपनी तरह का महत्वपूर्ण, पथप्रदर्शक साहसिक कार्य है।

पुस्तक का प्रकाशन पटना यूनिट के प्रयासों का परिणाम है जिसके लिए अनुवादक श्री सुधाकरण सिनहा; डा० नगेंद्र प्रसाद वर्मा तथा अन्य सभी सहयोगियों को हम धन्यवाद का ज्ञापन करते हैं।

रामशरण शर्मा
अध्यक्ष
भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद

5 मार्च 1976
नई दिल्ली

प्रस्तावना

इस पुस्तक का उद्देश्य सत्रहवीं सदी के आरंभ के भारत के आर्थिक जीवन की रूपरेखा प्रस्तुत करना है, यह वह काल था जिसके शीघ्र बाद भारत में उन नई शक्तियों का उदय हुआ जो आगे देश के विकास को उत्तरोत्तर अधिकाधिक और अंत में सबसे प्रमुख रूप से प्रभावित करने वाली थीं। इतिहास में एक युग की समाप्ति और दूसरे की शुरुआत तत्वत: क्रमिक संक्रमण का परिणाम होती है, फिर भी यदि भारत के संदर्भ में मध्ययुग और आधुनिक युग को अलग करने वाली समय रेखा सूचित करने की छूट दी जाए तो हम कह सकते हैं कि वह समय रेखा सन 1608 थी, जब 'हेक्टर' नामक अंग्रेजी जहाज सूरत पहुंचा। इस वर्ष से आरंभ करके अगले तीन सौ सालों का आर्थिक इतिहास पहले तो विदेशी यात्रियों के वृतांतों और ईस्ट इंडिया कंपनी के प्रारंभिक पत्रों के संग्रहों और फिर प्रचुर मात्रा में उपलब्ध परवर्ती काल के सरकारी अभिलेखों और प्रकाशनों के सहारे गढ़ा जा सकता है, गरज यह कि हमारे अध्ययन केंद्रों और विश्व-विद्यालयों में अध्ययन के लिए एक सुनिश्चित काल उपलब्ध है, बशर्ते कि इस दिशा में ठीक शुरुआत कर दी जाए। इस पुस्तक में अकबर के शासन के अंतिम वर्षों की आर्थिक स्थिति का विवरण प्रस्तुत करके ऐसी ही शुरुआत करने की कोशिश की गई है। मुझे लगता है कि इसके पूर्ववर्ती काल के ऐसे ही अध्ययन के लिए पर्याप्त सामग्री शायद कभी भी नहीं मिल पाएगी, लेकिन सोलहवीं सदी के अंतिम वर्षों के संबंध में हमें जितनी जानकारी है वह इस प्रयत्न की सार्थकता के लिए पर्याप्त जान पड़ती है।

इस प्रयत्न में सफलता मिली है या नहीं, इसका निर्णय तो पाठक ही करेंगे। मैंने जिस सामग्री का उपयोग किया है वह मुझे भारत के आर्थिक जीवन की मुख्य धाराओं के सुसंगत विवरण के लिए ठीक आधार प्रस्तुत करती प्रतीत होती है, लेकिन मैं यह दावा नहीं करता कि यह इस विषय का निर्णयात्मक विवरण है। यह कोई अंतिम रूप से सजा संवरा चित्र नहीं है, बस एक मोटी रूपरेखा है। कतिपय स्रोतों के गहन अध्ययन की काफी गुंजाइश है और ऐसी संभावना भी है कि जिन स्रोतों तक अभी मैं पहुंच नहीं पाया हूं उनके अवगाहन से अतिरिक्त तथ्य सामने आएं। ऐसे स्रोतों के कुछ नमूने पुर्तगाली प्रशासन और जेस्विट मिशनरियों के अभिलेख तथा पूर्व, दक्षिण और पश्चिमी की देशी भाषाओं के साहित्य हैं, इस प्रकार इस काल पर और शोध की व्यापक संभावना है। और इस भावी शोध में से अधिकांश ऐसी होगी जो आज भारतीय विश्वविद्यालयों में अर्थशास्त्र के उभरते अध्ययन केंद्रों के लिए विशेष रूप से उपयुक्त होगी। वैसे इस अध्ययन के स्रोतों का जब तक अधिक सम्यक रूप से अवगाहन न कर लिया जाए तब तक इस कृति के प्रकाशन को रोक रखने के पक्ष में दी गई दलीलों में काफी जोर है, लेकिन मुझे लगता है कि जब तक ये अध्ययन केंद्र इस दिशा में काम शुरू नहीं कर देते तब तक के उपयोग के निमित्त इस विषय की एक मोटी रूपरेखा पेश कर देना शायद

अधिक लाभदायक रहेगा। यह कम से कम उस ढांचे का काम तो करेगी ही जिसमें भावी शोध की उपलब्धियों को सजाया जा सकेगा। इसके अतिरिक्त यह उन विषयों की अनुक्रमणिका के काम भी आएगी जिनके संबंध में और जानकारी अपेक्षित है।

इस पुस्तक के पीछे जो दृष्टिकोण काम करता रहा है उसके संबंध में दो शब्द कह देना आवश्यक है। मैंने उन पाठकों को दृष्टि में रखकर लिखने की कोशिश की है जिन्हें भारत की हरण की परिस्थिति का सामान्य ज्ञान है। इसके अलावा मैंने अतीत को वर्तमान के शीशे से देखने की कोशिश की है। वर्तमान से मेरा मतलब 1910 से 1914 के बीच के समय से है, जिसके बाद प्रथम विश्वयुद्ध के परिणामस्वरूप आर्थिक क्षेत्र में सहसा भारी उथल-पुथल मचाने वाली घटनाएं हो गई। लेकिन कोई तुलनात्मक अध्ययन न प्रस्तुत करना बहुत कठिन है, क्योंकि पूर्ववर्ती काल का वर्णन अतिशयोक्तिपूर्ण किया गया है। भारत की अद्‌भुत क्षमताओं ने पश्चिमी देशों के यात्रियों की कल्पनाशक्ति को गतिमान कर दिया और फलत: सोलहवी सदी की अलंकृत भाषा मे उन्होंने जो कुछ लिखा उसमे प्रयुक्त विशेषणों को यदि हम वही महत्व दें जो आज देते है तो उस युग का बहुत भ्रामक चित्र हमारे सामने आएगा, इस दोष के मार्जन का एकमात्र संभव उपाय यही है कि हम परिमाणों और मात्राओं पर अपना ध्यान केंद्रित रखें, और इस पुस्तक में आद्योपान्त मैं इसी कोशिश मे रहा हू कि आर्थिक जीवनधारा का निर्माण करने वाले विभिन्न तत्वो की संख्या और मात्रा की दृष्टि से मूल्यांकन करूं। इस तरह के राजनीतिक गणित मे भूल के जो खतरे समाए हुए है उन्हें वही लोग अच्छी तरह जानते होंगे जिन्होने इसका प्रयोग करके देखा होगा और मैं इतना आशावादी नहीं हूं कि अपने को इस प्रकार की भूल से बच गया मान लू। ऐसे मूल्याकन का औचित्य यह है कि इससे पाठकों को अतीत को उसके सही परिप्रेक्ष्य मे अधिक निकट से देखने मे मदद मिल सकती है, और यद्यपि यह हो सकता है कि ऐसे मूल्याकन तत्वो से मेल न खाए, किन्तु वे आमतौर पर विचाराधीन परिमाणो की अधिकता या न्यूनता का संकेत देगे और कम से कम इस विषय के एक ऐसे पहलू की ओर तो ध्यान दिलाएगे कि जिसकी इस काल पर लिखने वाले लोकप्रिय लेखक प्राय: पूर्ण उपेक्षा करते आए है। मेरा सिर्फ इतना ही कहना है कि इन मूल्याकनों को तथ्यो के आसपास पहुचने का प्रथम प्रयास माना जाए और जिन पाठकों को वे असभव प्रतीत हो वे मूल स्रोतो का अध्ययन करके उन्हे परखें।

लेकिन जो लोग मेरे इस निवेदन को स्वीकार कर सकते है उन्हे यदि मैं एक छोटी सी चेतावनी न दूं तो यह अनुचित होगा। इस कार्य के अध्ययन मे सामने आने वाली एक कठिनाई यह है कि सामग्री के जिन स्रोतों का उपयोग किया गया है वे कई भाषाओं मे है। मैने अग्रेजी, फ्रासीसी, लेटिन, फारसी और पुर्तगाली भाषाओ मे उनका अध्ययन किया है और पाया है कि जहा अनुवाद उपलब्ध है वहां उनका उपयोग बहुत सावधानी से किया जाना चाहिए। जहा साधारण प्रयोजनो के लिए वे बहुत सही हो सकते है वही यह भी संभव है कि वे शब्दों के तकनीकी अर्थ देने मे चूक गए हों, जबकि अर्थशास्त्रियों के लिए यही अर्थ विशेष महत्व रखते है। और अजब नही कि मानक शब्दकोषों मे भी शब्दों के वे अर्थ न दिए गए हो जिन अर्थो में सोलहवी सदी के लेखकों ने उनका प्रयोग किया। इसलिए अच्छा यह होगा कि जहा संभव हो वहा मूल पाठ को देखा जाए और अगर इतालवी, स्पेनी और रूसी यात्रियों के वृतान्तों के संदर्भ में मैं स्वयं ही मूल स्रोतों का अध्ययन न कर पाया हूं तो मैं सिर्फ यही निवेदन कर सकता हूं कि मैं इन भाषाओं से

अनभिज्ञ हूं। अनुवादों के बारे में मैंने जो कुछ कहा है वह खासतौर से 'आईन-ए-अकबर' के अंग्रेजी अनुवाद पर लागू होता है। अनुवाद में बहुत से शब्दों की तकनीकी अर्थवत्ता तिरोहित हो गई है और मुझे लगता है कि कम से कम फिलहाल तो इस काल के अध्ययन के लिए फ़ारसी का कुछ ज्ञान आवश्यक माना जाना चाहिए।

जिस विषय का मैंने विवेचन किया है वह काफी व्यापक है और उसके लिए किसी हद तक साहित्य और विज्ञान के अपरिचित क्षेत्रों का भी अवगाहन करना पड़ा है। मैंने जिन लोगों से भी अनुरोध किया, प्रायः सबने हार्दिक सहयोग दिया। इस सहायता के लिए यहां उन सभी मित्रों और अपरिचितों के प्रति आभार प्रकट करना मेरा कर्तव्य है। लंदन स्कूल आफ इकनामिक्स की श्रीमती सी० एम० नोल्स, किऊ के सट डेविड प्रेन और डा० स्टाफ ब्रिटिश संग्रहालय के डा० बारनेट, मर्टन कालेज (आक्सफोर्ड) के श्री पी० एस० एलेन, नौसैनिक वास्तुविदों के संस्थान के सेक्रेटरी श्री आर० डब्ल्यू डाना, मैनचेस्टर के श्री जे० एच० डिकिसन और मैनचेस्टर व्यापार मंडल के भारतीय विभाग के अवैतनिक सेक्रेटरी श्री एफ० लाउडर मेरे धन्यवाद के पात्र हैं, जिस सेवा का मैं सदस्य था (और प्रसंगवश बता दूं कि जिसके विषय में कभी कभी यह कहा जाता है कि उस सेवा की अध्ययन और शोध में अब कोई रुचि नहीं रह गई है) उस सेवा के निम्नलिखित भूतपूर्व और वर्तमान सदस्यो का भी मैं आभारी हूं, सर जार्ज ग्रियर्सन, सर एडवर्ड मैकलेगन, श्री विसेंट स्मिथ, श्री आर० सेवेल, श्री एम० लोंगवर्थ डेम्स, श्री आर० बर्न, श्री ए० सी० चटर्जी और श्री ए० यूसुफ अली। इनके अतिरिक्त भारतीय व्यापार आयुक्त श्री डी० टी० चैडविक ने जिस तत्परता से मुझे अपने ज्ञान का लाभ दिया उसके लिए मैं उनका कृतज्ञ हूं और अंत में भारत कार्यालय (इंडिया आफिस) के श्री डब्ल्यू फास्टर जिस प्रकार बराबर कृपालु रहे उसके लिए मैं उनके प्रति आभार प्रकट करता हूं।

अनुक्रम

1

देश और लोग

देश

इस पुस्तक में अकदर के शासन काल की समाप्ति के समय की भारतीय अर्थव्यवस्था की रूपरेखा प्रस्तुत करने का मैं प्रयत्न कर रहा हूं अर्थात यह दिखाने की कोशिश कर रहा हूं कि लोग अपनी आमदनी को कैसे खर्च करते थे और उनकी आमदनी के स्रोत क्या थे। इसके लिए सबसे पहले इंडिया (भारत) शब्द की परिभापा करना आवश्यक है क्योंकि इस शब्द का सदा वही मतलब नहीं रहा है जो आज है। मध्य युग में यदि कोई साधारण यूरोपीय इंडिया या इंडीज के विषय मे कभी सोचता भी था तो मोटे तौर पर यही सोचता था कि सीरिया के पश्चिम में स्थित कोई ऐसा क्षेत्र है जहां से हमें तरह-तरह की कीमती चीजें और खास कर खाना बनाने में इस्तेमाल किए जाने वाले मसाले प्राप्त होते हैं। भौगोलिक खोजों की प्रगति के साथ-साथ कालांतर में इंडीज को पूर्व और पश्चिम के दो भागों में बंटा माना जाने लगा और धीरे-धीरे इंडिया (भारत) शब्द का प्रयोग (कम से कम अंग्रेजी भाषा में) सिर्फ पूर्व वाले हिस्से के लिए होने लगा। इस हिस्से में आमतौर पर फारस की खाड़ी से मलय प्रायद्वीप तक के क्षेत्र शामिल समझे जाते थे। भूगोलवेत्ताओं ने आगे इस क्षेत्र को और भी कई हिस्सों में विभाजित कर दिया। आम तौर पर सिंधु और गंगा के मुहानों को विभाजक बिंदु माना गया। इस तरह जो भाग बने उनमें से एक वह भी था जिसके लिए सोलहवीं सदी के कुछ लेखकों ने अंग्रेजी के सेकेंड (द्वितीय) इंडिया या मिड्ल (मध्य) इंडिया शब्द का प्रयोग किया है। अतएव इस मध्य भारत या द्वितीय भारत से मोटे तौर पर उसी क्षेत्र का बोध होता है जिसे आज हम भारत कहते हैं, लेकिन पुर्तगालियों और उनके तत्वावधान में देश की यात्रा करने वाले कुछ अन्य देशों के लोगों ने इस शब्द का प्रयोग अत्यंत संकुचित अर्थ में किया। उनके लिए भारत का मतलब मुख्यत: पश्चिमी तट और उसके ठीक पीछे का कुछ क्षेत्र था। फलत: हमें सिंध से इंडिया (भारत) और इंडिया (भारत) से बंगाल की यात्राओं के वृत्तांत देखने को मिलते है। इसलिए इस श्रेणी के लेखकों के मन में बैठे सही अर्थ को समझने के लिए हमें सावधानी से काम लेना होगा। इस पुस्तक में मैं भारत शब्द का प्रयोग उसके आधुनिक और परिचित अर्थ में कर रहा हूं। भारत शब्द से समुद्र से लेकर हिमालय पर्वतमाला तक फैले क्षेत्र का बोध होता है, जिसका विस्तार पश्चिम में बलूचिस्तान से और पूर्व में चटगांव के आसपास के इलाके से आगे नहीं जाता था। आधुनिक ब्रिटिश भारतीय साम्राज्य में बर्मा भी शामिल है, लेकिन सोलहवीं सदी में उस क्षेत्र में भारत से सर्वथा स्वतंत्र अनेक राज्य थे, जिनमें से प्रत्येक एक राजा के अधीन था। अपने प्रयोजन के लिए मैंने उस क्षेत्र को विदेश माना है। अस्तु इस पुस्तक का वर्ण्य विषय उस देश का आर्थिक जीवन है जिसकी सीमाओं

का मैंने ऊपर संकेत दिया है या मोटे तौर पर कहूं तो इसका संबंध देशी राज्यों सहित आधुनिक भारतीय साम्राज्य से है, जिसमें वर्मा शामिल नहीं है।[1]

जिस काल के बारे में मैं लिख रहा हूं उसमें भारत का एक बड़ा हिस्सा उत्तर के मुगल साम्राज्य, दक्षिण के हिंदू शासन और दकन के मुस्लिम राज्य के अधीन था। इस काल में हिंदू शासित क्षेत्रों को विजयनगर साम्राज्य की संज्ञा दी जाए तो अनुचित न होगा। यह सच है कि 1565 ई० में तालीकोट की लड़ाई में इस साम्राज्य की सैनिक शक्ति छिन्न-भिन्न हो गई थी, लेकिन साम्राज्य का जो भी हिस्सा शेष रह गया था उस पर शासक वंश की प्रभुसत्ता कायम थी और अकबर की मृत्यु के कुछ समय वाद तक नरसिंग नाम से हमें इस साम्राज्य का उल्लेख मिलता है। हालांकि यह प्रभुसत्ता नाममात्र की थी और साम्राज्य के अधिकारी तथा स्थानीय शासक काफी हद तक स्वतंत्र थे और वे अपनी शक्ति बढ़ाने और अपने अधीनस्थ क्षेत्रों का विस्तार करने में लगे रहते थे। दकन के मुस्लिम राजाओं ने अभी मुगलों की अधीनता पूरी तौर पर स्वीकार नहीं की थी। अकबर के शासन के अंतिम वर्षो में उनमें से एक राज्य अहमदनगर के बारे में दावा किया गया कि वह मुगल साम्राज्य का एक प्रांत है, लेकिन कुछ ही वर्षो वाद वह फिर स्वतंत्र हो गया। दूसरा राज्य था खानदेश, जो आंशिक रूप से निश्चय ही मुगल साम्राज्य में शामिल किया जा चुका था। शेष तीन राज्य गोलकुंडा, बीजापुर और बीदर अलग-अलग स्वतंत्र राज्य थे।

मुगल साम्राज्य, जिसमें प्रायः भारत का शेष सारा हिस्सा शामिल था, तव तक नया था। 1565 ई० में जब अकबर गद्दी पर बैठा उस समय आगरा, पेशावर के और आधुनिक अफगानिस्तान के मध्यवर्ती क्षेत्र में स्थित देश के कुछ हिस्सों पर उसका अधिकार था, मगर सुदृढ़ नही हो पाया था। उसके लंबे शासन काल में जो प्रदेश जीते गए वे शासन काल की समाप्ति तक भी मुगल साम्राज्य के अभिन्न अंग नही बने थे। प्रशासन की उस समय जो स्थिति थी उसकी तुलना कभी-कभी ब्रिटिश साम्राज्य के भारतीय प्रांतों और देशी राज्यों के मिश्रित संबंधों से की जाती है, लेकिन यह तुलना ठीक नहीं है। मुगलकालीन प्रशासन का मुख्य उद्देश्य भूमि कर वसूल करना था और इस काल का प्रशासनिक आदर्श यह था कि सम्राट या उसके अमले सीधे किसानों से राजस्व की उगाही करें, लेकिन इस आदर्श पर वरावर अमल नहीं हो पाता था और साम्राज्य के विभिन्न हिस्सों में स्थानीय प्रशासन को हम उन लोगों के हाथों में देखते हैं, जिन्हें जमींदार कहा जाता रहा है। अकबर के शासन काल के लेखकों ने इस शब्द का प्रयोग जिस अर्थ में किया है वह आज से कुछ भिन्न है, लेकिन यह मानना गलत होगा कि इन जमींदारों की स्थिति आजकल के नरेशों या सरदारों की सी थी। दरअसल इस शब्द से जागीरदार या सरकारी अधिकारी को छोड़ कर उन सभी वर्गो का वोध होता था जो किसानों और सम्राट के बीच आते थे चाहे वह आधुनिक जमींदार जैसा हो, चाहे एक सरदार या वागी; कभी-कभी तो इस शब्द से स्वतंत्र राजा का भी वोध होता था। अकबर का शासन वेहद व्यावहारिक था। जो सरदार या राजा सम्राट की अधीनता स्वीकार करके उसे उचित राजस्व देने को तैयार हो जाता था उसे अपनी सत्ता कायम रखने दिया जाता था और जो हठी या विद्रोही होता

1. जिन प्रमाणों को आधार मानकर मूल पुस्तक में वक्तव्य दिए गए हैं उसकी सूची प्रत्येक अध्याय के अंत में दे दी गई है।

था उसे मार डाला जाता था अथवा कैद कर दिया जाता था या अपने क्षेत्र से भगा दिया जाता था और उसका इलाका सम्राट के नियंत्रण में ले लिया जाता था। इसलिए जमींदारों का होना अपने आप में किसी निश्चित संवैधानिक व्यवस्था का द्योतक नहीं है। हमें गंगा के मैदान में भी जमींदारों के अस्तित्व के प्रमाण मिलते हैं, यद्यपि इस क्षेत्र में अकबर की सत्ता भली भांति प्रतिष्ठित थी। इसी तरह सीमांत क्षेत्रों में भी, जहां अकबर का शासन नाम मात्र को था, उनके अस्तित्व का सबूत मिलता है। और उसके शासन काल में राजपूताना तथा इलाहाबाद और बनारस के दक्षिण में स्थित पहाड़ी प्रदेशों में भी हमें जमींदार मिलते हैं जहां मुगल प्रशासन को परिस्थिति से मजबूर होकर एक संदिग्ध स्थिति स्वीकार कर लेनी पड़ी थी। इन जमींदारों का अस्तित्व हमें इस तथ्य का स्मरण दिलाता है कि मुगल साम्राज्य कोई समरूप और सुगठित इकाई नहीं था और यदि व्यक्तियों की स्थिति की विशद जानकारी हमें होती तो साम्राज्य का जो चित्र हमारे सामने आता उसमें शायद यह देखने को मिलता कि भूस्वामियों से लेकर छोटे-छोटे शासकों के बीच जमीन पर तरह-तरह के अधिकार रखने वाली कई श्रेणियां हैं; और ये छोटे-छोटे शासक किसी न किसी संधि की शर्तों के अनुसार सम्राट की अधीनता तो स्वीकार करते हैं, किंतु इन्हें आपस में जोड़ने वाली एक ही चीज है कि ये सम्राट को राजस्व या नजराना देते हैं।

इन मुख्य हिस्सों के अलावा देश भर में अनेक छोटे-छोटे राज्य बिखरे पड़े थे, जिनमें से कुछ आर्थिक दृष्टि से बड़े महत्वपूर्ण थे। विजयनगर साम्राज्य की शक्ति अब अधिकांशतः मध्यवर्ती हिस्सों तक सीमित थी और पश्चिमी तट के आसपास की राजनीतिक स्थिति बहुत उलझी हुई थी। गोआ तथा अन्य बस्तियों में पुर्तगालियों ने अपनी प्रभुसत्ता स्थापित कर ली थी। जलदस्युओं के सरदार, जिनकी स्थिति का वर्णन आगे के एक अध्याय में किया जाएगा, किसी का प्रभुत्व नहीं मानते थे। कालीकट का जमोरिन भी स्वाधीन था और कभी पुर्तगालियों से संधि रखता था तो कभी खुली शत्रुता, लेकिन जलदस्युओं के समुदायों को छिपे तौर पर बराबर समर्थन देता रहता था। पूर्वी तट पर स्थिति अपेक्षाकृत अधिक स्थिर थी, यद्यपि पुर्तगालियों ने विजयनगर के कुछ क्षेत्रों पर व्यवहारतः अधिकार कर लिया था। और उत्तर में गोलकुंडा और उड़ीसा के मुगल प्रांतों के बीच हमें कुछ छोटे-छोटे हिंदू राज्यों का अस्तित्व भी मिलता है।

उत्तर भारत में इस समय मुगल साम्राज्य से पृथक राज्यों का अस्तित्व आमतौर पर नाममात्र को ही था। जो जमींदार मुगलों को राजस्व देता था वह स्पष्टतः पराधीन था और अगर वह अपनी प्रभुसत्ता स्थापित करना चाहता था तो सबसे पहले राजस्व देने से या तो खुल्लमखुल्ला इनकार कर देता था या राजस्व देना बंद कर देता था। लेकिन राजस्व देना बंद करने के और भी कारण हो सकते थे, और यह संभव है कि राजपूताना, मध्य भारत और छोटा नागपुर में बहुत से सरदारों और कबीलों की स्थिति ऐसी रही हो जिसे आजकल के संवैधानिक विधिवेत्ता विधान विरुद्ध मानें। वे कभी निर्धारित राजस्व अदा कर देते थे तो कभी खुल्लमखुल्ला विद्रोह कर देते थे और कभी-कभी व्यवहारतः महज इसलिए स्वतंत्र हो जाते थे कि उन्हें दबाने के लिए आवश्यक कार्रवाई करना मुगलों के लिए असुविधाजनक होता था। लेकिन यहां स्थिति का जो एक सामान्य वर्णन किया गया है उसका अपवाद ब्रह्मपुत्र की घाटी में स्थित कूच

राज्य था, जिस पर मुगलों ने कभी दावा नहीं किया।

इस अध्याय के आरंभ में जो मानचित्र दिया गया है उसमें मैंने इन छोटे-छोटे राज्यों में से कुछ को ही दिखाया है और बड़े-बड़े क्षेत्रों की सीमाओं को भी बहुत निश्चयात्मक रूप से दिखाने का प्रयत्न नहीं किया है। दरअसल इन क्षेत्रों की सीमाएं अक्सर अस्पष्ट रहीं और कई क्षेत्रों के बारे में तो कहा जा सकता है कि सीमाएं एकदम अनिश्चित थीं। एक ही क्षेत्र पर एक साथ दो पक्ष दावा करते थे और उस पर कभी एक अपने क्षेत्राधिकार का प्रयोग करता था तो कभी दूसरा। मुगल साम्राज्य की सीमाओं पर सरसरी तौर पर निगाह डालने से यह बात स्पष्ट हो जाएगी और उससे पाठकों को इस काल की राजनीतिक स्थिति को समझने में मदद मिलेगी। अकबर के साम्राज्य के पश्चिमी भाग में आधुनिक बलूचिस्तान का कुछ हिस्सा शामिल था, लेकिन मैं जितने स्रोतों को देख सका हूं उनमें से किसी मे इस बात का कोई निश्चित संकेत नहीं मिलता कि उसके वास्तविक क्षेत्राधिकार की पश्चिम में क्या सीमा थी। उत्तर में उसके साम्राज्य में अफगानिस्तान का दक्षिणी हिस्सा भी शामिल था, लेकिन यात्रियों के वृत्तांतों से पता चलता है कि सिंध के पश्चिम में स्थित पहाड़ी प्रदेश आज की ही तरह न्यूनाधिक स्वतंत्र थे और मुगल सत्ता दर्रो से होकर गुजरने वाले काफिलों को मार्ग में सुरक्षा देने के प्रयास के अतिरिक्त कुछ नहीं कर पाती थी। कश्मीर के दक्षिणी हिस्से पर उनके शासन की पकड़ काफी मजबूत थी और यह बात शायद दक्षिणी कुमाऊं पर भी लागू होती है, लेकिन इस पर्वतीय क्षेत्र के बहुत बड़े हिस्से पर उनका कोई वास्तविक नियंत्रण नहीं था। कुमाऊं से पूर्व की ओर चलें तो साम्राज्य की सीमा, कम से कम व्यवहार में ब्रह्मपुत्र की घाटी तक हिमालय के जंगलों का स्पर्श करती थी और यहां से कूच राज्य और टिपरा पहाड़ी के कबीलों के क्षेत्र से गुजरती हुई दक्षिण की ओर मुड़ जाती थी। इससे आगे विभिन्न स्रोतों को देखने से अलग-अलग निष्कर्ष निकलते है, लेकिन इसमें बहुत कम संदेह जान पड़ता है कि चटगांव मुगल साम्राज्य से बाहर था और अकबर के क्षेत्राधिकार की वास्तविक सीमा मेघना का मुहाना था। साम्राज्य की सीमा-रेखा समुद्र तट का स्पर्श करती हुई मेघना से पुरी के थोड़ा दक्षिण तक चलती थी, जहां से वह पश्चिम की ओर मुड़ कर भारतीय प्रायद्वीप के आरपार बंबई तक पहुंचती थी। महानदी और गोदावरी के बीच की स्थिति अस्पष्ट है। इस क्षेत्र के कुछ सरदार निश्चय ही स्वतंत्र थे, जबकि दूसरे साम्राज्य को कर देते थे। यानी इस भाग की सीमा रेखा का अनुमान ही किया जा सकता है। इसके बाद यह सीमा गोदावरी के साथ-साथ अहमदनगर तक जाती थी और आगे सूरत और बंबई के बीच समुद्र तट तक पहुंचती थी। लेकिन भारत के इस हिस्से में साम्राज्य का विस्तार जारी था और जैसा कि ऊपर बताया गया है, सबसे ताजा जीते गए क्षेत्रों को अभी पूरी तरह से साम्राज्य का अंग नहीं बनाया जा सकता था।

सीमाओं से संबंधित अनिश्चितता, जिसके कुछ उदाहरण यहां दिए गए हैं, मुख्यतः राजनीतिक इतिहास के लेखकों की दिलचस्पी का विषय है, और अभी हमें इसका जितना ज्ञान प्राप्त है उसको देखते हुए यह नहीं कहा जा सकता कि इन सीमाओं का आर्थिक दृष्टिकोण से कोई विशेष महत्व था। सोलहवी सदी के पूर्वार्ध में विजयनगर के संबंध में हमें प्रायः पूरी जानकारी प्राप्त है। दकन के गोलकुंडा और बीजापुर राज्यों के जीवन का भी कुछ ज्ञान है। मैं नहीं कह सकता कि इनमें से किसी भी राज्य का जीवन

अकबर के साम्राज्य में सम्मिलित क्षेत्रों के जीवन से कोई विशेष भिन्न था। प्रशासन के स्तर में स्थान और काल के अनुसार अंतर देखा जा सकता था, लेकिन प्रशासन का ढांचा सर्वत्र मूलतः एक सा था और उसके अंतर्गत लोगों के लिए जितनी अच्छी तरह रहना संभव था, रहते थे। इसलिए मैं हर क्षेत्र का वर्णन अलग से करने की कोशिश नहीं करूंगा। इस काल की विशेषता विभिन्नता के बजाय एकरूपता है और उपलब्ध सामग्री का उपयोग भारत को समग्रतः लेते हुए उसकी स्थिति की एक मोटी रूपरेखा पेश करने के लिए ही किया जा सकता है।

अस्तु, राजनीतिक सीमाओं के विवरण को यहीं समाप्त करते हुए अब हम यह देखें कि अकबर की मृत्यु के समय ऊपरी तौर पर भारत की क्या स्थिति थी। मैं तो यह कहूंगा कि स्थिति बहुत कुछ वैसी ही थी जैसी आज है। अलबत्ता, कुछ महत्वपूर्ण अंतर ध्यान में रखने चाहिए। तब रेलमार्ग नहीं थे, पंजाब और संयुक्त प्रांत में आज नहरों का जो जाल बिछा हुआ है वह भी नहीं था, और आज की तरह पक्की सड़कें भी नहीं थीं, हालांकि थलयात्रा के मुख्य मार्ग भली भांति निर्धारित थे और कुछ मार्गों के दोनों ओर पेड़ लगे हुए थे और कहीं-कहीं सरायें भी बनी हुई थीं, जिनमें यात्री और सौदागर अपेक्षाकृत निरापद रातें बिताते थे। कम से कम उत्तर भारत के कुछ मार्ग तो गाड़ियों के चलने लायक अवश्य थे और इन पर कभी-कभी बैलगाड़ियों की लंबी कतारें आगे बढ़ती देखी जा सकती थीं। लेकिन गोलकुंडा से दक्षिण कन्याकुमारी तक गाड़ियों का उपयोग लगभग नहीं होता था, और भारवाही जानवर या आदमी ही परिवहन के साधन थे। नौका-चालन के लिए उपयुक्त नदियां—जैसे सिंधु, गंगा और यमुना—इस काल की महत्वपूर्ण परिवहन मार्ग थीं और इनके जरिये पूरे उत्तर भारत में भारी माल की ढुलाई बड़े पैमाने पर होती थी। बंगाल के जलमार्गों का उपयोग तब शायद आज की अपेक्षा भी अधिक होता था। आज की बनिस्बत जंगल तो ज्यादा थे ही, लेकिन यह बात भारत के सभी भागों पर लागू नहीं होती। कुछ हिस्सों में जंगलों की अधिकता थी और ऐसे हिस्सों में जिन ग्राम समूहों का उल्लेख मिलता है उनके बारे में ऐसा माना जा सकता है कि वे जंगलों को साफ करके बसाए गए थे, लेकिन बंगाल, गुजरात और गंगा के मैदान के ऊपरी हिस्से जैसे अन्य क्षेत्रों में अधिकांश जमीन पर नियमित रूप से खेती होती थी और जंगलों का विस्तार आज से ज्यादा होते हुए भी खेती की जमीन की तुलना में कम था। उत्तर भारत की धरती के स्वरूप के संबंध में एक बात विशेष ध्यान देने योग्य है: पहाड़ों की तराइयों में उगे जंगल संयुक्त प्रांत और बिहार के आज से कहीं अधिक बड़े क्षेत्रों में फैले हुए थे और जहां नियमित और स्थायी तौर पर खेती होती थी ऐसे क्षेत्रों की सीमा मोटे तौर पर बरेली, गोरखपुर और मुजफ्फरपुर से कुछ उत्तर की ओर एक रेखा खींच कर दिखाई जा सकती है। जंगल थे, तो अनिवार्यतः उनमें हिंस्र पशु भी होंगे। गंगा और यमुना के दक्षिण में स्थित पहाड़ी क्षेत्रों में हाथियों के झुंडों का सामना हो जाना आम बात थी। मालवा प्रदेश में सिंहों का शिकार किया जा सकता था। गोगरा में गैंडे पाए जाते थे और गंगा के मैदानी इलाके में कभी-कभी शेरों का शिकार किया जाता था। राजधानी आगरा के पास और शायद अन्य प्रशासनिक केंद्रों के आसपास भी विस्तृत शिकारगाहों की व्यवस्था थी। जहांगीर ने अपने संस्मरणों में लिखा है कि उसके शिकारगाह में कुरंग जाति के हिरणों की संख्या इतनी अधिक हो गई थी कि वे खेतों में चले आते थे, लेकिन उन्हें कोई किसी प्रकार

से नुकसान नहीं पहुंचा सकता था।

आबाद क्षेत्रों की सामान्य अवस्था बहुत कुछ आज की सी ही रही होगी। खेतों में आमतौर पर बाड़ नहीं लगी होती थी। तत्कालीन अंग्रेज यात्री इसे 'चेंपियन लैंड' कहते थे। जो फसलें आज उगाई जाती हैं और जो पेड़ आज लगाए जाते हैं उन्हें, कुछ मामूली अपवादों को छोड़ कर, तब भी देखा जा सकता था। और फसलों तथा पेड़ों के अलावा उस काल की दृश्यावली में कोई विशेष ध्यान देने योग्य वस्तु दिखाई नहीं देती। आज के गांवों में भी तब की तुलना में शायद बहुत कम परिवर्तन आए हैं। आज बंगाल तथा देश के कुछ अन्य भागों में लोहे की चद्दरों की जो छतें देखने को मिलती हैं वे तो उन दिनों नहीं थी, लेकिन मिट्टी या खप्पचियों की दीवारों, खपड़ैल की छतों या फूस के छप्परों से बने घर सर्वत्र देखे जा सकते थे। इस काल के जिन यूरोपियनों को इन घरों में अस्थायी तौर पर आतिथ्य स्वीकार करने का अवसर मिला उन्होंने इनमें स्थान और फर्नीचर की कमी की शिकायत की है। कस्बों और नगरों के संबंध में शायद अधिक परिवर्तन देखने को मिलें। कलकत्ता और बंबई, कानपुर और करांची सब अकबर की मृत्यु के बाद नगरों के रूप में आबाद हुए हैं, और आधुनिक मद्रास के स्थान पर तब सिर्फ मैलापुर और एस० टोम के शहरी क्षेत्र थे। विजयनगर और कन्नौज जैसे प्राचीन राजधानी नगर पहले से ही ह्रासोन्मुख थे। जौनपुर जैसे नगरों का पूर्ववर्ती महत्व अभी अंशतः कायम था, और उधर सबसे नया राजधानी नगर फतहपुर सीकरी अपनी स्थापना के कुछ ही वर्ष बाद उजड़ चुका था। मुगल राजधानी आगरा, दकन राज्यों की राजधानियां गोलकुंडा, बीजापुर, मुलतान और लाहौर, दिल्ली, इलाहाबाद, पटना, उज्जैन, अहमदाबाद, अजमेर जैसे प्रांतीय शासन केंद्र बड़े-बड़े और घनी आबादी वाले नगर थे। यूरोपीय यात्रियों को उनमें से सबसे बड़े नगरों की तुलना अपनी जानकारी के सबसे बड़े यूरोपीय नगरों लंदन, पेरिस या कुस्तुंतुनिया से करने में कोई झिझक नहीं होती थी। इन भारतीय नगरों में आमतौर पर आज की तरह 'आवास क्षेत्र' अलग ही होते थे। उनके घरों के बाहर सामान्यतः काफी बड़े बगीचे होते थे, लेकिन परिवार चारदीवारियों के अंदर ही रहते थे और कारोबार के स्थान भी भीतर ही हुआ करते थे। इनमें से कुछ घर तो बहुत बड़े और आरामदेह होते थे, हालांकि बाहर से देखने में वे ऐसा आभास नहीं देते थे। फादर मान्सरेट, जिसने सूरत से आगरा तक की यात्रा की थी और लाहौर से होते हुए काबुल तक की यात्रा में अकबर के कारवां के साथ था, जो कुछ देखा उसका निचोड़ इन शब्दों में दिया है: '(भारत के) नगर दूर से आकर्षक दीखते हैं, लेकिन अंदर पहुंचने पर जब तंग गलियां और रेलेपेल करती भीड़ पर नजर जाती है तो उनकी सारी भव्यता खत्म हो जाती है। घरों में खिड़कियां नहीं हैं। अमीरों के घरों की चारदीवारियों के अंदर बगीचे, तालाब और फव्वारे होते हैं, लेकिन बाहर से आंखों को अच्छी लगने वाली कोई चीज दिखाई नहीं देती। आम लोग झोंपड़ियों में रहते हैं। एक नगर को देख लेने का मतलब है सबको देख लेना।' यह वर्णन मूलतः आज के भी उन नगरों पर लागू होता है, जिन्हें नगर योजना विशेषज्ञों ने नहीं संवारा है या जिनमें आंग्ल-भारतीय पद्धति पर आवास क्षेत्रों का विकास नहीं किया गया है।

यहां दो शब्द भारत के पड़ोसियों के बारे में भी कहे जा सकते हैं। पश्चिम में फारस इन दिनों एक शक्तिशाली राज्य था, लेकिन तुर्कों से उसकी लड़ाई थी, क्योंकि तुर्क दक्षिण और पूर्व की ओर अपने क्षेत्रों का विस्तार कर रहे थे और अरब सागर के तट

तक उनका प्रभुत्व कायम हो चुका था। पश्चिमोत्तर में बुखारा राज्य था, जिसके फारस की तरह भारत से अच्छे संबंध थे। तत्कालीन तिब्वत के बारे में अस्पष्ट किस्से-कहानियों के अलावा कुछ जानकारी नहीं मिलती। वैसे बंगाल और चीन के बीच एक कारवां मार्ग का भी प्रमाण मिलता है, लेकिन इस काल में उसके वास्तविक उपयोग का कोई सबूत मुझे नहीं मिलता और आगरा से चीन जाने वाले यात्रियों को काबुल होकर मध्य एशिया के मुख्य पूर्वी-पश्चिमी मार्ग से जाने की सलाह दी जाती थी।[1] बंगाल के पूर्व में अराकान और दक्षिण-पूर्व में पेगू राज्य थे, जो आधुनिक बर्मा के अधिकांश क्षेत्रों में फैले हुए थे। लगातार कई विनाशकारी लड़ाइयों के कारण पेगू इन दिनों उजड़ सा गया था, लेकिन अराकान समृद्ध था, और उसके राजा का वर्णन मुगलों के बाद सबसे शक्तिशाली राजा के रूप में किया जाता था (जिसमें कुछ अतिशयोक्ति भी हो सकती है), वैसे स्थल मार्ग से अराकान और भारत के बीच का यातायात नहीं के बराबर था। गरज यह कि फारस और बुखारा को छोड़ कर अन्य देशों के साथ भारत के संपर्क का साधन स्थल मार्ग की बजाय जल मार्ग था और चूंकि इस संपर्क का संबंध मुख्यतः व्यापार से था, इसलिए उसका वर्णन तद्विपयक अध्याय में करना अधिक समीचीन होगा।

जनसंख्या

कहने की जरूरत नहीं कि सोलहवीं और सत्रहवीं सदी में भारत की जनसंख्या की जानकारी देने वाला कोई दस्तावेज मौजूद नहीं है। मैंने ऐसा कोई दस्तावेज नहीं पढ़ा है जिसे किसी भी अर्थ में भारत के किसी हिस्से की जनगणना से संबंधित कहा जा सके। हमारी जानकारी के स्रोत मुख्यतः व्यक्तिगत तुलनात्मक तखमीने हैं। इनमें भारी भूलों की गुंजाइश है। इसी काल के यूरोप के संबंध में इस तरह के जो तखमीने लगाए गए, उनमें जितनी गलतियों की संभावना है, उनसे कहीं अधिक गलतियां भारत के संदर्भ में संभावित हैं। भारतीय वृत्त लेखकों के लेखन से इस प्रश्न पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता, क्योंकि उनके पास तुलना का कोई मापदंड नहीं था। देश के विभिन्न भागों की आबादी के तुलनात्मक घनत्व के संबंध में थोड़ी बहुत जानकारी के अलावा उनसे और किसी बात का पता नहीं चलता। उनसे मैंने जिस प्रकार के तथ्य प्राप्त किए हैं उसका ठीक नमूना एक किंवदंती है, जिसका उल्लेख सत्रहवीं सदी के उत्तरार्ध के इतिहासकार एम० डे० फारियां वाई सूजा ने किया है। उसके अनुसार, : 'इन मूर्तिपूजकों का कहना है कि ईश्वर ने पांच राज्यों को ये वरदान दिए—बंगाल को असंख्य पांव, ओरिक्सा को हाथी, बिसनगर को ढाल-तलवार के प्रयोग में कुशल लोग, दिल्ली को बहुत से शहर और कू को असंख्य घोड़े।'[2]—यूरोपीय यात्रियों के कथनों से कुछ और जानकारी भी प्राप्त की जा सकती है, बशर्ते कि हम तुलना के उस मापदंड का पता लगा सकें जो उनके मन में था। यह मापदंड किसी हद तक अनिश्चित ही होगा, क्योंकि जनगणना का चलन अभी यूरोप में भी नहीं हो पाया था, और परवर्ती अध्येताओं ने जनसंख्या के बारे में जो अनुमान लगाए हैं वे आपस में मेल नहीं खाते। यह कहना शायद किसी हद तक ठीक होगा कि जिस काल के बारे में मैं लिख रहा हूं उस काल में फ्रांस की आबादी आज की तुलना में लगभग आधी थी और इंग्लैंड की तो शायद आठवां हिस्सा ही रही होगी। अगर यह मान लिया जाए कि कुल मिला कर पश्चिमी यूरोप की स्थिति इन दो दूरवर्ती सीमाओं के बीच की थी तो हमें मोटे तौर पर इस बात का अंदाजा मिल जाता है कि

यूरोपीय यात्री जब पूर्वी देशों के बारे में कहते हैं कि अमुक स्थान की आबादी घनी है या अमुक की विरल है तब उनका आशय क्या होता है। उनकी बातों का मतलब यह नहीं होता कि भारत की आबादी आज के यूरोप के मापदंड से देखने पर अधिक या कम थी, बल्कि यह होता है कि उस समय के यूरोप की तुलना में कम या ज्यादा थी जब उसकी आबादी आज की अपेक्षा आधी से तो निश्चय ही बहुत कम थी।

इस मापदंड से देखें तो इसमें कोई संदेह नहीं कि कम से कम दो सदियों तक विजयनगर क्षेत्र की आबादी बहुत घनी थी। सन 1400 के शीघ्र बाद लिखते हुए कोन्टी कहता है : 'लोगों की संख्या इतनी अधिक है कि विश्वास नहीं होता।' लगभग उसी काल में फारस के विजयनगर स्थित राजदूत अब्दुर्रज्जाक ने लिखा कि साम्राज्य की आबादी इतनी अधिक है कि उसका अंदाजा लगा पाना असंभव है। उसके एक सदी बाद पाइस ने लिखा कि नगरों, कस्बों और गांवों से भरा यह पूरा देश बहुत ही घना आबाद है। 1540 में अकाल पड़ा, जिसकी विभीषिका कोरोमंडल तट पर सबसे प्रबल रूप से प्रकट हुई। उस अकाल के बाद जनसंख्या में अस्थाई तौर पर कुछ कमी अवश्य आई होगी, लेकिन अगले साठ वर्षों तक मुझे ऐसी किसी और विपत्ति का कोई प्रमाण नहीं मिला है और 1597 के आसपास जेसुइट मिशनरियों के कथनों से प्रकट होता है कि जो वर्णन पाइस ने किया वह तब भी लागू होता था। मन्नार के मोती मछलीगाह में लगभग 60,000 की भीड़ का उल्लेख मिलता है, और पिमेंटा और साइमन सा के विवरण से प्रकट होता है कि वह अनेक शहरों वाला और सब जगह आबादी से भरा पूरा देश था। जहां तक पश्चिमी घाटों के नीचे के तंग भूभाग का संबंध है, यह मानना पड़ेगा कि वहां की आबादी भी बहुत घनी थी, क्योंकि डिकाडास में जिन तथ्यों का उल्लेख है उनसे यही निष्कर्ष निकलता है और यूरोपीय लेखकों में से बारबोसा इसकी पुष्टि करता है।

दकन के राज्यों के संबंध में इस काल से सीधा संबंध रखने वाले बहुत कम तथ्य उपलब्ध हैं। पंद्रहवीं सदी के रूसी भिक्षु निकितिन ने छोटे-छोटे शहरों की संख्या के बारे में लिखा है और कहा है (बशर्ते कि अनुवाद सही माना जाए) कि 'देश लोगों से ठसाठस भरा हुआ है।' सोलहवीं सदी के दौरान ये राज्य विजयनगर के खिलाफ जम कर लोहा लेते रहे और अंत में इसमें इन्हें सफलता भी मिली। इन लड़ाइयों के लिए अपनी सेनाओं में इन्हें बहुत से सिपाहियों को भरती करना पड़ता होगा, जो तभी संभव था जब हम यह मान लें कि इनकी आबादी बहुत बड़ी रही होगी। अकबर की मृत्यु के आधी सदी बाद फ्रांसीसी यात्री थेवनों ने औरंगाबाद से गोलकुंडा तक घनी आबादी देखी, लेकिन गोलकुंडा से पूर्व मछलीपट्टम तक आबादी काफी विरल थी। टैवर्नियर की दकन यात्राओं के वृतांतों से आबादी के घनेपन का आभास मिलता है, और हीरे की खानों के क्षेत्रों में भीड़ का उसने जो वर्णन किया है उससे प्रकट होता है कि देश के इस हिस्से में मजदूरों की कमी नहीं थी।

जहां तक मुगल साम्राज्य का संबंध है, कुछ मार्गों पर यात्रा करने वाले लोगों ने प्रसंगवश जो बातें कही हैं उनमें से अनेक आपस में मेल खाती हैं। सूरत से आगरा तक की यात्रा के वृतांत को देखें तो पाते हैं कि गुजरात घनी आबादी वाला क्षेत्र था। सूरत के विषय में लिखते हुए डेला वेल कहता है : 'भारत के हर क्षेत्र के भली भांति आबाद नगरों और स्थानों की तरह इसकी आबादी भी बहुत अधिक है।' इसके लेखक

ने इंडिया शब्द का प्रयोग उस सीमित अर्थ में किया है जिस अर्थ में पुर्तगाली किया करते थे लेकिन उसकी बातें गुजरात और पश्चिमी तट पर भी लागू होती हैं। सूरत से बुरहानपुर की यात्रा में फिंच ने एक नगर, सात बड़े कस्बों और अन्य कस्बों का उल्लेख किया है। उसके वृतांत से भी घनी आबादी वाले क्षेत्रों का आभास मिलता है। बुरहानपुर से उत्तर ग्वालियर तक आबादी विरल थी, मालवा के कुछ हिस्से वस्तुतः पूरी तरह से आबाद थे, लेकिन पठार के उत्तर और दक्षिण के क्षेत्रों का अधिकांश भाग प्रायः उजाड़ था। राजपूताना से होकर गुजरने वाले दूसरे मार्ग के इर्द-गिर्द कम से कम अजमेर तक की आबादी विरल थी, और यात्रियों को देश के इस हिस्से में कोई विशेष उल्लेखनीय बात दिखाई नहीं दी। लेकिन आगरा से लाहौर तक का रास्ता बहुत घने आबाद क्षेत्रों में से होकर गुजरता था और यही बात लाहौर से मुलतान तक तथा सिंधु नदी के किनारे भक्कर तक के प्रदेशों पर लागू होती है, किंतु भक्कर के आगे सिंध का अधिकतर भाग रेगिस्तान था। यहां भी रेगिस्तान के आरपार अजमेर से तत्ता तक एक और रास्ता था, लेकिन जैसी कि अपेक्षा की जा सकती थी, इस रास्ते के आसपास के क्षेत्र भी या तो उजाड़ थे या वहां सिर्फ खानाबदोश लोग रहते थे।

आगरा से पूर्व की ओर जाने वाले रास्तों के बारे में हमें बहुत कम जानकारी प्राप्त है। फिंच ने कन्नौज और लखनऊ से होते हुए जौनपुर तक की यात्रा का वर्णन किया है, लेकिन वह देश की अवस्था का कोई विशेष विवरण नहीं देता। किंतु यह जरूर बताता है कि जौनपुर से इलाहाबाद तक का रास्ता लगातार जंगलों से होकर गुजरता था। इस तथ्य के महत्व पर हम आगे विचार करेंगे। इससे कुछ वर्ष पूर्व फिंच ने नदी मार्ग से आगरा से बंगाल तक की यात्रा की थी। इस यात्रा के वृतांत में वह बताता है कि इलाहाबाद से पटना तक का क्षेत्र काफी जनसंकुल था, लेकिन यह बात केवल नदियों के तटवर्ती क्षेत्रों पर ही लागू होती है, और मुझे बिहार तथा आधुनिक संयुक्त प्रांत के पूर्वी इलाकों का कोई और विवरण उपलब्ध नहीं हुआ है।

इस तरह हमें देश के विभिन्न भागों की आबादी के तुलनात्मक घनत्व का एक मोटा अंदाजा मिलता है। हम कह सकते हैं कि समकालीन यूरोप को मापदंड मानकर देखें तो बंगाल, पश्चिमोत्तर मैदान, गुजरात और दक्षिण भारत की आबादी घनी या बहुत घनी थी। जहां तक बड़े-बड़े नगरों का संबंध है हम अपने अनुमान को तथ्यों के कुछ और निकट ले जा सकते हैं। यात्रियों ने भारतीय नगरों की तुलना अपनी जानकारी के अन्य नगरों से की है यद्यपि और ऐसी तुलनाओं में भी भूल की बहुत गुंजाइश है, लेकिन इसी कारण इनकी सर्वथा उपेक्षा नहीं की जा सकती। हम एक आधुनिक उदाहरण लें। आज के किसी ऐसे यात्री से, जिसके पास आंकड़े नहीं हैं, हम यह आशा नहीं कर सकते कि वह उत्तर भारत के नगरों की विशालता का अंतर बता सके। उसे लाहौर और दिल्ली, आगरा और लखनऊ लगभग एक आकार के प्रतीत होंगे। दूसरी ओर एक साधारण समझ वाला आदमी यह लक्ष्य करने में नहीं चूकेगा कि आबादी की दृष्टि से वे सबके सब कलकत्ता या बंबई से बहुत छोटे हैं और जालंधर या सहारनपुर से बड़े हैं। इसलिए हम पूर्ववर्ती काल के यात्रियों के बारे में भी यह मान सकते हैं कि नगरों के पारस्परिक अंतर से संबंधित उनके कथनों में भी कुछ ऐसी ही यथार्थता हो सकती है। मोटे तौर पर कहा जा सकता है कि भारत के बड़े नगरों को उन्होंने पश्चिम के बड़े नगरों की कोटि का ही माना है। जौर्डन का कहना है कि आगरा संसार के सबसे

बड़े नगरों में से था। कोरियट के अनुसार, आगरा कुस्तुंतुनिया से बड़ा था, लेकिन वह लाहौर जितना बड़ा नहीं था। पाइस का कहना है विजयनगर रोम जितना बड़ा था। बर्नियर (विचाराधीन काल के किंचित बाद) कहता है कि दिल्ली पेरिस से कोई विशेष छोटा नहीं था और आगरा दिल्ली से बड़ा था। राल्फ फिंच का कहना है कि आगरा और फतहपुर सीकरी लंदन से बड़े थे। मान्सरेट के मुताबिक लाहौर यूरोप या एशिया के किसी भी नगर से छोटा नहीं था। अन्य यात्रियों ने भी ऐसी ही तुलनाएं पेश की हैं। मगर इस काल के यूरोपीय नगरों की आबादियों की भी ठीक-ठीक जानकारी प्राप्त नहीं है। फिर भी यह कहना उचित जान पड़ता है कि पेरिस की आबादी अधिक से अधिक 4,00,000 रही होगी और यूरोप के किसी भी अन्य नगर की आबादी, 2,00,000 से ज्यादा नहीं थी। इसलिए हम कह सकते हैं कि भारत के बड़े नगरों की आबादी ढाई से पांच लाख के बीच रही होगी और उनमें से किसी की भी आबादी दस लाख तक तो नहीं ही पहुंची थी।[3]

यह निष्कर्ष वैसे तो गोलमोल ही है, लेकिन यह कम से कम उन अतिरंजित धारणाओं को किसी हद तक दुरुस्त करने का काम करेगा जो इस काल में भारत के साथ यूरोप के बढ़ते हुए संपर्क के कारण कायम हुई और जो आज भी पूरी तरह मिट नहीं पाई हैं। सत्रहवीं सदी के मध्य में लिखते हुए थेवेनो ने इन धारणाओं में से कुछ की यथार्थता की जांच करने के लिए ऐसे लोगों से पूछताछ भी की जिनके पास तथ्यों की जानकारी होने की संभावना थी, और उसके निष्कर्ष ऊपर व्यक्त मेरे विचारों से आमतौर पर मेल खाते हैं। भारत के कदाचित सबसे बड़े नगर आगरा के बारे में वह लिखता है कि एक बड़े नगर के अनुरूप ही वहां की आबादी बहुत बड़ी थी, लेकिन उन दिनों प्रचलित इस धारणा में अतिरेक था कि जरूरत पड़ने पर आगरा दो लाख शस्त्रधारी पेश कर सकता था। नगर के बगीचों के विस्तार का अंदाजा बाहर से देख कर नहीं लगाया जा सकता था। सड़कें इतनी तंग थीं कि जब शाही दरबार वहां मौजूद होता था तब वे भीड़ से भरी होती थीं, हालांकि और समय खाली रहती थीं। इसी प्रकार, दिल्ली के संबंध में लिखते हुए भी वह दरबार से संबंधित लोगों की संख्या पर जोर देता है। उसका निष्कर्ष है कि दरबार के बिना वह नगर बहुत कम महत्व का था। यदि बादशाह की उपस्थिति में जनसंख्या चार लाख होती होगी तो उसकी अनुपस्थिति में इसके छठवें भाग से भी कम होती थी। सत्रहवीं सदी में प्रचलित अतिरंजनाओं का एक उदाहरण यह कथन है कि बंगाल के गौड़नगर में बारह लाख मकान थे। इसका मतलब तो यह हुआ कि वहां की आबादी आज के लंदन की आबादी के बराबर रही होगी। लेकिन सोलहवीं सदी में पुर्तगाली शब्दकोषकार बैरास ने इसकी आबादी दो लाख बताई, और चूंकि इस काल में इस नगर का कोई खास महत्व नहीं था, इसलिए यह निष्कर्ष निकालना निरापद होगा कि बाद के विवरण में यहां के मकानों की जो संख्या बताई गई वह या तो बिल्कुल अतिरंजित थी या उस संख्या में आसपास की विभिन्न भूतपूर्व राजधानियों के ध्वंसावशेषों को भी शामिल कर लिया गया था। जो भी हो, मुझे ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिल पाया है कि जिसके आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सके कि भारत के किसी भी नगर के स्थायी निवासियों की संख्या पांच लाख भी थी। यह हो सकता है कि आज की ही तरह किसी खास मौके पर बहुत से सैनिकों या तीर्थयात्रियों के एक नगर में एकत्र हो जाने पर कुछ समय के लिए लोगों की संख्या इससे अधिक हो जाती होगी,

लेकिन तुलनात्मक प्रयोजनों के लिए ऐसे मौकों का खयाल न करके ही चलना होगा। आज इलाहाबाद की आबादी दो लाख से कम मानी जाती है और यह गिनती ठीक है, यद्यपि धार्मिक त्यौहारों के अवसर पर यहां दस लाख से भी अधिक लोग एकत्र हो सकते हैं, और पूर्ववर्ती काल में भारतीय नगरों की आबादी का अनुमान लगाने में इस बात का ध्यान अवश्य रखा जाना चाहिए।

इस प्रकार जो विवरण हमारी पहुंच के अंदर है उनके आधार पर नगरों की आबादी की विशालता की एक मोटी रूपरेखा तैयार की जा सकती है। लेकिन ग्रामीण क्षेत्रों की आबादी के घनत्व का प्रश्न ऐसा है कि उसका निर्णय इस तरह के मापदंडों के सहारे नहीं किया जा सकता, और हम इस संबंध में ऊपर जिन गोलमोल निष्कर्षों तक पहुंचे हैं उन्हें यथासंभव यथार्थ के निकट लाने के लिए आवश्यक जानकारी प्राप्त करने के निमित्त हमें अन्यत्र नजर दौड़ानी पड़ेगी। ऐसी जानकारी दो स्रोतों से मिल सकती है—सेनाओं के आकारों और कृषि क्षेत्रों के विस्तार से—और स्थिति यह है कि पहले स्रोत से हमें भारत के दक्षिणी हिस्से और दूसरे से उत्तरी हिस्से के संबंध में जानकारी मिलती है। मैं एक के बाद एक दोनों स्रोतों पर विचार करूंगा, लेकिन इससे पहले मैं इन अनुमानों में और अन्य अध्यायों में पेश किए गए ऐसे ही दूसरे अनुमानों में जितनी यथार्थता की अपेक्षा की जा सकती है उसके बारे में चेतावनी के दो शब्द कह देना आवश्यक मानता हूं। यह सही है कि इस काल में कुछ भारत में आंकड़ों के दस्तावेज तैयार किए गए, लेकिन मूल दस्तावेज हमें प्राप्त नही हो सके हैं और फिर हमें हर मामले में यह जानकारी भी नहीं है कि ये आंकड़े किस आधार पर संकलित किए गए थे। आमतौर पर हमें अनुषंगी और आंशिक प्रमाणों से ही संतुष्ट रहना है। ये प्रमाण समकालीन लेखकों द्वारा वर्णित तथ्यों के रूप में प्राप्त होते है, लेकिन हो सकता है आंकड़ों के संबंध में इन लेखकों से भूलें हुई हों या उनके सही महत्व के बारे में ये किसी भ्रांति में पड़ गए हों। अतएव कतिपय पूर्वधारणाएं बना कर ही हम इनके कथनों की व्याख्या कर सकते हैं, यद्यपि इस पर कोई आपत्ति करे तो वह अनुचित नही होगा। हम यह नही कह सकते कि अमुक निष्कर्ष निश्चित है या अमुक संख्या निर्विवाद। हमें संभावनाओं पर विचार करके वे सीमाएं तय करनी है जिनके अंदर सत्य हो सकता है। तथ्यों, मान्यताओं और निष्कर्षों पर शंकाएं की जा सकती है, और यदि पाठक कभी पाएं कि संख्या अथवा मात्रा के संबंध में मैं बहुत विश्वासपूर्वक बोल रहा हूं तो वे इस प्रारंभिक चेतावनी को ध्यान में रखें। वे याद रखें कि हम आंकड़े संबंधी आजकल की सूचनाओं के प्रशस्त मार्ग पर नही चल रहे है, बल्कि उस जंगल में कोई रास्ता ढूढ़ने की कोशिश कर रहे हैं जिसमें किसी के पांव नही पड़े हैं।

दक्षिणी भारत की सेनाओं के आकार के संबंध मे हमें जो जानकारी प्राप्त है वह सेवेल से मिली है। वह कोई संख्या तो नही बताता, लेकिन अपना निष्कर्ष देते हुए कहता है : 'सभी समकालीन वृत्तलेखकों की मान्यता थी कि विजयनगर का राजा चाहता तो विशाल संख्या में सशस्त्र लोगों को मैदान में उतार सकता था। सभी सैनिक शायद भली भांति शस्त्रसज्जित, प्रशिक्षित अथवा अनुशासित नही थे, लेकिन उनकी संख्या की विशालता के बारे में कोई शंका उचित नहीं। जिन कथनों से यह निष्कर्ष निकाला गया है वे दो प्रकार के है : कुछ लेखक तो हमें विजयनगर की कुल सेना के आकार के बारे में बताते हैं और कुछ विशेष अवसरों पर वस्तुतः मैदान में उतारे गए

सैनिकों की संख्याएं बताते है, और इन दोनों प्रकार के साक्ष्यों में कुल मिला कर काफी संगति है। पांच लेखक, जिनमें से कम से कम चार को निष्पक्ष माना जा सकता है, कुल सैनिकों की संख्या दस लाख बताते है। इनमें से दो यह भी कहते है कि जरूरत पड़ने पर उसे बढ़ा कर बीस लाख भी किया जा सकता था। संभव है कि मोटे तौर पर दी गई ये संख्याएं अनिश्चित अनुमान हों और इनका सचाई से कोई वास्ता न हो, लेकिन मुझे इस बात की ज्यादा संभावना दीखती है कि ये संख्याएं एक कुख्यात तथ्य को पेश करती हों। सेना का अधिकांश कोटा प्रणाली पर संगठित था, जिसकी चर्चा हम आगे के अध्याय में करेंगे। साम्राज्य के हर अधिकारी पर एक निश्चित माला में सैनिक जुटाने का दायित्व होता था और वह अपने पद पर तभी तक कायम रह सकता था, जब तक इस दायित्व का निर्वाह करता था। हम जिन कथनो पर विचार कर रहे हैं उनकी सबसे उचित व्याख्या मुझे यह प्रतीत होती है कि इन तमाम सैनिक टुकड़ियों का कुल योग कागजी तौर पर दस लाख तक पहुंचता था और इस बात को नगर के सभी लोग जानते थे; इसी कारण सभी नवागंतुकों को इस तरह के प्रश्नों के प्रायः समान उत्तर मिले और इस संख्या के दोगुना किए जाने की संभावना शायद उन लोगों ने बताई जो साम्राज्य की प्रतिष्ठा को बढा चढा कर दिखाना चाहते थे। इस व्याख्या का मतलब यह नही है कि दस लाख सैनिक कभी लड़ाई के मैदान में उतरे। नुनिज का मंतव्य है—और दरअसल ऐसा अनुमान हम भी लगा सकते थे—कि कुछ अधिकारी निर्धारित संख्या से कम सैनिक रखते थे। इसलिए दस लाख को हमें कागजी मर्यादा मानना चाहिए। यह संख्या उस क्षेत्र की क्षमता से शायद अधिक नही थी, लेकिन साथ ही किसी भी लडाई में इतने सैनिकों के उतारे जाने की भी संभावना नही थी। सचमुच मैदान में उतारे गए सैनिकों की संख्या के विषय में हमें जो तफसीलें मिलती है उनसे इस दावे की ताईद होती है। नुनिज ने 1522 में सैनिक विन्यास का वर्णन इतने विस्तार के साथ किया है कि लगता है अवश्य ही विशद सूचना के स्रोतों तक उसकी पहुंच थी। वह मुख्य सेना के अलग-अलग ग्यारह हिस्सों का उल्लेख करता है। इन ग्यारहों हिस्सों के कुल सैनिकों की संख्या 6 लाख से कुछ ऊपर पहुंचती थी। इसके अतिरिक्त 10 या 12 हजार सैनिकों की अन्य टुकड़िया और एक अग्रिम रक्षा दल भी था। मतलब यह है कि किसी गंभीर संकट में 65,000 यानी कागजी संख्या के दो-तिहाई सैनिक युद्ध के लिए प्राप्त थे। चालीस साल बाद जब साम्राज्य पर बड़ा खतरा आया उस समय—जैसा कि पुर्तगाली स्रोतों से मालूम होता है—तालीकोट के मैदान मे सात लाख सैनिक उतारे गए। सेवेल ने अंतिम मुठभेड़ का जो वर्णन किया है उससे यह संख्या आमतौर पर मेल खाती है। सेवेल के वर्णन के अनुसार सेना तीन खंडों में आगे बढ़ी : अग्रिम रक्षा दल जिसमे 1,20,000 सैनिक थे, उसके पीछे दूसरी बड़ी सेना और फिर साम्राज्य की संपूर्ण सैन्य शक्ति। इन निष्पक्ष कथनो से सैनिक संगठन के विषय में व्यक्त किए गए उस मत का औचित्य सिद्ध होता जान पड़ता है जो दक्षिण के इस महान साम्राज्य के कार्यकलाप की हमारी सारी जानकारी से मेल खाता है और साथ ही इस काल की अपेक्षित और वास्तविक स्थितियों के बीच की संगति पर आधारित लगता है। तात्पर्य यह है कि व्यवस्था तो बहुत विशाल सेना की होती थी किंतु अत्यंत गंभीर संकट की स्थिति में भी शायद दो-तिहाई सैनिक ही लड़ने को प्रस्तुत किए जाते थे, जिसका एक

कारण तो यह था कि कुछ टुकड़ियां उपस्थित ही नहीं हो पाती थीं और दूसरा यह कि कुछ में अपेक्षित संख्या से कम सैनिक होते थे।[4]

दकन की प्रतिद्वंद्वी सेनाओं के संबंध में हमें इस तरह के आंकड़े प्राप्त नहीं हैं। स्पष्ट ही उनमें काफी बड़ी संख्या में सैनिक रहे होंगे क्योंकि लड़ाई वर्षो चलती रही और अंत में निर्णायक विजय प्राप्त की, लेकिन कुछ खास-खास लड़ाइयों के अपूर्ण विवरणों से मैं यह निष्कर्ष निकालना चाहूंगा कि उत्तर की सेनाएं आमतौर पर संख्याशक्ति में कम होती थीं और उनकी सफलता का कारण अंशत: उनका अश्वारोही दल था और मुख्यत: उच्चकोटि का युद्धकौशल। तालीकोट की लड़ाई के पुर्तगाली विवरण में कहा गया है कि दकन के पास विजयनगर की तुलना में आधी सेना थी। यह अनुपात अपने आप में असंभव नहीं है, लेकिन आक्रमणकारी सैन्य दल को, जिसे युद्धभूमि तक पहुंचने के लिए कुछ दूरी तय करनी पड़ी थी, मार्ग में काफी क्षति उठानी पड़ी होगी, यह तथ्य भी हमें ध्यान में रखना चाहिए। विजयनगर और दकन को अगर हम साथ मिला कर देखें तो ऐसा मानना अनुचित न होगा कि भारत के इस हिस्से में सचमुच दस लाख सैनिक युद्धभूमि में प्रस्तुत किए जा सकते थे, यद्यपि इस लंबे संघर्ष के दौरान यह संख्या शायद बराबर कायम न रही हो। इस बड़ी सेना को हम देश की (प्रचलित मुहावरे के अनुसार) जनशक्ति का पर्याय नहीं मान सकते, क्योंकि विजयनगर के बारे में जो आंकड़े दिए गए हैं उनमें सेना के सहायक शामिल नहीं हैं। इसके अलावा, ब्राह्मण, व्यापारी और कारीगर वर्गों की संख्या खासी बड़ी थी और सैन्यदल में इनकी गिनती नहीं होती थी। ये सैनिक मद्रास और बंबई (जिसमें सिंध शामिल नहीं है) प्रांतों और मैसूर तथा हैदराबाद के राज्यों से आते थे। पिछली जनगणना के अनुसार इस क्षेत्र की आबादी छ: और सात करोड़ के बीच थी।[5] प्रश्न यह है कि विचाराधीन काल में इस क्षेत्र की आबादी क्या थी। जहां तक मैं जानता हूं, प्रत्यक्ष रूप से इस तथ्य को दर्शाने वाला कोई तथ्य या आंकड़ा उपलब्ध नहीं है कि इस काल में कुल आबादी में से कितने प्रतिशत सेना में शामिल किए जा सकते थे और इस संबंध में यूरोप के दृष्टांतों का प्रयोग सावधानी से किया जाना चाहिए। लेकिन इतना तो कहा ही जा सकता है कि यूरोप के सबसे ताजा अनुभवों को दृष्टांत रूप में नहीं प्रयुक्त किया जाना चाहिए। यूरोप के इस अनुभव से तो दुनिया ने देख लिया है कि कुल आबादी के छठवें हिस्से के बराबर सेना खड़ी की जा सकती है, लेकिन इसके लिए दीर्घकाल तक क्रमिक संगठन संयोजन की आवश्यकता होती है और यह बात लगभग असंभव है कि भारत में जिस तरह अल्प अवधि के लिए और अकस्मात लड़ाइयां हुआ करती थीं उनके लिए इतने बड़े अनुपात में सेना खड़ी की जा सकती थी। ज्यादा निकट का दृष्टांत यह होगा कि युद्ध[6] आरंभ होने के पूर्व यूरोप के राज्य कितनी सेना प्रस्तुत करने की स्थिति में थे। प्रकाशित आंकड़ों के अनुसार 1914 में फ्रांस 31 में से एक और जर्मनी 32 में से एक को लड़ाई के लिए प्रस्तुत करने की स्थिति में थे। गरज यह है कि दकन और विजयनगर का भरती संगठन यदि आधुनिक फ्रांस और जर्मनी के भरती संगठनों जैसा ही चुस्त था तो उनकी कुल दस लाख की सेना तीन करोड़ दस लाख की आबादी में से भरती की गई होगी। अगर उनके संगठन में चुस्ती कम थी तो मानना होगा कि आबादी और बड़ी रही होगी। इस काल में भारत में इस दृष्टि से कितनी कार्यकुशलता थी, इसके लिए शुद्ध अनुमान के अलावा

कोई और चारा नहीं। एक ओर तो कोटा प्रणाली के अधीन यह आशा की जाती थी कि देश के सभी हिस्सों के लोग सेना में भर्ती हों और उच्च शारीरिक क्षमता की अपेक्षा रखना भी संभव न था। लेकिन दूसरी ओर, जैसा कि हम देख चुके हैं, सैनिक दायित्व से मुक्त वर्गों के लोगों की संख्या भी काफी बड़ी थी। खुद अपनी राय दूं तो कहना पड़ेगा कि भारतीय प्रणाली यूरोपीय प्रणाली से श्रेष्ठ रही होगी, ऐसा माना कठिन लगता है। जो भी हो, अगर हम इस निष्कर्ष को मान लें कि दकन और विजय-नगर दोनों मिल कर लगभग दस लाख सैनिक मैदान में उतार सकते थे, तो यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि इसके लिए उन्हें तीन करोड़ की आबादी (आज की तुलना में आधी) पर निर्भर रहना होगा, बशर्ते कि हम यह मानने को तैयार न हों कि उनकी प्रणाली कम से कम भरती की दृष्टि से यूरोपीय प्रणाली से श्रेष्ठ थी। बेशक यह निष्कर्ष 1565 ई० में तालीकोट की लड़ाई के साथ समाप्त होने वाले काल के संबंध में उपलब्ध आंकड़ों पर आधारित है, लेकिन जैसा कि पहले कहा जा चुका है, 1565 से लेकर 1600 ई० के बीच इस क्षेत्र में किसी गंभीर संकट के उपस्थित होने का कोई लिखित प्रमाण नहीं मिलता, और चूंकि आज की बनिस्बत आधी आबादी वाले उस क्षेत्र के बारे में हम यह नहीं कह सकते कि वहां जनाधिक्य की समस्या थी, इसलिए ऐसा निष्कर्ष निकालना भी उचित नहीं होगा कि 1565 से 1600 ई० के बीच आबादी कम हो गई होगी। इसके विपरीत हम यदि यह मानें कि आबादी में कुछ वृद्धि हुई होगी तो यह ज्यादा संगत लगता है।

मेरी दृष्टि में तो उपलब्ध जानकारी से यह प्रकट होता है कि दक्षिणी प्रदेशों की आबादी कम से कम तीन करोड़, हो सकता है, इससे कहीं अधिक रही होगी। उत्तरी भारत के बारे में ऐसा कोई निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता, जिसका यही कारण पर्याप्त है कि मुगल सेना के सैनिकों की संख्या हमें ज्ञात नहीं है। अकबर को, कम से कम अपने शासन काल के अंतिम वर्षों में, कभी पूरी सेना को मैदान में उतारने की जरूरत नहीं पड़ी। युद्ध तो उसे बराबर करने पड़े लेकिन ये युद्ध साधारण कोटि के थे, और जिस तरह हम ब्रिटिश भारत के सीमांत अभियानों के आधार पर उसकी कुल सेना का अनुमान नहीं लगा सकते उसी तरह अकबर की उन लड़ाइयों से उसकी सैन्य शक्ति का सही अंदाज नहीं लगा सकते। यह सच है कि आईन-ए-अकबरी में अकबर के सैन्य संगठन के बारे में पर्याप्त जानकारी दी गई है, मगर दुर्भाग्यवश वह अपूर्ण है और अबुलफज्ल द्वारा प्रस्तुत सभी आंकड़ों के आधार पर मैं भी इर्विन के निष्कर्षों को स्वीकार करने को बाध्य हो जाता हूं कि उन आंकड़ों के आधार पर अकबर के सैन्यबल का कोई निश्चित तखमीना संभव नहीं है। उत्तर भारत के बारे में हमें दूसरे सूचना स्रोत प्राप्त हैं, जिनकी चर्चा मैं पहले कर चुका हूं, मगर आईन-ए-अकबरी में जो आंकड़े दिए गए हैं उनका अगर हम ठीक-ठीक विश्लेषण कर सकें तो मुगल साम्राज्य के उन प्रांतों के कृषि क्षेत्र के विस्तार का अंदाज देने के लिए वे पर्याप्त हैं, जिनमें राजस्व निर्धारित करने की विनियमन प्रणाली (रेगुलेशन सिस्टम) कारगर ढंग से लागू कर दी गई थी। दुर्भाग्य से इन आंकड़ों का अभी तक सम्यक अध्ययन नहीं किया गया है और मैं इन आंकड़ों की, जिनका संबंध उत्तरी भारत के एक हिस्से से है, अपनी निजी व्याख्या ही प्रस्तुत कर सकता हूं। मेरे निष्कर्ष निम्नलिखित हैं :

(1) संयुक्त प्रांत के पश्चिमी हिस्से, अर्थात एक ओर यमुना और दूसरी ओर बरेली तथा आगरा को आपस में मिलाने वाली सीमा रेखा के बीच के क्षेत्र से संबंधित आंकड़ों के विस्तृत अध्ययन से पता चलता है कि बसे हुए इलाकों में कृषि की जमीन आज की तीन चौथाई थी, गंगा और यमुना के बीच दोआब में यह अनुपात 8/10 था, और गंगा के पूर्व रुहेलखंड में 7/10 था। स्थायी खेती वाले क्षेत्र आज की अपेक्षा कम थे उसका कारण, जैसा कि हमने ऊपर देखा है, यह था कि हिमालय के जंगल आज की अपेक्षा गंगा के बहुत पास तक पहुंचते थे, लेकिन दोआब का क्षेत्र और गंगा के बाएं किनारे पर एक पतली पट्टी के क्षेत्र पूरी तरह से आबाद थे।

(2) पंजाब संबंधी आंकड़ों के सामान्य सर्वेक्षण से पता चलता है कि दोआब की तरह यमुना के पश्चिमी क्षेत्र में भी कम से कम लाहौर तक ज्यादा से ज्यादा जमीन में खेती होती थी लेकिन दूसरी ओर दक्षिणी और पश्चिमी पंजाब बहुत कम आबाद थे।

(3) संयुक्त प्रांत के मध्यवर्ती हिस्से से संबंधित आंकड़े कुछ समस्याएं पैदा करते हैं। इन्हें अभी मैं हल नहीं कर पाया हूं, लेकिन उनसे यह आभास अवश्य मिलता है कि दोआब में आगरा से पूर्व की ओर बढ़ने पर कृषि भूमि में तेजी से कमी आती गई थी।

(4) संयुक्त प्रांत के पूर्वी हिस्से में घाघरा नदी के उत्तर में बहुत कम जमीन में खेती होती थी, और घाघरा तथा गंगा के बीच इलाहाबाद और फैजाबाद को मिलाने वाली सीमा रेखा के पूर्व पांचवें हिस्से से भी कम भूमि में कृषि होती थी।

(5) बिहार संबंधी आंकड़ों पर मोटे तौर पर विचार करने से स्पष्ट होता है कि 1/5 का यह अनुपात मुंगेर तक जाता था। यहां आंकड़े समाप्त हो जाते हैं।

कृषि क्षेत्र के घनेपन से आबादी के घनत्व का अंदाज लगाने के लिए चौथे अध्याय में दिए गए निष्कर्ष की चर्चा यहां आवश्यक है। निष्कर्ष यह है कि ऊपरी ढांचे में हुए परिवर्तनों के बावजूद भारतीय कृषि पद्धति का मुख्य स्वरूप पिछली तीन सदियों से लगभग ज्यों का त्यों है, इसीलिए खेती की जमीन का क्षेत्रफल ग्रामीण आबादी के एक मोटे किस्म के सूचकांक का काम करता है। यदि हम इस निष्कर्ष को बिना किसी छानबीन के फिलहाल स्वीकार लें तो मानना होगा कि गंगा के मैदान का पश्चिमी हिस्सा अकबर के काल में आज की ही तरह लगभग पूरी तरह से बसा हुआ था और सोलहवीं सदी के यूरोपीय मापदंड के मुताबिक घना आबाद था। दूसरी ओर बंगाल की सीमा तक गंगा के मैदान का पूर्वी हिस्सा आज की तरह घना आबाद नहीं था। वहां की आबादी आज की आबादी का शायद पांचवां हिस्सा थी। हम देख चुके हैं कि पूर्वी हिस्से के जिन क्षेत्रों की यूरोपीय यात्रियों ने यात्रा की उनमें उन्हें घनी आबादी देखने को मिली। दूसरी ओर हमें फिंच के इस कथन का भी स्पष्टीकरण यहां मिल जाता है कि जौनपुर से इलाहाबाद तक का मार्ग लगातार जंगलों से होकर गुजरता था। और इससे अकबरनामा में उल्लिखित इस तथ्य पर भी प्रकाश पड़ता है कि घाघरा के दक्षिणी किनारे आज के घने आबाद आजमगढ़ जिले से होकर की गई

यात्राओं के दौरान रास्ते में अनेक जंगल आए और तरह-तरह के विचित्र जंगली जानवर देखने को मिले। इस तरह हम देखते हैं कि समकालीन आंकड़ों से जो निष्कर्ष निकाले गए हैं वे सर्वथा ऐसे नहीं हैं जिनकी अन्य स्रोतों से पुष्टि न होती हो, और संभव है कि इस काल के साहित्य का और विशद अध्ययन करने से इसी प्रकार के अन्य तथ्य भी सामने आएं।

अब अगर इन निष्कर्षों को हम पिछली जनगणना के आंकड़ों के परिपेक्ष्य में रख कर देखें तो पाएंगे कि जिस काल से इन आंकड़ों का संबंध है[7] उस काल में मुलतान से मुंगेर तक उत्तरी मैदान की आबादी निश्चय ही तीन करोड़ से ज्यादा और चार करोड़ से कुछ कम रही होगी। इस प्रकार उत्तरी और दक्षिणी भारत को मिला कर आबादी के लगभग 6 करोड़ होने के प्रमाण तो हमें मिलते हैं, लेकिन इस संख्या में गुजरात और बंगाल की आबादी या जिन क्षेत्रों की आबादी पर विचार किया गया है उनको जोड़ने वाले बीच के विरल आबादी वाले क्षेत्रों की जनसंख्या शामिल नहीं है। और अगर आबादी का हिसाब लगाने में हम इन क्षेत्रों का भी विचार करें तो यह मानना अनुचित न होगा कि समकालीन विवरणों से भारत में जिन प्रवृत्तियों की जानकारी मिलती है उनको चलाने वाली आबादी लगभग दस करोड़ से कम रही होगी। यह संख्या बेशक बहुत बड़ी है और उस काल के यूरोपीय प्रेक्षकों को अविश्वसनीय लग सकती थी, लेकिन यह आबादी इसी क्षेत्र की 1911 की आबादी का सिर्फ तीसरा हिस्सा है। जनसंख्या इससे अधिक रही होगी, इसके पक्ष में अनेक दलीलें दी जा सकती हैं, लेकिन जो तथ्य और आंकड़े उपलब्ध हैं उनको देखते हुए हमें अनिश्चित अनुमानों से ही संतोष करना पड़ता है। अगर हम भारत की कुल आबादी दस करोड़ मानें तो उसमें कोई भारी भूल होने का खतरा नहीं है। हां, यह संख्या हमने ध्यान से हिसाब लगाकर नहीं निकाली है, बल्कि सिर्फ उन समस्त उपलब्ध संगत तथ्यों पर विचार करके ही प्राप्त की है।

आबादी के वर्ग

जिस आबादी की संख्या का अंदाज लगाने का हमने प्रयत्न किया है, वह किसी भी तरह से समरूप नहीं थी। हिन्दुओं का विशाल बहुमत था। उनके बीच जाति-प्रथा बहुत कुछ आज की ही तरह प्रचलित थी। जातियों और प्रजातियों के बीच इतना अधिक अंतर था कि विदेशी यात्रियों ने बनियों या गुजरातियों का उल्लेख ब्राह्मणों या राजपूतों से भिन्न 'राष्ट्र' के रूप में किया है, सिखों को इन दिनों हिंदुओं का ही एक संप्रदाय माना जाता था, और आर्थिक दृष्टिकोण से दक्षिण के ईसाइयों को स्पष्टतः उन्हीं लोगों की श्रेणी में रखा जा सकता है जिनके बीच वे रहते थे। यहूदियों और आरमीनियनों की संख्या तो कम थी, लेकिन व्यापार के क्षेत्र में उनका महत्व बहुत अधिक था। पारसियों की स्थिति पूरी तरह से स्पष्ट नहीं है। *1616* ई० के आसपास अपने अनुभवों के बारे में लिखते हुए टेरी कहता है : 'आमतौर पर उनका धंधा हर तरह की खेती-बाड़ी है।' इसके कुछ समय बाद मंडी ने लिखा है कि वे खजूर उगाते थे। मान्सरेट तो उनके और उन अन्य विधर्मी (शायद हिंदू) समुदायों के लोगों के बीच कोई भेद ही नहीं कर पाया जो नवसरी के आसपास, जहां पारसी लोग बसे हुए थे, रहते थे। इसके विपरीत थेवेनो के समय में सूरत में, जो मुख्य रूप से एक व्यापारिक

नगर था, उन्होंने अपना एक अलग पहचान बना ली थी । सोलहवीं सदी के मध्य में गार्सिया द ओर्टा ने उनका उल्लेख कैंवे और वेसीन के व्यापारियों के रूप में किया है और लिखा है कि पुर्तगाली लोग उन्हें यहूदी समझते थे । स्पष्ट है कि इस काल में वे धीरे-धीरे किसानी छोड़ कर व्यापार अपनाते जा रहे थे, जिस क्षेत्र में उन्होंने तब से लेकर आज तक उल्लेखनीय सफलता प्राप्त की है ।

आबादी के दो अन्य हिस्सों, अर्थात मुसलमानों और पुर्तगालियों की किंचित विस्तृत चर्चा की जरूरत है। मुसलमानों में हमें तटवर्ती अरबों और फारसियों तथा उत्तरी भारत के मुसलमानों के बीच स्पष्ट भेद करना चाहिए। फिर, उत्तरी भारत के मुसलमानों को भी हमें दो वर्गों में बांटना चाहिए : पुराने बाशिंदे और बाहर से नये-नये आकर बसे। 1500 से पहले ही अरबों और फारसियों ने मोजांबिक से लेकर मलक्का जलडमरू-मध्य तक हिंद महासागर में समुद्री व्यापार के क्षेत्र में प्रमुखता प्राप्त कर ली थी । भारत के दोनों ओर के समुद्र तटों पर जहां भी उन्हें स्थानीय प्रशासनों से सुविधा प्राप्त हुई वहीं उन्होंने बंदरगाहों के आसपास अपनी बस्तियां कायम कर ली थीं। वास्तव में उन प्रशासनों के लिए उनका व्यापार इतना अधिक लाभदायक था कि वे इन व्यापारियों का स्वागत करते थे और कहीं-कहीं तो इन्हें विशेष सुविधाएं भी देते थे । लेकिन इन बस्तियों की मुसलमान आबादी में पूर्णतः या मुख्यतः विदेशी ही रहे हों, ऐसी बात नहीं थी। ये सौदागर मुख्यतः व्यापार करने के लिए आते थे, लेकिन वे अपने धार्मिक हितों की भी उपेक्षा नहीं करते थे। वे जिन बंदरगाहों में रहते थे वहां दूसरे धर्मो को छोड़ कर इस्लाम को अंगीकार करने वाले लोगों के छोटे-बड़े समूह देखे जा सकते थे। देश के अन्य धर्मावलंबियों से इनके वैवाहिक और विवाहेतर संबंधों के फलस्वरूप भी इनकी संख्या में वृद्धि होती गई। सोलहवीं सदी के आरंभ में पुर्तगालियों ने हिंद महासागर में इन मुसलमानों की प्रमुखता तो समाप्त कर दी थी, किंतु उन्हें व्यापार से नहीं निकाल पाए थे। फलतः इस काल में हमें भारत के लगभग सभी बंदरगाहों में मुसलमान मिलते हैं, यहां तक कि जिन बंदरगाहों में पुर्तगालियों ने क्षेत्रीय अधिकार प्राप्त कर लिया था वे भी इनसे खाली न थे। मुसलमान बंदरगाहों से देश के भीतरी भागों में भी पहुंचते थे। इसमें उनका खास मकसद अपने जहाजों में लाई गई व्यापार की वस्तुओं को खपाना होता था। विजयनगर के समृद्धि काल में वहां मुसलमानों की बहुत सी बस्तियां थीं।

समुद्री मार्ग से आने वाले इन मुसलमानों से बिलकुल अलग, बहुत से मुसलमान अकबर के साम्राज्य की स्थापना से पहले की पांच सदियों में पश्चिमोत्तर से भारत में आए थे और उन्होंने बड़े पैमाने पर देशी लोगों का धर्मपरिवर्तन भी किया था। जब मुगल भारत में आए तब तक आरंभ में आने वाले मुसलमानों के वंशज भारतीय समाज में भलीभांति खप चुके थे और बाबर तथा हुमायूं के विरुद्ध भारत ने जो संघर्ष किया.उसमें उन्होंने आमतौर पर भारतीय पक्ष का साथ दिया। अकबर के काल में उसके साथ आने वाले मुसलमानों या उसकी सत्ता स्थापित हो जाने के बाद बाहर से आने वाले मुसलमानों की तुलना में यदि उन मुसलमानों को भारतीय मुसलमान कहा जाए तो गलत न होगा। अकबर का दरबार वास्तव में विदेशी दरबार था और उसके शासन के परवर्ती वर्षों में भी उसके दरबारियों में हिंदू अथवा मुसलमान भारतीयों की संख्या अपेक्षाकृत बहुत कम थी ।[8] आर्थिक क्षेत्र में दरबार का जो कुछ भी प्रभाव था वह वस्तुतः उसी पक्ष का था जिसका दरबार में बोलबाला था और जिसकी

रुचियों और आदतों के कारण विदेशी सौदागरों और विदेशी वस्तुओं के उपयोग को प्रश्रय मिला। आगे के अध्यायों में इस विषय पर विस्तार से विचार किया जाएगा।[9]

सोलहवीं सदी के प्रारंभ में पुर्तगालियों के भारत आगमन के पीछे अनेक प्रयोजन थे। उन दिनों यूरोप के लिए पूर्वी दुनिया की व्यापार की वस्तुएं लाल सागर या फारस की खाड़ी तक ले जाई जाती थीं और तुर्की तथा मिस्र के सत्ताधारी मुसलमानों को भारी महसूल देने के बाद ही इटली के व्यापारी, जिनकी पूर्वी भूमध्य सागर के व्यापार में प्रमुखता थी, उन चीजों को जरूरतमंद लोगों तक पहुंचा पाते थे। पुर्तगाली 'उत्तमाशा अंतरीप' केप आफ गुड होप से होकर इन वस्तुओं को अपने जहाजों में ले जाना चाहते थे। इस तरह वे अपना धन भी बढ़ा सकते थे और मुसलमानी राज्यों की समृद्धि को भी आघात पहुंचा सकते थे, क्योंकि इन राज्यों को अब भी ईसाई संसार का शत्रु माना जाता था। साथ ही वे भारत में अपने लिए ऐसी जगह बनाना चाहते थे जहां से ईसाई धर्म का प्रचार कर सकें। इस प्रकार उनके इस उपक्रम का स्वरूप व्यापारिक भी था और धर्मप्रचार का भी। उन्होंने कोई साम्राज्य स्थापित करने का प्रयत्न नहीं किया। उनकी इस नीति के पीछे मूल प्रेरणा यह थी कि भारतीय समुद्रों पर प्रभुत्ता प्राप्त की जाए ताकि अपना व्यापार ठीक से चलाया जा सके। इस लक्ष्य को ध्यान में रख कर उन्होंने तटवर्ती क्षेत्रों में अपनी बस्तियां बसाई। ये बस्तियां किलों के अंदर होती थीं। किले बाहरी आक्रमण के प्रतिरोध की दृष्टि से काफी मजबूत थे और इतने बड़े होते थे कि उनकी नीति को अंजाम देने के लिए वहां पर्याप्त संख्या में सैनिक और नाविक रखे जा सकते थे। ऐसी बस्तियां अफ्रीका के पूर्वी तट पर, फारस की खाड़ी के मुहाने पर, भारत के पश्चिमी तट पर मलक्का जलडमरूमध्य के पास और इससे भी पूर्व के क्षेत्रों में थीं। गोआ उनका केंद्रीय नगर था। कंबे की खाड़ी में तो उनका कोई ऐसा जमाव नहीं था, किंतु दमण और दीव में स्थित अपने केंद्रों से वे इस खाड़ी के व्यापार पर नियंत्रण रखते थे। पूर्वी तट पर उनकी सत्ता इस तरह विधिवत तो प्रतिष्ठित नहीं थी, फिर भी वे एस० टामे में तथा अन्यत्र अच्छी तरह जमे हुए थे। सिंधु और गंगा के मुहानों पर भी उनकी व्यापारिक बस्तियां थीं। चटगांव तथा बंगाल की खाड़ी के आसपास के अन्य स्थानों में पुर्तगाली प्रजा की स्थिति असंगत और अवैध थी और उनकी आजीविका का मुख्य साधन समुद्री डाकाजनी थी। देश के भीतरी भागों में वे विरले ही देखे जाते थे। लाहौर जैसे कुछ स्थानों में उनके व्यापारिक प्रतिनिधि भी थे और अकबर के शासनकाल के अंतिम वर्षों में उसके दरबार में लंबे समय तक उनके मिशनरी भी रहे थे। किंतु ऐसे कुछ प्रसंगों और स्थानों को छोड़ कर देश के भीतरी भागों में उनकी उपस्थिति का प्रमाण मुझे टेरी के इस कथन के अलावा—कि कभी-कभी उसकी मुलाकात पुर्तगालियों से भी हो जाती थी, 'जो सहायता की भीख मांगते थे।' और कही नही मिला है। वे आमतौर पर ऐसे लोग होते थे जो पुर्तगाली बस्तियां छोड़ कर भागे हुए थे या किसी अपराध की सजा के डर से फरार हो गए थे।

भारत में उस काल में जो प्रजातियां थी उनका विवरण बाहर से लाए गए गुलामों के उल्लेख के बिना पूरा नहीं हो सकता। अबिसीनीयाई गुलामों की बहुत मांग थी और उस समय के विवरणों में हमें उनकी चर्चा अकसर देखने को मिलती है। उनमें से कुछ तो बहुत जिम्मेदारी के पदों पर देखे जाते हैं। मोजांबिक के गुलामों का नियमित व्यापार चलता था। फारस और उससे पश्चिम के देशों से भी गुलामों का आयात किया

जाता था। कुल मिलाकर यह एक उल्लेखनीय तथ्य है कि अस्थायी तौर पर यहां रहने वाले लोगों की संख्या काफी बड़ी रही होगी। समकालीन विवरणों में हमें अनेक स्थानों में अरब, आरमीनिया, फारस और पश्चिमोतर के अन्य देशों के व्यापारियों तथा देशाटन, आर्थिक लाभ या साहसिक भावना से प्रेरित होकर आने वाले यूरोपियनों की उपस्थिति की जानकारी मिलती है। इनकी संख्या भी अनपेक्षित रूप से बड़ी जान पड़ती है। पश्चिमी तट पर चीनियों और जापानियों की मौजूदगी के भी कुछ सबूत मिलते हैं। भारत तब ऐसा देश नहीं था जिसके दरवाजे विदेशियों के लिए बंद थे। किसी भी राष्ट्र का निवासी यात्रा के खतरे और असुविधाएं उठाने को तैयार हो तो भारत की यात्रा कर सकता था।

प्रजातिगत वर्गीकरण की ओर से आर्थिक वर्गीकरण की ओर उन्मुख होने पर जो चीज हमारा ध्यान सबसे पहले आकर्षित करती है वह है मध्यवर्ग की अपेक्षाकृत गौण स्थिति। आधी सदी बाद लिखते हुए बर्नियर हमें बताता है: 'दिल्ली में मध्यवर्ग नहीं है या तो उच्चतम श्रेणी के अथवा दयनीय स्थिति वाले लोग ही रहते हैं।' खास तौर से हमारे विचाराधीन काल के विवरणों और वृतांतों पर दृष्टि डालने से भी यही तसवीर उभरती है।[10] इस काल में वकील नहीं थे, पेशेवर शिक्षक थे भी तो बहुत कम और पत्रकार या राजनीतिज्ञ अथवा इंजीनियर तो बिलकुल नहीं थे। आज की तरह रेल, डाक अथवा सिंचाई आदि महकमों में काम करने वाले लोग नहीं थे। इसी तरह बड़े-बड़े कारखानों में काम करने वाले लोग भी नहीं थे। आज के अर्थों में काश्तकार भी बहुत कम थे और अगर मेरा अनुमान गलत न हो तो शायद ही कोई परिवार पहले से संचित संपत्ति पर गुजारा करता था। आज मध्यवर्ग का जो रूप है उसमें से यदि हम उन लोगों को अलग कर दें तो देखेंगे कि सरकारी नौकरियों पर गुजारा करने वाले कुछ परिवारों के सिवाय मध्यवर्ग है ही नहीं। आबादी के शेष हिस्से के ठीक-ठीक या वैज्ञानिक वर्गीकरण के लिए सामग्री उपलब्ध नहीं है। लेकिन प्रस्तुत प्रयोजनों के लिए सुविधा कि दृष्टि से उसका अध्ययन दो वर्गों के रूप में किया जा सकता है। पहला वर्ग हमारे लिए मुख्यतः उपभोग की दृष्टि से महत्व रखता है और दूसरे का महत्व प्रधानतः उत्पादन में निहित है। पहले वर्ग में (1) दरबारी और साम्राज्य के अमले, (2) पेशेवर और टोने-टोटके करने वाले तथा संत-फकीर आदि धार्मिक लोग. और (3) घरेलू नौकर तथा गुलाम शामिल हैं। दूसरे में (1) खेती, (2) उद्योग, तथा (3) व्यापार में शामिल लोग हैं। अकबर के शासनकाल में जिन्हें जमींदार कहा जाता था उनकी यथार्थ आर्थिक स्थिति विवाद से परे नहीं है। उनकी प्रवृत्ति का निश्चित स्वरूप बताने वाले बहुत कम तथ्य उपलब्ध हैं, और उनके बारे में कहने को जो थोड़ा बहुत है वह कृषकों की चर्चा करते हुए कहा जा सकता है। एक अन्य वर्ग जो हमारे विषय की परिसीमा से बाहर है, पहाड़ों और जंगलों में रहने वाली जनजातियों का है, लेकिन हमें उपलब्ध साधन स्रोतों में उनका उल्लेख शायद ही कहीं हुआ हो और आर्थिक ढांचे के अध्ययन में उनको छोड़ देना अनुचित न होगा।[11]

मैंने जो वर्गीकरण दिया है वह इस पुस्तक के शेष भाग के ढांचे का काम देगा, लेकिन पहले वर्ग पर विचार करने से पूर्व प्रशासन के स्वरूप की उस हद तक चर्चा कर लेना आवश्यक है जिस हद तक वह उन परिस्थितियों को प्रभावित करता है, जिनके

अंतर्गत उत्पादन और उपभोग की प्रक्रिया चलती थी । अगले अध्याय में इसी विषय पर विचार किया गया है ।

अध्याय 1 के प्रमाण-स्रोत

टिप्पणी : प्रमाण-स्रोतों पर दी गई इन टिप्पणियों में इन स्रोतों के उल्लेख के लिए संक्षिप्तियों या मुख्य शब्दों का प्रयोग किया गया है । ये संक्षिप्तियां और मुख्य शब्दों का परिशिष्ट 'इ' में वर्णानुक्रम से स्पष्टीकरण दिया गया है ।

अनुच्छेद 1—'इंडिया' शब्द के विभिन्न अर्थों के विवरण के लिए 'हाव्सन-जाव्सन' में इसी शीर्षक के अंतर्गत दिया गया लेख देखा जा सकता है । इस काल में 'विजयनगर' से ठीक ठीक क्या समझा जाता था, इसके लिए देखिए सेवेल, 'पृष्ठ 199 और आगे । धर्म-प्रचार कार्य के निमित्त 1598 में की गई अपनी यात्रा का वृतांत देते हुए फादर एन० पिमेंटा ने लिखा है कि विजयनगर राजधिराज माना जाता था (हे 741) और उसी वर्ष फादर साइमन सा ने भी शाही दरबार के निरीक्षण का ब्योरा दिया है (हे, 762 और आगे) ।

अकबर के साम्राज्य के गठन का अंदाजा 'आइन' और 'अकवरनामा' के विस्तृत अध्ययन से प्राप्त किया जा सकता है । इस विषय पर प्रकाश डालने वाले कुछ अनुच्छेदों की चर्चा जनाब यूसुफ अली और प्रस्तुत लेखक ने जर्नल आफ द रा० ए० सो० (जनवरी, 1819, 'अकवर्स लैंड रेवेन्यू सिस्टम' आदि) में की है। जहां तक छोटे-छोटे भारतीय राज्यों का संबंध है, पश्चिमी तट की स्थिति का अध्ययन बाद के डिकाडास (X-XII) में किया जा सकता है और इसी ग्रंथ में पूर्वी तट पर पुर्तगालियों के कार्यकलाप का उल्लेख भी बार-बार मिलता है। साथ ही इसके लिए 'हे, 737' भी देखा जा सकता है। उड़ीसा के दक्षिण हिंदू राज्यों के अस्तित्व का उल्लेख जहांगीर (तुजुक, 1,117) ने किया है। कूच के लिए देखिए 'आईन' (अनुवाद, ii, 117) में बंगाल का 'विवरण', फिच का यात्रा विवरण (परकास, II. X. 1736) और 'हाव्सन-जाव्सन' (कूच विहार शीर्षक देखिए।

मुगल साम्राज्य की सीमांकन के लिए मैंने मि० विंसेंट स्मिथ की कृति 'अकवर द ग्रेट मुगल' के पृष्ठ 322 के सामने दिए गए नक्शे का उपयोग किया है, लेकिन तफसील की बातें मुख्यत: 'आइन' और उसमें भी खास तौर से उसके बारह सूबों के विवरण वाले परिच्छेद की सहायता से दी हैं। सिंध से परे पहाड़ी क्षेत्र की अवस्था का स्पष्ट संकेत स्टील और क्राउथर आदि यात्रियों के यात्रा विवरणों (परकास, I, iv. 521) में दिया गया है।

जहां तक बंगाल के मेघना नदी के पूर्व के हिस्से का संबंध है, 'आईन' में दिए गए राजस्व क्षेत्रों में चटगांव तक के इलाकों को शामिल किया गया है (अनुवाद, ii. 139) और उसमें साम्राज्य के अंग के रूप में खुद चटगांव का उल्लेख दो बार हुआ है। (ii. 116, 125), लेकिन उसमें यह भी कहा गया है (ii, 119) कि बंदरगाह अराकान के कब्जे में था। पाइरार्ड (अनुवाद, i, 326) इस बंदरगाह में 1607 में गया तो उसने पाया कि अराकान का अधीनस्थ एक छोटा राजा उस पर काबिज था। किंतु लगता है कि जेसुइट मिशनरियों को—जिनका विवरण 1597-98 में फादर एन० पिमेंटा ने उद्धृत किया है (हे, पृ० 730-33,840,47) । हुगली से पूर्व की ओर मुगल क्षेत्राधिकार का कोई निशान दिखाई नहीं दिया था। इसके बजाय उनका वास्ता, वे

जिन इलाकों में गए उनके छोटे-छोटे राजाओं से पड़ा और उन्होंने 'आराकान, टिपेरा, कुकोमा और बंगाल के सबसे प्रबल और प्रतापी राजा से कुछ रियायतें प्राप्त कीं। ऊपर दी गई उपाधि से लक्षित होता है कि कम से कम डेल्टा के एक हिस्से पर तो उस राजा का अधिकार था ही।

जहां तक महानदी और गोदावरी के बीच के क्षेत्रों का संबंध है, उपर्युक्त मानचित्र में मि० विंसेंट स्मिथ ने गोंडवाना को (जो परवर्ती काल में मुगल प्रदेश था) अधिकांशतः स्वतंत्र और कुछ करदाता सरदारों के अधीन दिखाया है और इस क्षेत्र को वे उत्तर में इलाहाबाद तक ले गए हैं। 'आइन' के जिस 'विवरण' में आसपास के सूबों की सीमाओं का उल्लेख हुआ है, उससे मोटे तौर पर उक्त वर्णन की पुष्टि होती है। यह काफी हद तक निश्चित है कि इस क्षेत्र के बहुत से सरदारों ने अकबर की अधीनता स्वीकार नहीं की थी, लेकिन मैं इस इलाके को कुल मिला कर उसके साम्राज्य का वास्तविक अंग तो नहीं किंतु 'प्रभाव क्षेत्र' मानने के पक्ष में हूं।

भारत भूमि की जो आम तसवीर मैंने दी है वह वास्तव में प्रमाण-स्रोतों की सूची में शामिल किए गए सभी समकालीन लेखकों के विवरणों के अध्ययन से मेरे मन पर पड़ी छाप पर आधारित है और इसलिए इन संदर्भों का तफसीलवार उल्लेख आवश्यक नहीं है। दक्षिण भारत में यातायात के स्थल साधनों के अभाव का उल्लेख खास तौर से टैवर्नियर, 121 में किया गया है। वन-प्रांतों के विस्तार का उल्लेख 'इलियट, रेसेज, II, 149,' में हुआ है और प्रस्तुत लेखक के 'द एग्रीकल्चरल स्टैटिस्टिक्स आफ अकबर्स एम्पायर' शीर्षक निबंध में भी हुआ है, जो यूनाइटेड प्रोविन्सेज हिस्टोरिकल सोसाइटी के जर्नल में प्रकाशित किया जा रहा है।

जहांगीर ने उत्तरी भारत के क्रीड़ा के बारे में बहुत कुछ कहा है, मूल पाठ में जो अनुच्छेद उद्धृत किया गया है वह 'तुज़ुक' I,190 से लिया गया है। भारतीय नगरों से संबंधित पहलू का मान्सेराट ने जो संक्षिप्त विवरण दिया है वह उसकी कृति के पृष्ठ 651 पर है। दुर्भाग्य से इस सावधान पर्यवेक्षक की रुचि ग्रामीण क्षेत्रों की अपेक्षा शहरों में अधिक जान पड़ती है।

पड़ोसी देशों के संबंध में सामान्य प्रमाण स्रोतों की अनुपूर्ति के लिए कुछ और भी संदर्भ दिए जा सकते हैं। अन्य लेखों के साथ-साथ स्टील और क्राउथर (परकास I,iv, 522 और आगे) समकालीन फारस के बारे में कुछ बताते हैं; भारत के उत्तर के देश के लिए तो यूल्स कैथी अनिवार्य ही है। भारत से चीन तक के थल मार्गों का वर्णन हे, 798 और आगे के पृष्ठों में प्रकाशित पत्रों में हुआ है। पेगू के ध्वंसावशेष का उल्लेख कई लेखकों ने किया है। विस्तृत विवरण फादर ए० बोव्स (हे, 850) ने दिया है और इस विषय पर कुछ अन्य जानकारी के साथ उसके पत्र के एक हिस्से का अनुवाद परकास (II, X, 1748) में दिया गया है। दसवें और बारहवें डिकाडास में पेगू के संबंध में बहुत सी तफसीलें बिखरी पड़ी हैं। महानता में सिर्फ मुगल सम्राट से कम पड़ने वाले राजा के रूप में आराकान के राजा का वर्णन पाइराडं (अनुवाद, I, 326) में हुआ है, लेकिन बहुत यथातथ्य लिखने वाले इस लेखक ने यह स्पष्ट कर दिया है कि अपने चटगांव प्रवास की अल्प अवधि में वह उतना ही जान पाया, जितना उसे बंदरगाह पर बताया गया, और उसने तफसील की जिन बातों को लिपिबद्ध किया है उनकी सत्यता के संबंध में वह कोई जिम्मेदारी लेने को तैयार नहीं है।

अनुच्छेद २ : फ्रांस की आबादी के संबंध में मैं लीवासियर, को प्रमाण मान कर चला हूं और इंग्लैंड की आबादी के संबंध में मैंने 'कनिंघम', I, 331 (टिप्पणी) और लंदन विश्वविद्यालय में आर्थिक इतिहास की रीडर मिसेज सी०एम० नोल्स के सुझावों से मार्गदर्शन लिया है। सामान्य तौर पर आबादी के संबंध में पाठ में जो कथन उद्धृत किए गए हैं वे इन प्रमाण स्रोतों से लिए गए हैं—मेजर (कांटी 96, अब्दुर्रजाक, 32, निकितिन 14) रोवेल 237, हे. 735-38, बारबोसा, 294, थेवनो, 104, 129, 231, 312, टैवर्नियर, 336, और आगे, डेला वेल, 30, मैनरिक, 61, 69, परकास (फिंच I, IV 423, और आगे, स्टील और क्राउथर, I, IV, 520, और आगे) फिंच II, X, 1734 और आगे), मंडी II, 55, 245, लेकिन ये और अन्य यात्री जिन प्रदेशों से होकर गुजरे उनका सही स्वरूप जानने के लिए उनके पूरे विवरण पढ़ना वांछनीय है।

भारतीय नगरों के संदर्भ के लिए देखिए जोर्डन, 162, सेवेल, 256, बर्नियर, 282, 284, मान्सेरेट, 622, परकास (कोर्याट I, iv, 493 और आगे, फिंच, II, X, 493, और आगे फिंच, II, X, 1733)। गौड़ के विस्तार के संबंध में अतिरंजित कथन फारिया वाइ सूजा i, 415 में मिलेंगे। बैरास का अनुमान डिकाडास, IV, IX, अ० 1 में है और 'हाब्सन-जाब्सन' में गौड़' शीर्षक के अंतर्गत उद्धृत है।

विजयनगर की सेना के आकार के लिए देखिए, सेवल, 147-50, और उससे बताए गए प्रमाण ग्रंथ भी। सैनिक सेवा से मुक्ति के लिए देखिए, वही 279। अपर्याप्त सेना रखने से संबंधित जानकारी के लिए भी देखिए, वही, 384 । अकबर की सेना के आकार का विवेचन, इर्विन, 87, और आगे के पृष्ठों में किया गया है और इससे संबंधित तथ्य-आंकड़े 'आइन' में कई अनुच्छेदों में बिखरे हुए हैं, प्रस्तुत लेखक ने 'आइन' में कृषि संबंधी आंकड़ों का जो अध्ययन किया है उसका उल्लेख ऊपर अनुच्छेद 1 में हुआ है।

अनुच्छेद ३ : जातिप्रथा का उल्लेख तो भारत का वर्णन करने की कोशिश करने वाले प्रायः सभी लेखकों ने किया है। पारसियों के लिए देखिए, टेरी, 377; मंडी, II, 306; मांसेरेट, 550; थेवनो, 46; गार्सिया द ओर्टा, 445; जोर्डन 128।

भारतीय बंदरगाहों पर उपस्थित मुसलमानों का उल्लेख 'बारबोसा' (सर्वत्र) से लेकर बाद के सभी विवरणों में मिलता है। अफ्रीका में उनकी बस्तियों के लिए देखिए, डिकाडास, X, I, 42, और अन्य पृष्ठ भी। मलयेशिया में इस्लाम के प्रसार का विवरण क्लिफर्ड के 'फरदर इंडिया', 16 और आगे तथा 'जर्नल आफ द रा०ए० सो०' (स्टेट्स शाखा) के दिसंबर, 1917 के अंक में आर० ओ० विंडस्टेड के निबंध में देखा जा सकता है। पश्चिमी तट के मुसलमानों की स्थिति का वर्णन ह्वाइटवे (3 और आगे तथा अन्यत्र सब जगह) ने किया है, गोआ के मुसलमानों के लिए देखिए, परकास II, X, 1758, और विजयनगर के मुसलमानों के लिए सेवेल, 256, देखिए। उत्तरी भारत के मुसलमानों की स्थिति की जानकारी समकालीन ऐतिहासिक वृतांतों से प्राप्त की जा सकती है जिनके प्रासंगिक अंश हमें इलियट, हिस्ट्री, IV-VI में मिलते हैं। इसके अलावा 'अकबरनामा' और 'आइन' भी देखिए।

भारत स्थित पुर्तगालियों का सामान्य विवरण ह्वाइटवे और डेनवर्स में दिया गया है लेकिन अधिक तफसीलवार जानकारी के लिए 'डिकाडास' तथा अन्य समकालीन लेखकों के ग्रंथ देखना आवश्यक है। इस काल में उनके अधीनस्थ इलाकों की जानकारी के लिए देखिए, डिकाडास X, I, 42 और आगे, जहां पश्चिमी तट की स्थिति से

पूर्वी तट की स्थिति का अंतर स्पष्ट बताया गया है। सिंधु के लिए देखिए, परकास I, IV, 496, गंगा और चटगांव के लिए देखिए, विशेषतः हे, 727-33 840-47, और पाइरार्ड, अनुवाद, I, 334, भी.

अकबर के दरबार में मौजूद मिशनरियों के लिए देखिए वि० स्मिथ, अकबर में दिया गया पूरा विवरण और उसमें दिए गए संदर्भ खास तौर से मांसेरेट। ग्रामीण क्षेत्रों में पुर्तगालियों से मुलाकात के उल्लेख के लिए देखिए, टेरी पृष्ठ 154.।

भारत में विदेशियों की उपस्थिति का उल्लेख प्रसंगवश अधिकांश प्रमाण-स्रोतों में हुआ है। उदाहरण के लिए देखिए, गार्सिया दा ओर्टा, 442, और परकास I, IV, 427 में फिंच। पाइरार्ड (अनुवाद II, 38) में गोआ में 'अच्छी-खासी तादाद में' चीनियों और जापानियों की उपस्थिति का उल्लेख है और फादर पिमेंट ने लिखा है (हे, 832) कि मलाबार के प्रसिद्ध जलदस्यु ने अपने यहां एक चीनी सचिव रखा था।

संदर्भ

1. लेकिन चीन के साथ मुख्यतः जल मार्ग से संपर्क रखा जाता था जिसका वर्णन बाद के अध्याय में किया जाएगा।
2. उद्धरण पोर्तगीज एशिया, भाग-1, पृष्ठ 415, के अनुवाद से लिया गया है। ओरिक्सा तो बेशक उड़ीसा है, बिसनगर विजयनगर है, दिल्ली मुगल साम्राज्य है और कू शायद कूच राज्य है, जिसका उल्लेख पिछले अनुभाग में किया गया है।
3. इस काल के आसपास यूरोपीय नगरों की आबादी पर हैंडलर्टरबक डी स्टाट्स्वी सेनस्चैपटन, II, पृ० 882-98, में विचार किया गया है। लेवासोइट ने पेरिस की आबादी के बारे में कई अनुमान पेश किए हैं, जिनमें से सबको मिलाकर विचार करें तो 1600 में उसकी अधिकतम जनसंख्या चार लाख बैठेगी। 'हिस्ट्री आफ द सिटी आफ रोम इन द मिड्ल एजेज' (अनुवाद हैमिल्टन, VIII, पृ० 407) में ग्रिगरोवियस ने स्पष्ट ही अपनी सहमति व्यक्त करते हुए 1520 के आसपास के रोम की आबादी के बारे में पेश किए गए एक अनुमान को उद्धृत किया है, जिसके अनुसार उसकी जनसंख्या 85,000 थी। पाइस ने विजयनगर का जो विवरण दिया है वह भी लगभग इसी काल से संबंधित है। पाइस भी कहता है। (सेवेल, पृ० 290) कि विजयनगर में एक लाख से अधिक घर थे। इसका मतलब यह हुआ कि वहां की आबादी पांच लाख या इससे कुछ अधिक रही होगी, और शायद यथार्थ संख्या दोनों संख्याओं के बीच हो।
4. हम यह मान सकते हैं कि तालीकोट के मैदान में सम्राट के सभी व्यक्तिगत सैनिक उपस्थित थे, लेकिन संपूर्ण सेना की तुलना में उसका अनुपात बहुत कम था। इससे चालीस वर्ष पूर्व जब रायचूर पर आक्रमण किया गया था उस समय लड़ाई में शामिल व्यक्तिगत सेना के दस्ते के सैनिकों की संख्या 46,000 थी, लेकिन इस अवसर पर जो सेना जुटाई गई थी वह इसी प्रयोजन के लिए खड़ी की गई अस्थायी सेना थी। (सेवेल पृ० 327), और इसके कुल सैनिकों की संख्या, जैसा कि बारबोसा बताता है (पृ० 300), शायद 1,00,000 थी। इस अंश के अपने अनुवाद में (I, 211, टिप्पणी) लॉंगवर्थ डेम्स इसे प्रशिक्षित सेना के सदस्यों की कुछ संख्या मानते हैं, लेकिन मैं इसे व्यक्तिगत सेना मानता हूं, जिसका वेतन सामंत सरदार नहीं बल्कि सम्राट देता था। बारबोसा (पृ० 300) कहता है कि इतने सैनिकों को सम्राट 'बराबर वेतन देता था', और आगे कहता है (पृ० 306) कि सम्राट की यात्रा के दौरान इतने ही सैनिक उसके साथ होते थे। विजयनगर के विवरण में उसके सामंतों द्वारा जुटाई गई सैनिक टुकड़ियों का उसने उल्लेख नहीं किया है।
5. जिन आधुनिक प्रशासनिक इकाइयों की आबादी कूती गई है उनको ध्यान में रखकर इस क्षेत्र की ठीक-ठीक सीमा बताना आसान नहीं है, लेकिन यह संख्या प्रायः निश्चित ही छः और सात करोड़ के बीच थी।

2
प्रशासन

प्रशासन का स्वरूप

प्रशासन शब्द से आशय उस संगठन और उन तरीकों से है जिनके सहारे राज्य अपने लक्ष्यों को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है, और इसीलिए किसी भी काल में प्रशासन का स्वरूप बहुत हद तक उद्दिष्ट लक्ष्यों पर निर्भर होता है। अकबरकालीन भारत में दो लक्ष्य सर्वोपरि थे। एक, पर्याप्त मात्रा में कर लगाना और उगाहना और दूसरा, सेना के लिए पर्याप्त सैनिक दस्ते जुटाना। ये दोनों बुनियादी कार्य बहुत अंश तक अधिकारियों के एक ही समूह के हाथों में थे, हालांकि इन अधिकारियों को राज्य के शेष कर्तव्यों में से भी अधिकांश का निर्वाह करना पड़ता था और खास कर आंतरिक शांति सुव्यवस्था कायम रखनी पड़ती थी। इस प्रकार प्रशासन केंद्रीकृत या एकात्मक था, जैसा कि भारत में आज भी है, यद्यपि विभागों की बहुलता, न्यायिक तथा कार्यपालिका विषयक कार्यों के आंशिक पृथक्करण और प्रारंभिक ढंग के स्थानिक स्वशासन के समावेश के कारण आज प्रशासन का वह एकात्मक स्वरूप स्पष्ट लक्षित नहीं होता। भारतीय प्रशासन प्रणाली का मूलाधार था; राज्य का विभिन्न आकार के सूबों या जिलों में विभाजन तथा केंद्र के आदेशों का पालन करने के लिए प्रत्येक क्षेत्र में अधिकारियों की नियुक्ति। नियुक्ति की शर्तें अलग-अलग होती थीं, लेकिन देश की सभी नियुक्तियों को दो में से या तो एक या दूसरे वर्ग में रखा जा सकता है। इन दोनों वर्गों का अंतर 'कच्चा' और 'पक्का' या उसके फारसी पर्याय 'खाम' और 'पुख्ता' शब्दों में निहित था। जो अधिकारी कच्चे तौर पर पदासीन रहता था उसे कम से कम सिद्धांततः एक निश्चित राशि वेतन में दी जाती थी, और उसे अपने द्वारा उगाहे सारे राजस्व का हिसाब अपने से ऊपर के अधिकारी को देना पड़ता था। दूसरी ओर जो अधिकारी पक्के तौर पर पदासीन होता था उसे अपने से ऊपर के अधिकारी को एक निश्चित राशि देनी पड़ती थी और इस राशि से अधिक वह जितना भी वसूल कर सकता था उसे अपने पास रखने का उसको अधिकार होता था। अकबर के काल में नियुक्ति की ये दोनों पद्धतियां प्रचलित थीं, लेकिन जो जानकारी उपलब्ध है उससे प्रकट होता है कि पहली पद्धति उत्तर भारत में प्रचलित थी और दूसरी दक्षिण भारत में।

नुनिज के विवरण से ज्ञात होता है कि विजयनगर का क्षेत्र साम्राज्य के सामंतों के बीच बंटा हुआ था। उसका कहना है कि ये सामंत पट्टेदारों के समान हैं, जिन्होंने राजा से सारी जमीन पट्टे पर ले रखी है, वे राजा को प्रतिवर्ष राजस्व के तौर पर 60 लाख देते हैं। उनका कहना है कि जमीन से 120 लाख की आमदनी होती है, जिसमें से 60 लाख उन्हें राजा को देना होता है और बाकी वे अपने पास रखते हैं, जिससे वे उन सिपाहियों और हाथियों का खर्च चलाते हैं जिन्हें रखना उनका कर्तव्य है। इस कारण

आम लोगों को बहुत मुसीबतें झेलनी पड़ती हैं, क्योंकि जमीन के मालिक बड़े अत्याचारी हैं। दूसरे शब्दों में, जिस सामंत को कोई इलाका दे दिया जाता था उसे राजा को एक निश्चित राशि देनी पड़ती थी और उसके लिए कुछ सैनिक भी जुटाने पड़ते थे। जब तक वह इन कर्तव्यों का निर्वाह करता रहता था, तब तक वह अपने इलाके में चाहे जो कर सकता था। इस विवरण का संबंध सोलहवीं सदी के आरंभिक हिस्से से है, लेकिन यह संभव है कि यह पद्धति बाद में भी कायम रही हो;[1] और अंत में इस साम्राज्य के पतन का मतलब सिर्फ यह था कि स्थानीय सरदारों ने निर्धारित राजस्व देना बंद कर दिया, और इस तरह वे उन क्षेत्रों के स्वतंत्र स्वामी बन गए, जिन पर वे पहले से ही काबिज थे।

सोलहवीं सदी के अंत में दकन के राजाओं में प्रचलित शासन प्रणाली के विवरण उपलब्ध नहीं हैं। बारबोसा ने लिखा है कि दकन का पूरा राज्य मूर (मुसलमान) जमींदारों में बंटा हुआ था और राजा राजकाज में कोई दिलचस्पी नहीं लेता था, लेकिन यह वर्णन बहमनी सल्तनत के अंतिम दिनों की स्थिति पर लागू होता है। बहमनी सल्तनत तब बड़ी तेजी से बिखर रही थी। जिन नये राज्यों का उदय हो रहा था, उनमें भी राजकाज स्थानीय सामंतों और जमींदारों के भरोसे छोड़ देने का चलन था, ऐसा निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। फिर भी इसमें संदेह नहीं कि सत्रहवीं सदी के मध्य तक गोलकुंडा के सरदार बहुत हद तक स्वतंत्रता का उपभोग करने लगे थे। मुगल क्षेत्र से दकन पहुंचने पर थेवनो ने कर वसूल करने वाले अधिकारियों की उद्दंडता स्पष्ट लक्ष्य की थी। ये अधिकारी उन जागीरदारों की ओर से काम करते थे जिन्हें अपनी जागीरों में स्थित गांव अनुदान में मिले थे। आगे चल कर थेवनो ने लिखा कि राजा सबसे ऊंची बोली बोलने वाले को या अपने प्रिय पात्र को अनुदान में जमीन देता है और ये सरदार अपनी जागीरों में बसने वाले लोगों से 'असाधारण कर—महसूल वसूल करते हैं।' केंद्रीय सरकार की कमजोरी के कारण कभी-कभी वे राजधानी में भी अत्याचार करने से बाज नहीं आते थे। बेशक, यह भी संभव है, कि थेवनो द्वारा वर्णित स्थिति उसके लिखने के कुछ समय पूर्व ही प्रकट हुई हो। लेकिन मैं मानता हूं, ज्यादा संभावना इसी बात की है कि यह वस्तुस्थिति काफी लंबे समय से चलती आ रही हो और हमारा यह सोचना भी गलत न होगा कि बंबई से होकर गुजरने वाले अक्षांश के दक्षिण में स्थित भारत पर इन सरदारों का ही शासन था। जब तक ये लोग राजा को राजस्व देते रहते थे और वांछित संख्या में सैनिक तैयार रखते थे तब तक वे अपने-अपने इलाकों में चाहे जैसा व्यवहार कर सकते थे। इसमें संदेह नहीं कि उनके ऐसे आचरण की सजा देने और उन्हें अपदस्थ करने की राजा या सम्राट के पास असीम क्षमता थी, किंतु इसका प्रयोग कहां तक होता था, यह बात राजा के व्यक्तित्व पर निर्भर थी। मोटे तौर पर यही मानना चाहिए कि इसका प्रयोग नहीं किया जाता था और देश के दैनिक कार्य व्यापार में इसका महत्व अपेक्षाकृत कम ही था।

मुगल साम्राज्य में स्थिति इस अर्थ में भिन्न थी कि उसके अमलों की नियुक्ति जिन शर्तों पर की जाती थी, उनके लिए आमतौर पर 'कच्चा' विशेषण का प्रयोग हुआ है और इसके अलावा अकबर के अधीन विभागीय संगठन का भी प्रारंभिक रूप स्थापित हो चुका था। अकबर ने अपने साम्राज्य को सूबों में बांट दिया था और सूबेदार अपने अधीनस्थ सूबे के सभी प्रशासकीय कार्यों के लिए जिम्मेदार होता था। लेकिन वास्तविक प्रशासनिक इकाई सरकार या जिला था, जिसमें से प्रत्येक में एक फौजदार

या सैनिक प्रधान नियुक्त होता था, जो राजस्व उगाहने वाले अधिकारी अमलगुजार से सर्वथा भिन्न होता था। फिर, मुख्य नगर और बंदरगाह अलग-अलग अधिकारियों के हाथों में होते थे। किंतु यदि संपूर्ण साम्राज्य की दृष्टि से देखें तो आज की तुलना में अधिकारियों का वर्गीकरण अत्यंत प्रारंभिक अवस्था में था। जैसा कि पिछले अध्याय में कहा गया है, प्रशासन का आदर्श राज्य और किसानों के बीच सीधे संबंध के लिए अधिक अनुकूल था। कराधान का नियंत्रण सीधे केंद्र से होता था और जितनी वसूली होती थी उस सबके लिए अधिकारियों को हिसाब देना पड़ता था। लेकिन इस बात के अनेक संकेत मिलते हैं कि इस आदर्श को पूरी तरह व्यवहार में नहीं उतारा जाता था और यह संभव है कि जहां जमींदारों के हाथों में प्रशासन छोड़ दिया जाता था, वहां वे केंद्रीय शासन के प्रति सिर्फ राजस्व की अदायगी के लिए ही जिम्मेदार होते थे।

मुगल साम्राज्य में राजस्व वसूल करना और सेना जुटाना, ये दोनों दायित्व एक दूसरे से जुड़े हुए थे। हर सरकार जिले का प्रशासन साम्राज्य की सेवा के लिए स्थानीय सेना, जिसे 'बूमी' कहते थे, तैयार रखने के लिए जिम्मेदार होता था। इस सेना में मुख्यत: पैदल सिपाही होते थे, लेकिन कुछ घुड़सवार और हाथी और कुछ इलाकों में तोपें और नौकाएं भी शामिल थीं। वास्तव में लड़ने वाले सैनिकों में से अधिकांश की व्यवस्था किंचित भिन्न पद्धति से की जाती थी। इस पद्धति के अंतर्गत राज्य के अधिकारियों पर अपने वेतन के अनुपात में सैनिक दस्ते रखने की जिम्मेदारी होती थी। यह जिम्मेदारी व्यक्तिगत होती थी और कोई अधिकारी किस क्षेत्र में नियुक्त किया जाता है, इससे इस दायित्व का कोई संबंध नहीं था। इस संगठन की चर्चा आगे के एक अध्याय में की गई है और अभी इतना ही कह देना काफी होगा कि अकबर की प्रणाली इस अर्थ में तो दक्षिण की पद्धति के समान थी कि इसमें भी स्थानीय अधिकारियों से एक निश्चित संख्या में सैनिक जुटाने की अपेक्षा की जाती थी, लेकिन अकबर के तंत्र का मुख्य आधार वे सैनिक दस्ते थे, जो अपेक्षाकृत अधिक प्रत्यक्ष रूप से सम्राट के अनुशासन के अधीन थे।

न्याय संगठन के क्षेत्र में इस काल में नगण्य प्रगति हुई थी। लोगों की व्यक्तिगत शिकायतें दूर करना राजा या सम्राट का अर्थात व्यवहारत: कार्यपालिका का काम था। अकबर ने न्याय अधिकारी भी रख छोड़े थे जिन्हें काजी और मीर अदल कहा जाता था, लेकिन उनके अधिकार क्षेत्र का ठीक-ठीक वर्णन उपलब्ध नहीं है,[2] और मुझे ऐसा लगता है कि वे मुख्यत: मुस्लिम कानून के अंतर्गत उठने वाले मामले ही निपटाया करते थे। जो भी हो, यात्रियों और पर्यटकों ने जिन दीवानी और फौजदारी मुकदमों का विवरण दिया है वे आम तौर पर कार्यपालक अधिकारियों के सामने पेश किए गए थे। मुकदमों की सुनवाई करने वाला यह कार्यपालक अधिकारी मुख्यत: कोतवाल या नगर शासक होता था। इस अधिकारी को हम विजयनगर, दकन और उत्तर में भी देखते हैं और इसके कार्यों के संबंध में हम इसी अध्याय के तीसरे विभाग में विचार करेंगे।

न्याय व्यवस्था

प्रशासनिक ढांचे की तफसीलों का विवरण आर्थिक दृष्टिकोण से अपेक्षाकृत कम महत्व रखता है। व्यापारी या उत्पादक का संबंध मुख्यत: इन प्रश्नों से होता है

क्या न्याय प्राप्त किया जा सकता है और किया जा सकता है तो कैसे ? क्या नगर रहने और कारोबार चलाने की दृष्टि से निरापद हैं ? मनुष्यों और वस्तुओं का परिवहन जिन परिस्थितियों पर निर्भर है, वे कैसी हैं ? इन प्रश्नों के उत्तर विदेशी यात्रियों के विवरण में ढूंढे जाने चाहिए, क्योंकि देश के समकालीन ऐतिहासिक विवरणों में इस तरह की बातों को बहुत साधारण मानकर छोड़ दिया जा सकता है, और इन विवरणों में जहां इनके उल्लेख हैं वहां भी बातें यदि चाटुकारिता के रंग में न भी रंगी हुई हों तो भी तुलानात्मक दृष्टिकोण तो उनमें बिलकुल नहीं होता । विदेशी यात्रियों ने जो कुछ भारत में देखा उसकी तुलना अपने देश की स्थिति से की । यहां इस बात को ध्यान में रखना आवश्यक है कि 1600 ई० के आसपास पश्चिमी यूरोप आज से बहुत भिन्न था। उदाहरण के लिए, यह नहीं कहा जा सकता कि उन दिनों इंग्लैंड में न्यायिक ईमानदारी और निष्पक्षता भली-भांति प्रतिष्ठित हो चुकी थी, और जहां तक यात्रा में आधुनिक सुरक्षा का संबंध है, वह तो रेल प्रणाली के जन्म के प्रायः साथ-साथ ही आई। फिर भी, दृष्टिकोण विशेष से कोई विवरण जितना प्रभावित हो सकता है उसके लिए गुंजाइश रखते हुए भी इन विवरणों से हमें तथ्यों के रूप में इतना तो प्राप्त हो ही जाता है जिससे उन परिस्थितियों का एक सामान्य खाका बनाया जा सकता है जिसमें कारोबार चलाया जाता था।

अब हम यह विचार करें कि न्याय कहां तक सुलभ था । यदि कोई व्यापारी *किसी अनुबंध पर अमल करवाना चाहता था या कर्ज की रकम वापस पाना चाहता* था तो वह अपना मामला किसी पेशेवर वकील के सुपुर्द नहीं कर सकता था, क्योंकि तब वकालत का पेशा था ही नहीं। फलतः उसे खुद अदालत में हाजिर होकर अपने मामले की वकालत करनी पड़ती थी। ऊपर से देखने में तो यह स्थिति बहुत अच्छी लगती है, मगर दुनिया के अनुभवों से प्रकट होता है कि व्यवहार में यह व्यवस्था ठीक नहीं है । भारत के वादियों को जब यह बात अच्छी तरह मालूम रहती थी कि उनका पक्ष सही है, तब भी वे जानते थे कि उसकी सुनवाई के लिए रिश्वत या किसी न किसी प्रकार के प्रभाव का सहारा लेना ही होगा । वे मामले की सुनवाई करने वाले अधिकारी को कुछ देते थे या किसी प्रभावशाली व्यक्ति को उस अधिकारी से पैरवी करने को तैयार करते थे। इस काल के भारत में रिश्वतखोरी लगभग सब जगह फैली हुई थी। विजयनगर के संबंध में नुनिज यह बात साफ शब्दों में कहता है। सर टामस रो ने जहांगीर के दरबार में लगभग यही स्थिति देखी थी और इन दोनों लेखकों के कथनों में मुझे कहीं भी ऐसी कोई बात देखने को नहीं मिली है जो एक दूसरे के विपरीत हो । बेशक रो ने अपवादस्वरूप एक ऐसे व्यक्ति का उल्लेख किया है जो 'घूस देने वाला नहीं था और ईमानदार माना जाता था', लेकिन उसके विवरण में मुझे यही एकमात्र अपवाद स्मरण आ रहा है। उसी लेखक ने सिफारिश का एक बहुत अच्छा उदाहरण दिया है। मुगल साम्राज्य में ऐसी कोई अदालत नहीं थी जिसके जरिए अंग्रेज व्यापारी कर्ज में दी गई अपनी रकम वापस पा सकते थे, और पहले बहुत समय तक कार्यपालक अधिकारी इस मामले में बहुत कम दिलचस्पी लेते थे । लेकिन जब रो ने वजीर से मैत्री कर ली तब मामले बहुत तेजी से निबटने लगे। कोतवाल को आदेश दिया गया, जिसके अधीन देनदारों को बड़ी चुस्ती से जेलों में डाल दिया गया और वजीर ने उनकी आपत्तियों को सरसरी तौर पर सुन कर निबटा दिया। यदि यह मान लें कि वादी घूस या

प्रभाव के जोर पर अपने विरोधी को निरस्त कर देता था तो यह भी संभव प्रतीत होता है कि किसी भी मुकदमे का फैसला आज की अपेक्षा जल्दी प्राप्त कर लिया जा सकता था, लेकिन पहले उस बात का अनुमान लगाना अवश्य ही कठिन होता होगा कि अधिकारियों को कार्रवाई करने को प्रेरित करना ठीक होगा या नहीं।[3]

विदेशी पर्यवेक्षकों ने किसी भी प्रकार के लिखित कानून के अभाव की शिकायत की है, लेकिन हम निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते हैं कि यह देश के निवासियों के हक में बुरा था। सम्राट की इच्छा सर्वोच्च थी, लेकिन अकबरकालीन सरकारी अभिलेखों में ऐसी बहुत कम बातें मिलती हैं, जिन्हें दीवानी कानून कहा जा सकता है। हम ऐसा मान सकते हैं कि अदालतें और अधिकारी हिंदू और मुस्लिम कानून, रीति-परंपरा तथा अपने व्यक्तिगत दृष्टिकोणों के अनुरूप न्याय करते थे। लेकिन हर मामले में उन्हें इस बात का बराबर खयाल रहता था कि वे ऐसा कुछ न करें, जिससे सम्राट का कोपभाजन बनना पड़े। उस समय के शासक से लोग निजी तौर पर अपील कर सकते थे और ऐसे मामलों के विवरण उपलब्ध हैं जिनमें लोगों ने अपील करके न्याय भी प्राप्त किया था। लेकिन दूरियां बहुत अधिक थी और यात्रा कहीं-कहीं खतरनाक भी थी। असंतुष्ट वादी को निश्चय ही इस बात का भी विचार करना पड़ता होगा कि अपील पर जितना खर्च बैठेगा और उसमें जितना खतरा है, उसको देखते हुए यह जहमत उठाना ठीक भी है या नहीं। असफल अपीलकर्ता बहुत कठिनाई में भी पड़ सकता था। अपील करने वालों के उपयोग के लिए आगरे के शाही महल में टंगे प्रसिद्ध घंटे का वर्णन करने के बाद फिच कहता है : 'लेकिन पहले वे इस बात का भरोसा कर लें कि उनका मामला ठीक है, अन्यथा शाहंशाह को तकलीफ देने की गुस्ताखी के लिए वे सजा के भागी होंगे।' लगता है सर्वोच्च सत्ता से अपील करने की धमकी जब व्यक्ति के बजाय सामुदायिक रूप से दी जाती थी तब वह सबसे ज्यादा कारगर साबित होती थी। हमें राजस्व विभाग के अधिकारियों पर सामुदायिक दबाव के उल्लेख देखने को मिलते हैं, यह रिवाज देश की परंपरा में अब भी शेष है। रिवाज किस तरह काम करता था, इसका एक अच्छा उदाहरण हमें 1616 ई० के एक वृतांत में मिलता है। सूरत के चुंगीघर में काम करने वाले एक अधिकारी ने उस वर्ष एक प्रमुख हिंदू व्यापारी के साथ कुछ 'जोर जबरदस्ती' की। इस पर 'सभी व्यापारी एकत्र हो गए, उन्होंने अपनी दूकानें बंद कर दी और (अपनी रीति के मुताबिक) सूबेदार से आम ढंग से शिकायत करने के बाद वे यह कहते हुए नगर को छोड़ कर चल पड़े कि वे न्यायालय जा रहे हैं। लेकिन काफी आरजू-मिन्नत करके और उससे भी ज्यादा वायदे करके उन्हें वापस लाया गया।' इस तरह और किसी चीज का नहीं तो लोकमत का प्रयोग तो न्याय प्राप्ति के लिए किया ही जा सकता था, क्योंकि अधिकारियों को इस बात का ध्यान सबसे ज्यादा रहता था कि शाही दरबार में उनकी कोई बदनामी न हो।

दुनियादार लोगों को अपने पक्ष में फैसला पाने की फिक्र ज्यादा रहती है और इस बात में उनकी कोई खास दिलचस्पी नहीं रहती कि वह फैसला किस कानून पर आधारित है या वह किस प्रकार प्राप्त किया जाता है। मुगल साम्राज्य में फैसले के अमल का तरीका बहुत सख्त था। कर्जदार का माल-असबाब, घर-द्वार ही नहीं बेच दिया जाता था, उसे अपने परिवार और नौकर-चाकरों के साथ कैद भी कर लिया जाता था। उसे गुलाम की तरह बेच दिया जा सकता था या ऋणदाता के हाथों सौंप

दिया जा सकता था। ये तमाम प्रक्रियाएं कोई सहज ही नहीं चलती थी। उन्हें आरंभ करवाने के लिए और जब आरंभ हो जाए तब जारी रखवाने के लिए रिश्वत देना और प्रभाव का प्रयोग करना आवश्यक था। सामान्य निष्कर्ष यही निकलता है कि व्यक्ति अपने साथ किए गए अन्यायों के मार्जन की आशा तो राज्य से कर सकते थे, लेकिन पूरे मुकदमे पर सावधानी से नजर रखना जरूरी था, अन्यथा वह विफल हो सकता था या उससे मिलने वाले लाभ से ज्यादा नुकसान हो सकता था।

नगरों में सुरक्षा की स्थिति

नगरों में कारोबारी लोगों की स्थिति क्या थी ? इस प्रश्न का यही उत्तर होना चाहिए कि सब कुछ कोतवाल के व्यक्तित्व पर या जहां कोतवाल नहीं था वहां स्थानीय शासन के लिए जिम्मेदार आदमी के व्यक्तित्व पर निर्भर था। 'आइन-ए-अकबरी' में कोतवाल के कर्तव्यों का जो वर्णन किया गया है उससे प्रकट होता है कि वह आज की तरह सिर्फ नगर के पुलिस संगठन का प्रधान नहीं था। अपराध को रोकना और उसका पता करना उसका कर्तव्य था। लेकिन उसे अपराधी को दंड देने का भी अधिकार था। उसे बहुत से ऐसे काम भी करने पड़ते थे जो आज नगर निकाय करते है —कीमतों का नियमन करना और बेकारों को काम पर लगाना उसका फर्ज था। मोटे तौर पर उसका संबंध नगर के दैनिक जीवन की प्रायः हर छोटी-बड़ी बात से रहता था। इस संबंध में जो निर्देश उपलब्ध है वे किसी हद तक आलंकारिक भाषा में है और उन्हें अकबर का नगर शासन विषयक आदर्श मानना ही उचित होगा। वह आदर्श अकसर चरितार्थ भी किया जाता था, इस पर हमारा संदेह करना अनुचित न होगा। हां, इसमें कोई संदेह नहीं कि इन निर्देशों से लैस कोतवाल जब तक अपने वरिष्ठ अधिकारियों का विश्वासभाजन बना रहता था तब तक उसकी स्थिति एक बहुत ही शक्तिशाली तानाशाह की होती थी और वह नगर के किसी भी व्यक्ति के जीवन को सुखद या असह्य बना सकता था। रिश्वतखोरी और प्रभाव के प्रयोग की गुंजाइश निश्चय ही बहुत अधिक रही होगी, लेकिन ऐसा जान पड़ता है कि अधिकारियों से मैत्रीपूर्ण संबंध रखने की सावधानी बरतने पर इस काल के नगर आवास और कारोबार के लिए काफी हद तक अनुकूल थे और जिस हद तक व्यवस्था कायम रखी जाती थी उसकी विदेशी व्यापारियों पर कुल मिला कर अच्छी छाप पड़ी।

कोतवाल पदनाम का चलन उत्तर भारत और दकन दोनों क्षेत्रों में था। थेवनो ने गोलकुंडा के कोतवाल का वर्णन नगर के मुख्य अधिकारी और मुख्य न्यायाधीश के रूप में किया है। विजयनगर में किस पदनाम का प्रयोग होता था, मै नही कह सकता, लेकिन उस नगर का प्रशासन मूलतः उसी ढंग का था जिस ढंग के प्रशासन की व्यवस्था बाद में अकबर ने की। जो यात्री इस नगर में आए उन्होंने लिखा है कि चोर बहुत कम थे और विदेशी व्यापारियों की संपत्ति भली-भांति सुरक्षित थी। यहां विदेशियों की संपत्ति की सुरक्षा की जो बात कही गई है, जान पड़ता है, वह सामान्यतया सभी विदेशियों पर लागू होती थी। यदि यात्रियों की कोई क्षति होती या उन पर कोई अत्याचार किया जाता तो अवश्य ही उन्होने ऐसी घटनाओं का वर्णन किया होता। इसलिए इस विषय में उनके मौन का यह अर्थ लगाना अनुचित न होगा कि उनके पास शिकायत का कोई गंभीर कारण नही था। भारतीय व्यापारियों के अनुभव के विषय में

निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। इसमें कोई संदेह नहीं कि कोतवाल को व्यापक अधिकार प्राप्त थे, लेकिन उनका प्रयोग कितनी ईमानदारी से किया जाता था यह तो अनुमान का विषय ही रहेगा।

कोतवाल की स्थिति से संबंधित एक बात का उल्लेख कर देना आवश्यक है, क्योंकि लगता है, इसके कारण भारतीय नगरों में संपत्ति की सुरक्षा के संबंध में लोगों के मन में अतिरंजित धारणा बन गई। विभिन्न यात्रियों ने बताया है कि जो कोतवाल चुराई गई संपत्ति बरामद नहीं कर पाता था उसकी कीमत अदा करने को वह व्यक्तिगत रूप से जिम्मेदार था। यह यात्रियों द्वारा कहा गया कोई कोरा किस्सा नहीं है, क्योंकि अकबर के निर्देशों में भी कहा गया है कि कोतवाल या तो चुराई गई संपत्ति बरामद करे या स्वयं क्षतिपूर्ति करे। लेकिन चोरी के खिलाफ इस राजकीय बीमे का व्यावहारिक महत्व बहुत कम था। जब थेवनो सूरत में था, एक आरमीनियाई व्यापारी लूट लिया गया और कोतवाल अपराधियों का पता नहीं लगा सका। वह आरमीनियाई अपना मामला न्याय के लिए पेश करना चाहता था। सूबेदार ने कोतवाल से कहा कि किसी तरह का अपवाद या बदनामी नहीं होनी चाहिए। कोतवाल ने यह सुझाव रखा कि चुराई गई संपत्ति की सही कीमत का पता लगाने के लिए उस व्यापारी को शारीरिक यातना दी जाए। सूबेदार ने इस सुझाव पर स्वीकृति दे दी और मामला एकाएक खत्म हो गया, क्योंकि यातना की धमकी के कारण उस आरमीनियाई ने अपनी शिकायत वापस ले ली। थेवनो के ही शब्दों में : 'यह कोतवाल के आचरण का अच्छा नमूना है।'

गवाहों और संदिग्ध व्यक्तियों को शारीरिक यातना देना वास्तव में उन दो तरीकों में से एक था जिन पर पुलिस प्रशासन मुख्य रूप से आधारित था। यूरोप के कुछ हिस्सों में भी सचमुच यही स्थिति थी। प्रशासन के अमली रूप का विवरण देते हुए थेवनो ने इसका बहुत सटीक वर्णन किया है कि संदिग्ध व्यक्तियों को किस तरह कोड़े लगाए जाते थे। यह यातना कई दिनों तक चलती थी और अंत में या तो संदिग्ध व्यक्ति से अपराध कबूल करवा लिया जाता था या फिर संदेह का रुख किसी और की तरफ मोड़ दिया जाता था। यातना के अलावा जासूसी पर भी पुलिस निर्भर करती थी। जासूसी के संबंध में अकबर के निर्देश बहुत स्पष्ट और विशद हैं। उसके निर्देशों के अनुसार नगर के हर हलके में किसी गुमनाम निवासी को जासूस नियुक्त करना होता था, जासूसों को हर सराय में नवागंतुकों पर नजर रखनी होती थी, व्यक्तियों के जीवन पर कड़ी निगरानी रख कर उसकी छानबीन करनी होती थी, और मोटे तौर पर कहा जाए तो जो कुछ घटित होता था उसकी जानकारी रखना और उसके मुताबिक कार्रवाई करना कोतवाल का काम था।

सजाएं उतनी ही कड़ी थीं—बल्कि शायद उससे भी कठोर थीं—जितनी कि इस समय के यूरोप में थीं। इन सजाओं का स्वरूप सबसे अच्छी तरह 'तुजुके जहांगीरी' से उद्धृत एक दृष्टांत से उजागर होता है। इसमें कोतवाल द्वारा अहमदाबाद के एक अपराधी की गिरफ्तारी का वर्णन किया गया है : 'उसने पहले भी कई चोरियां की थीं और हर बार उसका कोई न कोई अंग काट फेंका गया था—एक बार दाहिना हाथ, दूसरी बार अंगूठा और बायां हाथ, तीसरी बार उसका बायां कान। चौथी बार उसके घुटनों की नसें काट कर उसे लंगड़ा बना दिया गया और आखिरी बार उसकी नाक काट

ली गई । इतने पर भी उसने अपना धंधा नहीं छोड़ा और कल चोरी के इरादे से एक घास वेचने वाले के घर में घुस गया। संयोग से घर का मालिक ताक में था और उसने उसे धर दबोचा । चोर ने अपने छुरे से उस पर कई वार प्रहार किया और उसे मार डाला। शोरगुल और भागदौड़ के बीच उस आदमी के संवंधियों ने चोर पर हमला किया और उसे पकड़ लिया। मैंने लोगों को उस चोर को मृत व्यक्ति के संवंधियों को सौंप देने का आदेश दिया, ताकि वे उससे वदला ले सकें।'

हम देखते हैं कि अपराध के दमन के संवंध में कोतवाल को वहुत अधिक सत्ता प्राप्त थी, क्योंकि अपराध का पता लगाने के वारे में उसे जो अधिकार प्राप्त थे उनका प्रयोग करने में उपर्युक्त किस्म की सजा देने की धमकी से भी वह काम ले सकता था। और हमें इस बात पर आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि विदेशी व्यापारियों को, जिनकी उपस्थिति का आमतौर पर सरकार भी स्वागत करती थी, जान-माल की असुरक्षा की आमतौर पर शिकायत नहीं थी। हालांकि आमतौर पर काफी शांति और सुव्यवस्था कायम रखी जाती थी, फिर भी भविष्य के संवंध में वरावर एक प्रकार का अनिश्चिय वना रहता था। सरकारें आज की अपेक्षा वहुत कम व्यवस्थित थीं और किसी शहर या सूबे का प्रशासन एकाएक ठप पड़ सकता था। वंगाल और काबुल में होने वाले विद्रोहों के कारण 1581 ई० तक अकवर का साम्राज्य गंभीर खतरे में रहा। गुजरात में 1584 ई० में भी विद्रोह हुआ। उसके बाद कुछ समय तक शांति रही। किंतु जहांगीर के शासन काल के प्रारंभिक वर्षों में दिल्ली से वंगाल तक कई इलाकों में आंतरिक अव्यवस्था फैल गई। सर टामस रो जव इस सम्राट के दरवार में राजदूत था तव उसने इन भावी असैनिक उपद्रवों को ध्यान में रख कर अंग्रेज व्यापारियों के लिए एक खास नीति निर्धारित कर दी थी, जिसमें उन्हें सलाह दी गई थी कि वे कर्ज कम दें और देश भर में विखरे रहने के वजाय कुछ स्थानों में एकत्र होकर रहें। ऐसी वातों का ध्यान भारतीय व्यापारी भी अवश्य रखते होंगे। सालबैंक नामक एक अंग्रेज व्यापारी ने आगरे में फैली 1616 ई० की महामारी का जो विवरण दिया है उससे प्रशासन के ठप होने के परिणामों का, शायद कुछ अंदाजा लगाया जा सकता है। सालबैंक कहता है कि 'कुछ अधर्मी दुष्टों के दुराचार के कारण किस प्रकार उसकी जान हर दिन खतरे में रहती थी। महामारी के भय से लोगों के अपने-अपने घरों से निकल जाने पर उनमें घुस कर वहां जो कुछ मिलता उस पर हाथ साफ करने में जरा भी नहीं हिचकते थे। ... और यह काम वे केवल उन्हीं घरों में नहीं करते थे जिन्हें छोड़ कर पूरा परिवार चला जाता था, बल्कि उन घरों में भी करते थे जिनमे अपने माल-असवाव की रक्षा करने के लिए वहुत थोड़े लोग रह जाते थे।' गरज़ यह कि अव्यवस्था फैलाने वाली शक्तियां राजधानी में भी विद्यमान थीं। वैसे तो आज भी ऐसी शक्तियां राजधानियों में सक्रिय रहती हैं लेकिन तव उनकी सक्रियता की संभावना अधिक थी और हर समझदार और व्यावहारिक व्यक्ति को वरावर उनका ध्यान रखना पड़ता था। जव तक प्रशासन दृढ़ रहता था तव तक तो उसे सिर्फ कोतवाल और उसके मातहत अधिकारियों से अच्छा संवंध वनाए रखना पड़ता था, लेकिन प्रशासन के ठप होने की संभावित स्थिति में अपनी सुरक्षा का कोई उपाय स्वयं करने के लिए उसे तैयार रहना पड़ता था।

गावों में सुरक्षा की स्थिति

बड़े नगरों को छोड़ कर अन्यत्न कोतवाल के दर्जे का कोई अधिकारी नहीं होता था और कम से कम मुगल साम्राज्य में शांति, सुव्यवस्था कायम रखने की जिम्मेदारी राजस्व अधिकारियों के कार्यों में शामिल थी। गांवों में सुरक्षा की व्यवस्था कहां तक थी, इसका अनुमान आमतौर पर सिर्फ यात्रियों के तत्संबंधी कथनों से ही लगाया जा सकता है। उनसे जो जानकारी मिलती है वह किसी भी तरह से पूरी नहीं कही जा सकती, लेकिन उसके आधार पर इतना कहा जा सकता है कि विभिन्न स्थानों पर और विभिन्न समयों में सुरक्षा की स्थिति अलग-अलग थी। इससे यह प्रकट होता है कि इसमें सबसे महत्वपूर्ण तत्व स्थानीय अधिकारियों का व्यक्तित्व ही था। इस संबंध में जो प्रमाण मिलते हैं उनका अध्ययन करते समय इस तथ्य के लिए अवश्य गुंजाइश रखनी चाहिए कि सत्रहवीं सदी के यात्रियों का स्तर आज के जैसा नहीं था। बटमारी यूरोप के लिए भी कोई अजूबा नहीं थी और भारत के लिए भी नहीं। जिन स्थितियों को आज लगभग असह्य माना जाएगा उन्हें जहांगीर काल का कोई यात्री संतोषजनक मान सकता था। इसके अलावा, उन दिनों भारत में विदेशियों को जिस निगाह से देखा जाता था उसके लिए भी गुंजाइश रखकर चलना पड़ेगा। अब तक उन्हें वह प्रतिष्ठा नहीं मिल पाई थी जो धीरे-धीरे बाद की दो सदियों के अनुभव के उपरांत मिली। अधिकारी वर्ग उन्हें महज ऐसे व्यापारी मानता था जिनके पास खरीदने लायक कुछ चीजें हो सकती थीं और शायद खर्च करने को कुछ पैसा अर्थात उनके प्रति अधिकारियों का रुख कुछ-कुछ तिरस्कारपूर्ण था और मेरी समझ में आम लोग उन्हें मुख्यतः खतरनाक अजनबी मानते थे। दूसरी ओर भारतीयों को आम यूरोपीय ऐसी नीची निगाह से नहीं देखते थे। उपलब्ध विवरणों से यूरोपीयों के संबंध में मन पर जो छाप पड़ती है वह यह है कि वे उदार दृष्टिकोण वाले लोग थे और जहां उन्होंने भारतीयों के संबंध में कोई प्रतिकूल बात कही है—जैसा कि सर टामस रो के विवरण के अंतिम हिस्से में देखने को मिलता है—वहां उसका आधार कोई पूर्वाग्रह नहीं बल्कि निजी अनुभव रहा है।[4]

उस काल के यूरोपीय व्यापारी अपनी यात्रा प्रायः उन्हीं हालातों में शुरू किया करते थे जिन हालातों में पारसी, अरब या भारत के अन्य भागों से आने वाले भारतीय यात्री किया करते थे, और यह मानना असंगत न होगा कि किसी खास स्थान और खास समय में उन्हें जैसा अनुभव प्राप्त हुआ वह उस स्थान और उस समय में होने वाले दूसरों के अनुभवों का एक नमूना पेश करता है।

इन अनुभवों के एक उदाहरण के रूप में हम विलियम फिंच नामक व्यापारी की यात्राओं का जायजा ले सकते हैं। उसकी यात्राओं का विवरण 'परकास हिज पिलग्रिम्स' में दिया गया है। तफसील की जो बातें फिंच को दिलचस्प लगती थीं, उन्हें वह बड़ी सावधानी से लिख लिया करता था, और उसके विवरण में मुझे पूर्वग्रह का कोई चिह्न दिखाई नहीं देता। वह ईस्ट इंडिया कंपनी के तीसरे खेवे के साथ इंग्लैंड से रवाना हुआ और अगस्त, 1608 ई० में भारत पहुंचा। सोलह महीने बाद उसने आगरा की यात्रा की ओर कंपनी का काम करते हुए उसने नौ महीने बिताए। वहां से वह लाहौर को चल पड़ा और लाहौर पहुंचने के साथ ही उसका यात्रावृतांत समाप्त हो जाता है, यद्यपि सुनी-सुनाई बातों के आधार पर उसने दूसरे मार्गों का भी वर्णन किया है।[5]

ली गई । इतने पर भी उसने अपना धंधा नहीं छोड़ा और कल चोरी के इरादे से एक घास बेचने वाले के घर में घुस गया । संयोग से घर का मालिक ताक में था और उसने उसे धर दबोचा । चोर ने अपने छुरे से उस पर कई वार प्रहार किया और उसे मार डाला । शोरगुल और भागदौड़ के बीच उस आदमी के संबंधियों ने चोर पर हमला किया और उसे पकड़ लिया । मैंने लोगों को उस चोर को मृत व्यक्ति के संबंधियों को सौंप देने का आदेश दिया, ताकि वे उससे बदला ले सकें ।'

हम देखते हैं कि अपराध के दमन के संबंध में कोतवाल को बहुत अधिक सत्ता प्राप्त थी, क्योंकि अपराध का पता लगाने के बारे में उसे जो अधिकार प्राप्त थे उनका प्रयोग करने में उपर्युक्त किस्म की सजा देने की धमकी से भी वह काम ले सकता था । और हमें इस बात पर आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि विदेशी व्यापारियों को, जिनकी उपस्थिति का आमतौर पर सरकार भी स्वागत करती थी, जान-माल की असुरक्षा की आमतौर पर शिकायत नहीं थी । हालांकि आमतौर पर काफी शांति और सुव्यवस्था कायम रखी जाती थी, फिर भी भविष्य के संबंध में बराबर एक प्रकार का अनिश्चिय बना रहता था । सरकारें आज की अपेक्षा बहुत कम व्यवस्थित थीं और किसी शहर या सूबे का प्रशासन एकाएक ठप पड़ सकता था । बंगाल और काबुल में होने वाले विद्रोहों के कारण 1581 ई० तक अकबर का साम्राज्य गंभीर खतरे में रहा । गुजरात में 1584 ई० में भी विद्रोह हुआ । उसके बाद कुछ समय तक शांति रही । किंतु जहांगीर के शासन काल के प्रारंभिक वर्षों में दिल्ली से बंगाल तक कई इलाकों में आंतरिक अव्यवस्था फैल गई । सर टामस रो जब इस सम्राट के दरबार में राजदूत था तब उसने इन भावी असैनिक उपद्रवों को ध्यान में रख कर अंग्रेज व्यापारियों के लिए एक खास नीति निर्धारित कर दी थी, जिसमें उन्हें सलाह दी गई थी कि वे कर्ज कम दें और देश भर में बिखरे रहने के बजाय कुछ स्थानों में एकत्र होकर रहें । ऐसी बातों का ध्यान भारतीय व्यापारी भी अवश्य रखते होंगे । सालबैंक नामक एक अंग्रेज व्यापारी ने आगरे में फैली 1616 ई० की महामारी का जो विवरण दिया है उससे प्रशासन के ठप होने के परिणामों का, शायद कुछ अंदाजा लगाया जा सकता है । सालबैंक कहता है कि 'कुछ अधर्मी दुष्टों के दुराचार के कारण किस प्रकार उसकी जान हर दिन खतरे में रहती थी । महामारी के भय से लोगों के अपने-अपने घरों से निकल जाने पर उनमें घुस कर वहां जो कुछ मिलता उस पर हाथ साफ करने में जरा भी नहीं हिचकते थे । ... और यह काम वे केवल उन्हीं घरों में नहीं करते थे जिन्हें छोड़ कर पूरा परिवार चला जाता था, बल्कि उन घरों में भी करते थे जिनमें अपने माल-असबाब की रक्षा करने के लिए बहुत थोड़े लोग रह जाते थे ।' गरज यह कि अव्यवस्था फैलाने वाली शक्तियां राजधानी में भी विद्यमान थीं । वैसे तो आज भी ऐसी शक्तियां राजधानियों में सक्रिय रहती हैं लेकिन तब उनकी सक्रियता की संभावना अधिक थी और हर समझदार और व्यावहारिक व्यक्ति को बराबर उनका ध्यान रखना पड़ता था । जब तक प्रशासन दृढ़ रहता था तब तक तो उसे सिर्फ कोतवाल और उसके मातहत अधिकारियों से अच्छा संबंध बनाए रखना पड़ता था, लेकिन प्रशासन के ठप होने की संभावित स्थिति में अपनी सुरक्षा का कोई उपाय स्वयं करने के लिए उसे तैयार रहना पड़ता था ।

गांवों में सुरक्षा की स्थिति

बड़े नगरों को छोड़ कर अन्यत्र कोतवाल के दर्जे का कोई अधिकारी नहीं होता था और कम से कम मुगल साम्राज्य में शांति, सुव्यवस्था कायम रखने की जिम्मेदारी राजस्व अधिकारियों के कार्यों में शामिल थी। गांवों में सुरक्षा की व्यवस्था कहां तक थी, इसका अनुमान आमतौर पर सिर्फ यात्रियों के तत्संबंधी कथनों से ही लगाया जा सकता है। उनसे जो जानकारी मिलती है वह किसी भी तरह से पूरी नहीं कही जा सकती, लेकिन उसके आधार पर इतना कहा जा सकता है कि विभिन्न स्थानों पर और विभिन्न समयों में सुरक्षा की स्थिति अलग-अलग थी। इससे यह प्रकट होता है कि इसमें सबसे महत्वपूर्ण तत्व स्थानीय अधिकारियों का व्यक्तित्व ही था। इस संबंध में जो प्रमाण मिलते हैं उनका अध्ययन करते समय इस तथ्य के लिए अवश्य गुंजाइश रखनी चाहिए कि सत्रहवीं सदी के यात्रियों का स्तर आज के जैसा नहीं था। बटमारी यूरोप के लिए भी कोई अजूबा नहीं थी और भारत के लिए भी नहीं। जिन स्थितियों को आज लगभग असह्य माना जाएगा उन्हें जहांगीर काल का कोई यात्री संतोषजनक मान सकता था। इसके अलावा, उन दिनों भारत में विदेशियों को जिस निगाह से देखा जाता था उसके लिए भी गुंजाइश रखकर चलना पड़ेगा। अब तक उन्हें वह प्रतिष्ठा नहीं मिल पाई थी जो धीरे-धीरे बाद की दो सदियों के अनुभव के उपरांत मिली। अधिकारी वर्ग उन्हें महज ऐसे व्यापारी मानता था जिनके पास खरीदने लायक कुछ चीजें हो सकती थीं और शायद खर्च करने को कुछ पैसा अर्थात उनके प्रति अधिकारियों का रुख कुछ-कुछ तिरस्कारपूर्ण था और मेरी समझ में आम लोग उन्हें मुख्यतः खतरनाक अजनबी मानते थे। दूसरी ओर भारतीयों को आम यूरोपीय ऐसी नीची निगाह से नहीं देखते थे। उपलब्ध विवरणों से यूरोपीयों के संबंध में मन पर जो छाप पड़ती है वह यह है कि वे उदार दृष्टिकोण वाले लोग थे और जहां उन्होंने भारतीयों के संबंध में कोई प्रतिकूल बात कही है—जैसा कि सर टामस रो के विवरण के अंतिम हिस्से में देखने को मिलता है—वहां उसका आधार कोई पूर्वाग्रह नहीं बल्कि निजी अनुभव रहा है।[4]

उस काल के यूरोपीय व्यापारी अपनी यात्रा प्रायः उन्हीं हालातों में शुरू किया करते थे जिन हालातों में पारसी, अरब या भारत के अन्य भागों से आने वाले भारतीय यात्री किया करते थे, और यह मानना असंगत न होगा कि किसी खास स्थान और खास समय में उन्हें जैसा अनुभव प्राप्त हुआ वह उस स्थान और उस समय में होने वाले दूसरों के अनुभवों का एक नमूना पेश करता है।

इन अनुभवों के एक उदाहरण के रूप में हम विलियम फिंच नामक व्यापारी की यात्राओं का जायजा ले सकते हैं। उसकी यात्राओं का विवरण 'परकास हिज पिलग्रिम्स' में दिया गया है। तफसील की जो बातें फिंच को दिलचस्प लगती थीं, उन्हें वह बड़ी सावधानी से लिख लिया करता था, और उसके विवरण में मुझे पूर्वग्रह का कोई चिह्न दिखाई नहीं देता। वह ईस्ट इंडिया कंपनी के तीसरे खेवे के साथ इंग्लैंड से रवाना हुआ और अगस्त, 1608 ई० में भारत पहुंचा। सोलह महीने बाद उसने आगरा की यात्रा की और कंपनी का काम करते हुए उसने नौ महीने बिताए। वहां से वह लाहौर को चल पड़ा और लाहौर पहुंचने के साथ ही उसका यात्रावृतांत समाप्त हो जाता है, यद्यपि सुनी-सुनाई बातों के आधार पर उसने दूसरे मार्गों का भी वर्णन किया है।'[5]

सूरत से आगरा तक के दो जाने-माने रास्ते थे। इनमें से पश्चिमी मार्ग अहमदाबाद और अजमेर से होकर गुजरता था और दूसरा पूर्वी बुरहानपुर और ग्वालियर से होकर। फिच ने दूसरा मार्ग चुना और ताप्ती के समांतर चलते हुए सोलह पड़ावों के उपरांत बुरहानपुर पहुंचा। पहली चार मंजिलों के बारे में तो उसने हमारी दिलचस्पी की कोई खास बात नहीं कही है। पांचवें कूच में वह एक ऐसे इलाके में पहुंचा जहां बहादुर रहता है और उसने कई मजबूत किले बनवा रखे हैं जिससे राजा की पूरी फौज भी उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकती[6]। छठे कूच में वह एक 'कष्टकर पथरीली नदी' से गुजरा और सातवें में वह बदूर (भदवार) में ठहरा, जो 'चोरों से भरा एक गंदा शहर' था। वह कहता है कि यह स्थान एक छोटे राजा के क्षेत्राधिकार की सीमा पर था। अकबर ने उस पर सात साल तक 'घेरा डाले रखा था', लेकिन अंत में समझौता करने को विवश हो गया था और समझौता करके उसने कुछ गांव उसके कब्जे में छोड़ दिए थे, 'ताकि वह इस क्षेत्र में अपने व्यापारियों की गतिविधियों के सुरक्षित रूप से चलने की व्यवस्था कर सके।' अगली मंजिल नन्दरबार नामक एक महत्वपूर्ण शहर था जिसके बारे में उसने और कुछ नहीं कहा है। उसके बाद एक 'भद्दा शहर आया, जिसमें चोर-उचक्के किस्म के लोग थे और एक गंदा-सा किला था।'

इससे आगे की यात्रा में वह एक 'बहुत बड़े गंदे शहर' में पहुंचा, जहां दूषित जल पीने से उसे पेचिश हो गई। इस बार उसे एक कठिन स्थिति का सामना करना पड़ा, जिसका उसने बड़े साहस से मुकाबला किया। 'रास्ते में लिंगुल (लिमगुल) के शासक ने (कुछ अन्य लोगों के साथ, जिनकी ईमानदारी का स्तर वही था जो उस शासक का था) मुझसे कुछ पैसे ऐंठने चाहे, लेकिन जब उसने देखा कि उसकी मांग का उत्तर बंदूकों से मिलने वाला है तब वह पीछे हट गया और हम लोग बिना किसी मुसीबत के अपनी-अपनी गाड़ियों में जा बैठे।'

अगले कूच में वह 'चोरों से भरे एक रास्ते' से गुजरा और उसके बाद नन्दरबार के शासक के एक कर्मचारी दल के साथ हो लिया। उन दिनों सड़कें बड़ी खतरनाक थीं, क्योंकि जहांगीर का सिपहसालार खान-खानां दकन में पराजित होकर बुरहानपुर लौट आया था, 'जिससे दकन वाले इतने उद्धत हो गए थे कि वे इस रास्ते पर हमले करते रहते थे और उन्होंने कई यात्रियों को नुकसान पहुंचाया था।' आगे के चार पड़ावों में फिच पेचिश से मरते-मरते बचा। अंत में वह बुरहानपुर पहुंचा, जहां जहांगीर की दकनी सेना का शिविर था और जिस पर इन दिनों हमले का खतरा था। 'शहर बहुत बड़ा लेकिन भद्दा था, और बहुत ही अस्वस्थ परिवेश में बसा हुआ था और वह एकदम श्रीहीन था।' उसके यहां पहुंचने के दो दिन बाद खबर आई कि जिन शहरों में वह ठहरा था उनमें से कुछ को शत्रुओं ने तहस-नहस कर डाला है। वह सौभाग्यशाली था कि अपनी यात्रा का वह हिस्सा वह पहले ही तय कर चुका था।

बुरहानपुर में सड़क ताप्ती छोड़कर पश्चिमोत्तर दिशा में मांडू और मालवा की ओर मुड़ गई। सतपुड़ा की पहाड़ियों और नर्मदा नदी को पार करता हुआ फिच विंध्य पर्वतमाला की खड़ी चढ़ाइयों को भी लांघ गया। रास्ता बहुत खराब था। एक के बाद एक आने वाली मंजिल का वर्णन उसने 'पथरीला और ढालुआं मार्ग', 'पथरीला और कष्टकर रास्ता', 'खराब रास्ता', 'चढ़ाई वाला रास्ता', इन शब्दों में किया है। मांडू पहुंचने के लिए 'खड़ी चढ़ाई वाले ऐसे पथरीले पहाड़' से होकर गुजरना पड़ा

'जिस पर रास्ता तो था लेकिन अधिक से अधिक एक गाड़ी के लिए।' मांडू के बाद एक खराब मंजिल आई और उसके बाद उज्जैन तक एक अच्छी सड़क मिली। फिच बुरहानपुर के सूबेदार के आदमियों के एक दल में शामिल हो गया था और इस मंजिल तक वह चोरों के बारे में कुछ नहीं कहता है। लेकिन पश्चिमोत्तर दिशा में ग्वालियर की ओर के अगले कूच में उसने 'रास्ते को बहुत पथरीला और चोरों से भरा हुआ' पाया और अगर फिच का दल समय पर न पहुंच जाता तो यात्रियों की एक मंडली को पहाड़ी डाकुओं ने लूट ही लिया होता। उसके बाद फिच ने दो और मंजिलें तय कीं, जिनमें कोई उल्लेखनीय घटना नहीं हुई। उनके बाद 'अंतिम पांच कोसों का रास्ता चोरों से भरा, पहाड़ी और पथरीला' था और कहीं कहीं 'सुखद समतल मार्ग' था (अगले तीन कूचों के बाद वह सिरोंज पहुंच गया। सिरोंज से सिपरी तक की यात्रा सुखद रही, लेकिन आखिरी दिन का रास्ता 'चोरों से भरा, पथरीला, पेड़ों से आच्छादित और एक स्थान पर रेगिस्तानी भी' था। यहां दो रात पूर्व 60-70 चोरों ने 150 पठान सिपाहियों को व्यापारियों का काफिला समझ कर आक्रमण कर दिया और इस तरह वे स्वयं उस गड्ढे में जा गिरे जो उन्होंने दूसरों के लिए खोदा था।' अगली मंजिल नरवर थी, जो पिछली से भी बदतर थी। यह 'रास्ता चोरों से भरा और दुर्गम तथा रेगिस्तानी था।' जंगल में पहरे के लिए चौकियां भी थीं, लेकिन पहरेदारों पर भरोसा नहीं किया जा सकता था, क्योंकि 'अक्सर साधु के वेश में चोर मिलते थे।' नरवर से ग्वालियर तक कोई घटना नहीं हुई, और ग्वालियर से आगरा तक सिर्फ चंबल की घाटियों में कुछ खतरा था। सूरत से आगरा तक की पूरी यात्रा में लगभग दस हफ्ते लगे।

कुछ समय बाद हम फिच को आगरा से दक्षिण-पश्चिम स्थित बियाना शहर के पास नील खरीदते देखते हैं। यह क्षेत्र व्यापारिक वस्तुओं की जानी-मानी मंडी थी। इस यात्रा का जो उसने विवरण दिया है वह मुख्यत: कृषि-विषयक जानकारी की दृष्टि से दिलचस्प है, लेकिन वह यह भी बताता है कि फतहपुर सीकरी 'अब भी कायम है, लेकिन बिलकुल तहस-नहस हो चुका है' और 'दो सरायों और एक लंबे बाजार, इधर-उधर बिखरे कुछ घरों, अब लगभग ढह चुके कुछ अच्छे घरों और सिर्फ चोर-उचक्कों के आवास का काम देने वाले बहुत-से अन्य घरों के अलावा' बियाना भी उजड़ चुका था। आगरा लौट कर वह कंपनी का कुछ कर्ज वसूल करने के लिए लाहौर के लिए रवाना हो गया। यमुना के दाहिने किनारे तक दिल्ली तक की यात्रा में कोई घटना नहीं हुई, लेकिन नगर के उत्तर का क्षेत्र उपद्रवग्रस्त था। 'राजा की मृत्यु की अफवाह फैला दी गई थी; फलत: बहुत से चोर-बदमाश सक्रिय हो उठे थे। दिल्ली के फौजदार से हमारी मुलाकात हुई। वह दो हजार घुड़सवारों और पैदल सैनिकों के साथ उनकी तलाश में था।' पानीपत के प्रवेश द्वार पर उसने 'कोई सौ चोरों के सर देखे जो उनके धड़ों से अभी ताजा ही उतारे गए थे। उनके धड़ों को एक मील की लंबाई में टिकटियों से टांग दिया गया था।' करनाल तक का रास्ता 'चोरों से भरा था, जहां हम सिर्फ अपनी बंदूकों की भाषा के कारण हमले से बच सके।' करनाल से लाहौर तक का रास्ता बिना किसी मुसीबत के कटा, लेकिन लाहौर में उसने सुना कि काबुल में विद्रोह हो गया है।

संक्षेप में, फिच का अनुभव यह था कि कोई भारत में बिना किसी गंभीर खतरे के दूर-दूर की यात्रा कर सकता था, लेकिन सावधानी बरतने की जरूरत बराबर

रहती थी। पहाड़ी और जंगली इलाकों में डाकुओं का सामना होने के आसार हमेशा रहते थे, लेकिन वे मैदानी क्षेत्रों में भी मिल जा सकते थे। किसी झूठी अफवाह से देहाती इलाकों में खलबली मच सकती थी और सड़कों के चौकीदारों का भरोसा सोच-समझ कर ही करना पड़ता था। दूसरे यात्रियों ने भी मूलतः यही किस्सा दुहराया है। कुछ की यात्राएं दूसरों की अपेक्षा अधिक सुविधा में और निरापद रूप से कटीं। इसलिए यात्रियों के मन पर छाप भी अलग-अलग किस्म की पड़ी। लेकिन उनके अनुभवों से निकलने वाला सामान्य निष्कर्ष पिछले वाक्य में बहुत ठीक व्यक्त हुआ है। इनमें से कुछ अनुभवों का यहां हवाला दिया जा सकता है। बरथेमा और नूनिज हमें इस बात का विश्वास दिलाते हैं कि साम्राज्य की समृद्धि के दिनों में विजयनगर काफी निरापद प्रदेश था, लेकिन संभव है कि केंद्रीय सत्ता के कमजोर होने पर स्थिति कुछ बिगड़ गई हो। फिंच (1583-91) ने पटना के आसपास चोरों की बहुलता का उल्लेख किया है, और बंगाल में हुगली तक की यात्रा उसने जंगलों के रास्ते इसलिए की कि सड़कों पर चोरों का बहुत खतरा था, विथिंगटन (1613) ने पैदल अहमदाबाद से सिंधु नदी पर स्थित लाहरी बंदर पहुंचने की कोशिश की, लेकिन पाया कि उस क्षेत्र के लोग बहुत अराजक प्रवृत्ति वाले थे और अंत में उसे उस व्यक्ति ने ही कैद कर लिया जिसे उसने अपनी रक्षा के लिए रखा था। 1615 के आसपास अंग्रेज व्यापारियों ने सूरत से अहमदाबाद और भड़ौच तक की सड़कों को डाकुओं के बड़े-बड़े गिरोहों के कारण बहुत खतरनाक पाया। लगभग उसी समय स्टील और क्राउथर ने लिखा कि आगरा से लाहौर तक का रास्ता 'रात में चोरों के कारण खतरनाक है, लेकिन दिन में सुरक्षित है।' 1617 में युद्धों और विद्रोहों के कारण उत्तर भारत से गोलकुंडा प्रदेश का संबंध बिलकुल कट गया। जहां तक सुरक्षा की स्थिति की दृष्टि से यात्रियों की आम प्रतिक्रिया का संबंध है, हम टेरी (लगभग 1616) की, जिसके शिविर पर सिर्फ एक बार हमला हुआ, अनुकूल राय की तुलना उसके कुछ वर्ष पूर्व हाकिंस द्वारा व्यक्त की गई इस राय से कर सकते हैं : 'देश चोरों और बागियों से इस तरह भरा हुआ है कि उसके (जहांगीर के) पूरे साम्राज्य में कोई भी बहुत से सैनिकों को साथ लिए बिना घर से बाहर नहीं निकल सकता।' हाकिंस यह स्वीकार करता है कि अकबर की मृत्यु के बाद से स्थिति में गिरावट आई थी, लेकिन तब अकबर के काल में भी वह निर्दोष नहीं थी, क्योंकि शाही गद्दी पर बैठने के बाद जहांगीर ने जो पहले आदेश दिए उनमें से एक का उद्देश्य उन सड़कों पर नियंत्रण कड़ा करना था जिन पर बहुत चोरी-डकैती होती थी। उसका आदेश कारगर साबित हुआ, इसमें तो हम संदेह कर सकते हैं, लेकिन ऐसा आदेश जारी करना इस बात का काफी पक्का प्रमाण जान पड़ता है कि स्थिति पूरी तरह से संतोषजनक नहीं थी।

चुंगी और गमनशुल्क

व्यापारियों को जितनी भी सुरक्षा सुलभ थी उसके लिए उन्हें क्या देना पड़ता था, इसके संबंध में भी दो शब्द कहना आवश्यक है। इस काल में विदेशी व्यापार के प्रति केंद्रीय प्रशासकों का रुख आमतौर पर अनुकूल था और चुंगी की निर्धारित दरें बहुत नरम थीं। अबुलफजल कहता है कि अकबर के अधीन चुंगी 2½ प्रतिशत से ज्यादा कहीं नहीं थी और हमें वास्तव में अदा किए गए जिन शुल्कों की जानकारी है वे इससे कोई बहुत अधिक नहीं जान पड़ते[8] लेकिन बंदरगाहों पर बल्कि वस्तुतः

पूरे देश में—स्थानीय अधिकारियों का व्यक्तित्व इस दृष्टि से बहुत महत्व रखता था—खास कर इस कारण कि जान पड़ता है, चुंगी वसूल करने का अधिकार आमतौर पर ठेके पर दे दिया जाता था। ठेके की इस व्यवस्था के लिए पुख्ता विशेषण का प्रयोग हुआ है। कोई अधिकारी व्यापारियों के आवागमन की व्यवस्था कर सकता था और उन्हें व्यापार की सुविधाएं दे सकता था, यह भी संभव था कि वह उनके माल को बिलकुल नहीं आने दे, और वह चुंगी के अलावा उनके लाभ में अपना हिस्सा भी मांग सकता था। चुंगी अधिकारियों की स्थिति का एक अच्छा उदाहरण वह वृतांत है जिसमें अंग्रेज व्यापारियों द्वार. सिंधु नदी स्थित लाहरी बंदर पर 1613 में व्यापार आरंभ करने के प्रयत्नों का वर्णन है। पुर्तगाली उस बंदरगाह पर पहले से ही व्यापार करते थे। किसी अन्य राष्ट्र के व्यापारियों की प्रतियोगिता पर उन्होंने गंभीर आपत्ति की। उन्होंने वहां के शासक को धमकी दी कि अगर वह अंग्रेजों को व्यापार करने की अनुमति देगा तो वे बंदरगाह छोड़ कर चल जाएंगे। शासक बड़ी कठिन स्थिति में पड़ गया, क्योंकि चुंगी के तौर पर वे उसे बहुत मोटी रकमें अदा करते थे। उसने उस बंदरगाह में चुंगी वसूल करने का अधिकार राजा से प्राप्त किया था और वहां कोई आमदनी हो या न हो, अनुबंध के अनुसार उसे हर साल राजा को एक निश्चित रकम देनी ही थी। इसलिए इन मामलों में कोई निर्णय देने के लिए उसे बहुत सोच-समझ से काम लेना था। इसलिए उसने अंग्रेजों को इस शर्त पर व्यापार की अनुमति देने की रजामंदी दिखाई कि उसे भरोसा दिला दिया जाए कि पुर्तगालियों के व्यापार से उसे जितनी आमदनी होती है, अंग्रेजों के व्यापार से उससे ज्यादा होगी। लेकिन अंग्रेज व्यापारी ऐसा वचन देने की स्थिति में नहीं थे, इसलिए वहां कोई कारोबार किए बिना वे जलमार्ग से दक्षिण की ओर बढ़ चले। उसी साल कोरोमंडल तट से लिखते हुए कंपनी के फ्लोर्स नामक एक व्यापारी ने स्थानीय प्रशासन के लिए जिम्मेदार अधिकारियों के व्यक्तित्व से संभावित खतरों पर बहुत जोर दिया। कोई सूबेदार इच्छा होने पर स्वतंत्र व्यापार की भी अनुमति दे सकता था या व्यापारियों को खुद अपने हक में व्यापार चलाने को भी मजबूर कर सकता था, यानी चीजों को अपने लाभार्थ बिकवाने के लिए उन्हें अपने अधिकार में ले सकता था। अगर इसने यह दूसरा रास्ता अख्तियार किया तो इस बात का खतरा बराबर रहता था कि व्यापारियों का पैसा वह पचा जाए, क्योंकि 'इन सूबेदारों पर इस तरह जो कर्ज पड़ जाता था उसके चुकाए जाने की संभावना तभी तक रहती थी जब तक वह अपने पद पर कायम था, अन्यथा उस कर्ज की अदायगी संदिग्ध हो जाती थी।' फिर, 1615 में सूरत के व्यापारियों द्वारा स्थानीय अधिकारियों के आचरण के विरुद्ध शिकायत करते हुए कहा गया कि 'सूबेदार और चुंगी अधिकारी (चुंगी घर में लाई गई) वस्तुओं में से अच्छी से अच्छी वस्तुएं छांट कर अलग कर देते हैं और उन्हें अपने घर भेज देते हैं। और उनके लिए व्यापारियों को कोई कीमत नहीं देते, और (अगर कभी कीमत अदा भी की जाती है तो) लंबे समय के बाद इतनी कम दरों से अदा की जाती है कि वह लागत खर्च से भी कम पड़ती है।' सर टामस रो ने भी शिकायत की है कि सूरत का सूबेदार, उसके सामने जैसी भेंट पेश की गई, उससे बहुत अच्छी भेंट लिए बिना व्यापार की अनुमति देने को तैयार नहीं हुआ। इससे हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि साधारण व्यापारियों को स्थानीय अधिकारियों की कृपा प्राप्त करने के लिए उन्हें जो भी कुछ देना पड़ता था उसकी तुलना में अधिकृत चुंगी दरें बहुत मामूली हुआ करती थीं।

यह निष्कर्ष भारतीय शासन में आने वाले सभी प्रमुख बंदरगाहों पर लागू होता है। जहां पुर्तगालियों की सत्ता थी वहां तो व्यापारियों को निश्चय ही और अधिक कर अदा करना पड़ता था, क्योंकि पुर्तगालियों का प्रशासन अत्यंत भ्रष्ट था, और महत्वपूर्ण बंदरगाहों का नियंत्रण पुर्तगाली सत्ता की सेवा का सबसे बड़ा पुरस्कार हुआ करता था। दूसरी ओर मलाबार के समुद्री बंदरगाहों पर, और खासकर कालीकट में, भ्रष्टाचार अत्यंत विरल था। लाल सागर और मलक्का जलडमरूमध्य के बीच माल की ढुलाई के विकास के फलस्वरूप कालीकट काफी समृद्ध हो गया था और वहां चुंगी घर की सुव्यवस्था की पाइरार्ड जैसे यूरोपीय यात्रियों ने मुक्तकंठ से प्रशंसा की है।

आंतरिक गमनशुल्क, अर्थात व्यापार की वस्तुओं को देश के अंदर कहीं से लाने और ले जाने पर लगने वाले महसूल के संबंध में भारतीय और विदेशी दोनों प्रकार के व्यापारियों की स्थिति उतनी ठीक नहीं थी जितनी की चुंगी के संबंध में थी। देश की परंपरा का सम्मान इस महसूल के सहारे राजस्व में वृद्धि करने का था, और यद्यपि गमनशुल्क कभी-कभी माफ कर दिए जाते थे, लेकिन जब हम इस तथ्य की ओर ध्यान देते हैं कि एक ही प्रकार के शुल्क एक के बाद एक शासक माफ करते रहते थे तो इस रियायत को कोई विशेष महत्व देना कठिन हो जाता है। अपने शासनकाल में अकबर ने कम से कम दो बार गमन शुल्क माफ किया और मि० विंसेंट स्मिथ का यह निष्कर्ष[9] साक्ष्यों को देखने से ही सिद्ध होता जान पड़ता है कि 'उस निरंकुश राजा के नेक इरादों को उसके वे दूरस्थ सूबेदार आमतौर पर विफल कर देते थे जो अपने कार्यकाल में प्रायः स्वतंत्र स्थिति का उपभोग करते थे।' लेकिन यह भी संभव है कि ऐसी रियायतों को स्थायी बनाने का इरादा नहीं रहता होगा, और निश्चय ही किसी भी व्यापारी का यह मान कर चलना उचित नहीं हो सकता था कि ये रियायतें स्थायी बन गई हैं। कम से कम इतना तो स्पष्ट है कि अकबर के शासन काल के अंतिम दिनों में गमन शुल्क लिया जाता था, भले ही उस शुल्क की राशि शाही खजाने तक न पहुंच पाती हो। इस शुल्क के वसूल किए जाने का सबूत इस बात से मिलता है कि जहांगीर ने गद्दी-नशीनी के बाद जो आदेश सबसे पहले जारी किए उनमें एक यह था कि सड़कों और नदियों से ढोए जाने वाले माल पर शुल्कों और उन अन्य महसूलों की वसूली भी बंद की जाए जो हर सूबे और जिले के जागीरदार ने अपने लाभ के लिए लगा रखे हैं।

सच तो यह है कि 'आईन' में नदी-शुल्क और उतराई शुल्क कायम रखे जाने का स्पष्ट उल्लेख है।

यह तो सरकारी दस्तावेजों में मिलने वाले तथ्य हैं। जब हम यात्रियों के विवरणों में मिलने वाले प्रमाणों की ओर दृष्टिपात करते हैं तो पाते हैं कि गमन शुल्क इस काल की इतनी साधारण बात थी कि इन विवरणों में उनका उल्लेख करना आवश्यक नहीं समझा गया, क्योंकि इनका उद्देश्य भारतीय जीवन की उन विशेषताओं को दिखाना था जो इन यात्रियों के देशों के लिए नई थीं। लेकिन हम प्रासंगिक उल्लेखों से यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि ऐसे महसूल वसूल किए जाते थे। उदाहरण के लिए, एक पुर्तगाली पादरी ने शिकायत की है कि मुगल साम्राज्य में अंतर्देशीय नौकाओं पर शुल्क वसूल करने का जो चलन था उसके साथ-साथ और जबरदस्ती से भी रकम ऐंठी जाती थी। इसी तरह मान्सरेट का कहना है कि अकबर की छावनी में चीजों की

कीमतों के कम होने का कारण ग्रंशतः विक्री के लिए लाए गए माल पर महसूलों की माफी थी । वाद के काल में मंडी, थेवनो और टैवर्नियर—जैसे जिन यात्रियों ने ऐसे विपयों में दिलचस्पी ली, उसके विवरणों से पता चलता है कि देश के वहुत वड़े हिस्से में गमन शुल्क की नियमित व्यवस्था थी ।

फादर सेवास्टियन मैनारिक ने वताया है कि धार्मिक व्यक्ति होन के नाते लाहौर से सिंधु के मुहाने तक की यात्रा के लिए उसे जो पारपत्र दिया गया था उसका उपयोग उसके साथ के एक व्यापारी ने किस प्रकार ग्रपनी यात्रा के दौरान ग्रनेक महसूलों से वचने के लिए किया ।

सोलहवीं सदी में विजयनगर में तो गमन शुल्क और नगर शुल्क निश्चय ही वहुत ग्रधिक थे । एक साक्ष्य के ग्रनुसार : 'किसी नये नगर की स्थापना होने पर विना महसूल लिए कुछ भी न केवल व्यापार की वस्तुएं और जानवर वल्कि स्त्री और पुरुप भी—नगर द्वार के ग्रंदर प्रवेश नहीं पा सकता ।' और राजधानी में तो करों के ठेकेदार द्वारा मांगी रकम ग्रदा किए विना कोई भी दाखिल नहीं हो सकता था । सोलहवीं सदी के ग्रंत में भी हम मिशनरियों को भारत के इस हिस्से में महसूल ग्रादि की ग्रंतहीन झंझटों से वचने के लिए पारपत्र प्राप्त करने पर ग्राग्रह करते देखते हैं । सोलहवीं सदी के दकन के संवंध में मुझे कोई जानकारी नहीं मिली है । लेकिन थेवनो के समय में महसूलों की प्रणाली वहुत कप्टप्रद थी और औरंगावाद से गोलकुंडा तक के मार्ग में उसने सोलह महसूल चौकियां देखीं । इस तरह ग्रगर हम पूरे भारत को मिला कर देखें तो कहना पड़ेगा कि उस समय के व्यापारी को छोटी-वड़ी किसी भी यात्रा के दौरान कई वार महसूल ग्रदा करने की जिम्मेदारी की संभावना को मानकर चलना पड़ता होगा, हालांकि यदि स्थानीय प्रशासन कभी स्वतंत्र ग्रावागमन के पक्ष में होता था तो कभी वह इस झंझट से वच जाने की भी ग्राशा कर सकता था । सरकारी महसूलों के ग्रलावा उसके सामने और भी परेशानियां रहती थीं । हम देख चुके हैं कि सड़कों के पहरेदारों को विश्वसनीय नहीं माना जाता था और जान पड़ता है कि खतरनाक मानी जाने वाली सड़कों पर रक्षकों की सहायता लेने के लिए व्यापारियों को काफी कुछ देना पड़ता था । देश के जंगली क्षेत्रों में ग्रपनी सुरक्षा के लिए स्थानीय सरदारों को कुछ ग्रदा करना पड़ता था, और जहांगीर के एक ग्रादेश से जिसमें कहा गया है कि व्यापारियों की गांठों को उन्हें पूर्व सूचना दिए और उनकी ग्रनुमति लिए वगैर सड़कों पर न खोला जाए, हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि इस तरह की वसूली की प्रथा वहुत ग्रधिक थी । इस प्रकार ग्रंतर्देशीय व्यापार पर किसी न किसी प्रकार से महसूलों का काफी वोझ था , और ढुलाई का जो वास्तविक खर्च पड़ता था सो ग्रलग लेकिन हमें जो तथ्य उपलब्ध हैं उनके ग्राधार पर हम ग्रदा की जाने वाली रकमों को कोई मोटा ग्रंदाजा भी नहीं लगा सकते ।

उद्योग व्यापार पर प्रभाव

पिछले ग्रनुच्छेदों के ग्रंतर्गत जिन परिस्थितियों का वर्णन किया गया है और जो ग्राज की दृप्टि से देखने पर लगभग ग्रसह्य सी जान पड़ती हैं, उनके कारण सोलहवीं सदी के ग्रंत में ग्रांतरिक या विदेशी व्यापार में शायद कोई गंभीर रुकावट नहीं पड़ती थी । रिश्वतों, नजरानों, कर-महसूलों और चोरियों; सवका हिसाव लगाकर देखें तो इनका

सारा बोझ अंत में उपभोक्ता के सिर ही पड़ता था। सूरत स्थित अंग्रेज गुमाश्तों ने कंपनी को यह सूचना दी कि 'यात्रा की जोखिम आदि को ध्यान में रखकर भारतीय व्यापारी स्पष्टतः भारी मुनाफा लिए बिना कोई चीज नहीं बेचते।' वस्तुतः इस कथन में सही स्थिति का सार समाया हुआ है। जब तक सौदे में सभी खर्च निकाल कर लाभ नहीं होता होगा तब तक माल को बेचने के लिए यहां वहां नहीं ले जाया जाता होगा, और अगर खर्च बहुत ऊंचा बैठता होगा तो बिक्री की कीमतें भी बहुत ऊंची रखी जाती होंगी। आज की ही तरह तब भी किसी व्यापारी की सफलता इस बात पर निर्भर थी कि लागत खर्च और कीमतों का पूर्वानुमान लगाने की उसमें कितनी योग्यता है, और खर्च की इन मदों का पूर्वानुमान किसी हद तक ठीक-ठीक लगाया जा सकता था। लेकिन एक और भी खतरा था, जिसका खयाल धनाढ्य व्यापारियों को रखना पड़ता था। सर टामस रो का कहना है कि मुगल बादशाह अपनी समस्त प्रजा का उत्तराधिकारी था। यद्यपि यह उक्ति बहुत ही व्यापक है, किंतु बादशाह अपेक्षाकृत अधिक धनाढ्य व्यापारियों और साथ ही अपने सामंतों और अमलों की पीछे छोड़ी गई संपत्ति पर अपना अधिकार मानता था। इसलिए सफल आदमी अगर अपनी संपत्ति उत्तराधिकार में अपने परिवार को देना चाहता था तो उसे अपनी दौलत को छिपाना पड़ता था। और कम से कम भारत के कुछ हिस्सों में तो ऐसा खतरा मृत्यु के अलावा अन्य स्थितियों में भी सामने आता था। एक प्रेक्षकानुसार, जिन व्यापारियों की ख्याति धनाढ्य व्यक्तियों के रूप में थी, उनसे धन ऐंठे जाने का खतरा बराबर बना रहता था, और मेरी नजर में ऐसा कोई तथ्य नहीं आया है जिसके आधार पर मैं इस स्थिति को असंभावित कहूं। धनी होना बहुत अच्छा था, लेकिन अपने धन की जानकारी दूसरों को देना बुरा सिद्ध हो सकता था। 'मुनाफा चाहे जितना ज्यादा हो, जिस व्यक्ति ने मुनाफा कमाया है, उसे तो गरीबी का बाना ही धारण किए रहना है।'

स्पष्ट है कि पूंजीवादी आधार पर उद्योगों की स्थापना के मार्ग में ये परिस्थितियां बहुत बाधक रही होंगी। प्रशासन के किसी भी समय ठप हो जाने या स्थानीय अधिकारियों के परिवर्तन के कारण जबरन संपत्ति छीन लिए जाने के खतरे के बीच चाहे कोई धनाढ्य व्यक्ति स्थानीय पूंजी के तौर पर अपने अधिकांश धन का विनियोजन करता तो वह उसकी नासमझी ही होती, लेकिन इस प्रश्न का कोई व्यावहारिक महत्व नहीं है, क्योंकि पूंजीवादी उपक्रमों के काल का अभी उदय नहीं हुआ था। इन दिनों भारत में औद्योगिक उत्पादन का परिणाम बहुत बड़ा था और वह बहुत मूल्यवान भी था, लेकिन अलग-अलग इकाइयों के रूप में इस तरह के उत्पादन का इतना महत्व नहीं था कि उच्चाधिकारी उसके प्रति कोई विरोध का रुख अपनाते या उनके मन में लालच जागता। नगरों में रहने वाले कारीगरों को, बेशक, कोतवाल द्वारा देखरेख के लिए नियुक्त किए गए मातहत अमलों और जासूसों को खुश रखना पड़ता था और नगरों के बाहर अन्य छोटे-छोटे अमले थे जिन्हें प्रसन्न करना जरूरी था, लेकिन ऐसा मानना अनुचित न होगा कि इन मामलों को दस्तूर के मुताबिक निबटा लिया जाता था और स्थिति कोई विशेष कष्टप्रद नहीं थी। किसान आज की ही तरह तब भी आबादी के सबसे महत्वपूर्ण अंग थे, और प्रशासन की अच्छाई-बुराई से उनका कहीं अधिक सीधा संबंध रहता था, लेकिन उनकी स्थिति का विवेचन कृषि की व्यवस्था और भूराजस्व प्रणाली पर विचार करते समय किया जाए, यह अधिक सुविधाजनक रहेगा।

माप, तौल और सिक्के

प्रशासनिक परिस्थितियों का वर्णन समाप्त करने से पूर्व माप, तौल और सिक्कों की व्यवस्था के संबंध में दो शब्द कह देना आवश्यक है। कम से कम अंशतः तो इनका नियमन भारत की विभिन्न सरकारें पहले से ही करती आ रही थीं, और समकालीन प्रमाणों को ठीक से समझने के लिए उनकी कुछ जानकारी प्राप्त करना जरूरी है। लेकिन यहां सवाल तफसील का है, और इसलिए जो पाठक उन प्रमाणों का अध्ययन स्वयं करने का इरादा न रखते हों उनके लिए इस विभाग को सरसरी तौर पर देख लेना ही काफी हो सकता है। बीसवीं सदी की तरह ही सोलहवीं सदी में भी भारतीय माप-तौल प्रणालियों की मुख्य विशेषता अनेकता है। आज की ही तरह हम उन दिनों भी सरकारी तौर पर निर्धारित पैमानों के साथ पुराने स्थानीय पैमानों को भी प्रचलित देखते हैं। इसके अलावा हम यह भी देखते हैं कि आमतौर पर इकाइयों की अपेक्षा पैमाने अधिक हैं। उदाहरण के लिए, एक मन में आमतौर पर चालीस सेर होते थे, लेकिन मन का वजन और इसलिए सेर का वजन भी अलग-अलग स्थानों में अलग-अलग था। समुद्री बंदरगाहों पर यह विभिन्नता अधिक स्पष्ट दिखाई देती है। वहां स्थानीय प्रणालियों के साथ-साथ विदेशी व्यापारियों द्वारा दाखिल की गई इकाइयां भी प्रचलित हो गई थीं लेकिन समकालीन प्रमाण स्रोतों में जहां भी यात्राओं का जिक्र है वहां यह पता कर लेना आवश्यक है कि किस इकाई के हिसाब से अमुक यात्रा का उल्लेख किया गया है। स्पष्ट है कि भारत के अधिकांश प्रशासक इस स्थिति से संतुष्ट ही थे, और मुझे विजयनगर राज्य अथवा दकन के किसी राज्य में माप-तौल में समरूपता स्थापित करने के किसी प्रयत्न का कोई उल्लेख कहीं भी देखने को नहीं मिला है।

लेकिन अकबर ने किसी सीमा तक अधिक आधुनिक दृष्टिकोण से काम लिया। उसने वजन, लंबाई और सतह की माप के लिए मुख्य इकाइयां निर्धारित कर दीं। इसमें कोई संदेह नहीं कि उसकी राजधानी के आसपास उन तय की गई इकाइयों का प्रयोग होता था, लेकिन जैसा कि हम आगे देखेंगे, उसकी मृत्यु के समय तक भी वे इकाइयां समुद्री बंदरगाहों पर स्थापित नहीं हो पाई थीं, और यह संभव प्रतीत होता है कि, जैसा कि कभी-कभी बाद में भी हुआ, उसकी कार्रवाई का अंतिम परिणाम यह हुआ कि इकाइयों की एक और श्रृंखला बाजार में जारी करने के कारण पहले से मौजूद उलझन और भी बढ़ गई।

अकबर द्वारा जारी किए गए परिवर्तन के पूर्व उत्तर भारत में सबसे अधिक प्रचलित मन की तोल 7000 ग्रेनवाले 28 से 26 पौंड तक हुआ करती थी। अकबर ने एक सेर का वजन 30 दाम तय किया था और दाम उस समय का तांबे का प्रमुख सिक्का था। इस प्रकार 40 सेर के मन का वजन 3,88,275 ग्रेन था। लगभग 55½ पौंड होता था और मोटे तौर पर हम उसे 56 पौंड या हंड्रडवेट का आधा मान सकते हैं। इस प्रकार अकबर द्वारा निर्धारित 40 मन एक टन के बराबर हुए, जबकि आज के 27 मन एक टन के बराबर होते हैं। यह मानने में कोई हर्ज नहीं जान पड़ता है कि 'आइन-ए-अकबरी' में इसी मन का प्रयोग हुआ है, क्योंकि 'आइन' सरकारी अभिलेख है। ऐसे साक्ष्य भी मिलते हैं जिनसे पता चलता है कि साम्राज्य की राजधानी

के पास-पड़ोस के व्यापारिक सौदों मे इसी तौल का उपयोग होता था, लेकिन लगता है, साम्राज्य के दूर-दराज के हिस्सों में इसका प्रचार नही हुआ था। सूरत और कैंवे की खाड़ी के अन्य बंदरगाहों में आम तौर पर दो तरह के मनों का उपयोग होता था : छोटा 27 पौंड का और बड़ा 33 पौंड का । 33 पौंड वाला मन 18 दाम के सेर पर आधारित था मन तथा सेर का वह अनुपात पूर्ववर्ती काल के कुछ अंग्रेज व्यापारियों को ज्ञात था। इसलिए पश्चिमी तट के संबंध में छोटे स्थानीय मन को हंड्रडवेट का चौथाई और बड़े को 2/7 भाग मान सकत है।

मन दक्षिण में गोआ तक प्रचलित जान पड़ता है। वहां यह 20 से लेकर 30 पौंड तक का होता था, लेकिन दक्षिण भारत मे तौल की जिस इकाई का उल्लेख सबसे ज्यादा हुआ है वह है कैंडी। कैंडी मे भी बहुत अधिक विभिन्नता थी, लेकिन आमतौर पर इसे हम 500 पौंड के बराबर मान सकते है बहार का भी उल्लेख बहुत से स्थलो पर हुआ, है, लेकिन यह विदेशी इकाई था, जिसे अरब व्यापारियो ने भारतीय समुद्रो के तटो पर सर्वत्र जारी कर दिया था। इसका वजन व्यापार की विभिन्न वस्तुओं की बिक्री का नियमन करने वाले व्यापारिक रिवाजों के अनुसार घटता-बढ़ता था, लेकिन आमतौर पर इससे कैंडी से कुछ कम वजन का बोध होता है। समकालीन यूरोपीय लेखकों ने क्विंटल (या किंगल) का भी उल्लेख किया है, जिसमे 130 पौंड होते थे और जिसे हंड्रडवेट से अधिक माना जा सकता है। और अंत में, यह भी ध्यातव्य है कि विभिन्न प्रमाण-स्रोतों में उल्लिखित पौंड से हमेशा एक ही वजन का बोध नही होता है। इस काल के अंग्रेज लेखको ने जिस पौंड का जिक्र किया है वह 7,000 ग्रेन वाला पौंट है, लेकिन फ्रेंच मे किए गए अनुवादों मे पौंड से 'लिव्र' का बोध होता है। 'लिवर' का वजन भी समय-समय पर अलग-अलग रहा, लेकिन विचाराधीन काल में वह किलोग्राम का लगभग आधा या प्राय: 1.1 पौंड था। किन्ही खास कथनों की व्याख्या करने में इस तरह की विभिन्नता महत्वपूर्ण हो सकती है, लेकिन उस काल की आर्थिक परिस्थितियों के सामान्य अध्ययन के लिए इतना ध्यान में रखना शायद काफी होगा कि पौंड का मतलब तब भी वही था जो आज है। मन का अर्थ मुगलों की राजधानी में या उसके आसपास 56 पौंड था और अन्यत्र 30 पौंड, जब कि कैंडी और बहार का मतलब टन का लगभग पांचवां या चौथा हिस्सा था।

उत्तर भारत में लंबाई की माप की इकाई गज था। गज का इतिहास 'आइन-ए-अकबरी' में दिया गया है, लेकिन यहा इतना ही कह देना काफी होगा कि अंत में अकबर ने विभिन्न प्रकार के गजों में सामंजस्य बैठाते हुए इलाही गज नाम की इकाई जारी की, जिसमें 30, 3/4 इंच होते थे। इस इकाई का उत्तर भारत में वास्तव में प्रयोग होता था, यह निष्कर्ष प्रिंसेप के 1834 के इस कथन से निकाला जा सकता है : 'उत्तर भारत में (माप के) पैमाने के तौर पर इसकी पुरानी स्थिति आज भी कायम है,' लेकिन पश्चिमी तट के व्यापार केंद्रों में इसका उपयोग नही होता था। वहां इसके बदले में कोवाड नामक पैमाने का प्रयोग होता था। व्यापार की वस्तुओ के साथ-साथ कोवाड की लंबाई भी बदलती रहती थी। सूती कपड़े के सौदे में उसकी लंबाई 26 इंच रखी जाती थी और ऊनी कपड़े के मामले में लगभग 35 इंच या एक गज एक इंच। एकरूपता की आशा भी नही की जाती थी। जिस व्यापारी ने सूरत में कोवाड का वर्णन किया है उसने इस बात मे संदेह प्रकट किया है कि भड़ौंच में इस्तेमाल किये जाने वाले

कोवाड की लंवाई भी वही है। इस तरह नाप के संवंध में भी किसी पैमाने की लंवाई तय करने का काम उस सौदागर का होता था जो किसी खास वाजार में अपना कारोवार करना चाहता था। सतह की माप की इकाई सिर्फ क्षेत्रफल संवंधी समकालीन आंकड़ों की व्याख्या की दृष्टि से महत्व रखता है और इसलिए उस पर विचार करना यहां जरूरी नहीं है।

माप-तौल की तरह सिक्कों के संवंध में भी अकवर के प्रशासन ने समकालीन भारत का मार्ग दर्शन किया, और 'आइन-ए-अकवरी' में शाही टकसालों का जो विशद वर्णन दिया गया है उसके आधार पर मुगल साम्राज्य में प्रतिष्ठित मुद्रा-प्रणाली का यही अनुमान लगाया जा सकता है। आम चलन के सिक्के चांदी और तांवे के होते थे। सोने के सिक्के भी ढाले जाते थे, लेकिन सोने के जिन 26 प्रकार के सिक्कों का उल्लेख हुआ है उन्हें 'कल्पना-प्रसूत' माना जा सकता है। तीन किस्मों के जो सिक्के नियमित रूप से ढाले जाते थे उनका चलन भी विरल ही था, क्योंकि फुटकर सौदे की दृष्टि से वे वहुत वड़े थे और उनका सहारा मुख्यतः धनसंग्रह के लिए किया जाता था। चांदी का प्रमुख सिक्का 172½ ग्रेन का रुपया था। क्रयशक्ति में तो नहीं लेकिन तौल में यह आज के ही रुपये के वरावर था तांवे का मुख्य सिक्का दाम था। इनके अलावा चांदी और तांवे के छोटे सिक्के भी थे। चांदी का सवसे छोटा सिक्का रुपये के वीसवें हिस्से के वरावर मूल्य का था और तांवे का सवसे छोटा सिक्का 1/8 दाम के वरावर था। तांवे के सिक्के आज की तरह प्रतीक सिक्के नहीं थे, वलिक चांदी के सिक्कों की तरह ही उनका मूल्य उनमें प्रयुक्त धातु के मूल्य के वरावर था। इस तरह सिक्कों के दो (या अगर सोने के सिक्कों को शामिल करें तो तीन) स्वतंत्र मानक थे। उनके वीच विनिमय की दरें स्थान और समय के अनुसार वदलती रह सकती थीं। सरकारी हिसाव में चालीस दाम को एक रुपये के वरावर माना जाता था और कम से कम उत्तर भारत में इन दिनों सिक्कों के मूल्यों में कोई भारी उतार चढ़ाव नहीं आते थे। लेकिन साम्राज्य की राजधानी और पश्चिमी तट पर प्रचलित दरों में वरावर अंतर वना रहता था। इस अंतर का कारण दोनों धातुओं की आपूर्ति की स्थिति थी। सिक्के ढालने के लिए इस्तेमाल की जाने वाली चांदी समुद्री रास्ते से वाहर से मंगवाई जाती थी और उसे उत्तर भारत ले जाने पर जो खर्च वैठता था उसके कारण वहां पहुंचते-पहुंचते उसकी कीमत स्वभावतः वढ़ जाती थी। उधर तांवा राजपुताने की खानों से प्राप्त होता था और दक्षिण ले जाने पर उसकी कीमत वढ़ जाती थी। फलतः चांदी के रुपये के एवज में सूरत या कैंवे की अपेक्षा दिल्ली या आगरा में कुछ अधिक दाम मिलते थे। लेकिन यह अंतर वहुत ज्यादा न था, और आम पाठक निरापद रूप से चालीस दाम को एक रुपये के वरावर मान सकते हैं, खास कर इसलिए कि गुजरात में जो विदेशी व्यापार का मुख्य केंद्र था, रुपये को नहीं अपनाया गया था, और वहां सारा कारोवार उसके वजाय महमूदी नामक चांदी के सिक्के के सहारे चलता था। इस सिक्के का मूल्य रुपये के आधे से कुछ कम था। यदि हम इंग्लैंड के समकालीन सिक्कों की दृष्टि से देखें तो रुपया दो शिलिंग 3 पेंस के वरावर और महमूदी 11 पेंस के वरावर होता था। अलवत्ता यह हिसाव लगाते समय इस वात को भी ध्यान में रखना पड़ेगा कि दोनों के मूल्य काफी घटते वढ़ते रहते थे।

तांवे के सवसे छोटे सिक्के दमड़ी (जो दाम का 1/8 या रुपये का 1/320

भाग था) शाही हिसाब किताब या रोजमर्रे के सौदे सुलफ के लिए पर्याप्त नहीं था शाही हिसाब किताब के लिए कागज पर दाम को पच्चीस जीतलों में विभक्त कर दिया जाता था, जिससे रुपये के हजारवें हिस्से तक का हिसाब रखा जा सके। रोजमर्रे के सौदे के लिए आज की ही तरह कौड़ी का इस्तेमाल किया जाता था। चांदी या तांबे के अनुपात से उसका मूल्य समुद्र तट से उसकी दूरी पर निर्भर था। दूसरी ओर आज की कागजी मुद्रा के समान ऐसी किसी मुद्रा के चलन का कोई संकेत नहीं मिलता जो बहुत-से रुपयों का योग रहा हो। जिन सौदागरों को बड़ी-बड़ी रकमों का भुगतान करना पड़ता था वे हुंडियों से भुगतान कर सकते थे। विकल्प के रूप में वे अपने साथ बिक्री के लिए मोती या जवाहरात साथ ले जा सकते थे। रुपये की उच्च क्रय शक्ति के कारण भी बड़ी मुद्राओं की आवश्यकता कम हो जाती थी। इस मुद्दे पर बिलकुल ठीक-ठीक कुछ कहना संभव नहीं है, लेकिन 'आइन-ए-अकबरी' में कीमतों के जो आंकड़े दिए गए हैं, उन पर विचार करने से मालूम होता है कि सोलहवीं सदी के अंतिम वर्षों में राजधानी के आसपास एक रुपये में जितना अन्न खरीदा जा सकता था वह 1910-12 ई० में एक रुपये में खरीदे जाने वाले अन्न से कम से कम सात गुना अधिक होता था। तिलहन ग्यारह गुना खरीदा जा सकता था, कपड़ा शायद पांच गुना। धातुएं आज की अपेक्षा बहुत सस्ती नहीं थीं और विदेशी माल वास्तव में महंगा था। इसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि बहुत ही गरीब वर्गों के लिए 1600 ई० में एक रुपया 1912 ई० के मुकाबले सात गुना अधिक था। गरीबी रेखा से ठीक ऊपर के वर्गों के लिए उसका मूल्य लगभग छः गुणा था और मध्यवित्त लोगों के लिए लगभग पांच गुना था या शायद कुछ अधिक था। इसलिए सामान्य प्रयोजनों के लिए ऐसा मान लेना उचित जान पड़ता है (कम से कम तब तक के लिए जब तक कि नये आंकड़ों के सामने आ जाने से ये निष्कर्ष उलट नहीं जाते) कि क्रय शक्ति की दृष्टि से अकबर कालीन रुपया प्रथम विश्व-युद्ध के ठीक पूर्व के काल के छः रुपये के बराबर था। दूसरे शब्दों में, हम मान सकते हैं कि प्रति माह पांच रुपये की आय से उन दिनों उतनी ही जरूरतें पूरी की जा सकती थीं, जितनी कि 1912 ई० से पूर्व के समय में तीस रुपये की आमदनी से पूरी की जा सकती थीं।

मुगल साम्राज्य के विपरीत दक्षिण भारत की मुद्रा इन दिनों मुख्यतः सोने पर आधारित थी, और सोने के सिक्के ही विनिमय के प्रमुख प्रचलित साधन थे। मानक मुद्रा वराहु या हूण आदि नामों से जानी जाती थी, लेकिन यूरोपीय विवरणों में उसका उल्लेख मुख्यतः पगोडा नाम से हुआ है और उसका औसत मूल्य अकबर के साढ़े तीन रुपये के बराबर माना जा सकता है। फनाम नाम का सोने का एक छोटा सिक्का भी था, और चांदी तथा तांबे के कम मूल्य के सिक्कों का भी चलन था, लेकिन हमारे वर्तमान प्रयोजन के लिए उनके नाम और मूल्य खास महत्व नहीं रखते। इन देशी सिक्कों के अलावा समुद्रतट के व्यापार का विदेशी मूल्य के सिक्कों से भी संबंध था। कहा जा सकता है कि अपने पूरे इतिहास की तरह सोलहवीं सदी में भी भारत मुख्यतः नकद व्यापार करता था, अर्थात यहां का मुख्य आयात सिक्कों के रूप में ढली बहुमूल्य धातुएं थीं और जो भी अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में भाग लेना चाहता था उससे विदेशी मुद्राओं के संबंध में कुछ जानकारी रखने की आशा की जाती थी। कम से कम लैरिन सिक्किन, ड्यूकाट और स्पेनी रिअल्स-आफ-एट तथा गोआ में पुर्तगालियों द्वारा चलाई जा रही किसी हद तक उलझी मुद्रा प्रणाली से तो उसका परिचय होना ही चाहिए था।

लैरिन फारस का सिक्का था और फारस के साथ भारत के व्यापार के फलस्वरूप यह सिक्का यहां बड़ी मात्रा में पहुंचता था। वह सच्चे अर्थों में सिक्का नहीं था, बल्कि चांदी का मुड़ा हुआ सरिया था, जिसके छोर पर मुहर लगी होती थी। उसका मूल्य अकबर के रुपये से आधे से कुछ कम ही था। सिक्विन (या चीकीन) वेनिस की स्वर्ण मुद्रा थी। इसका मूल्य अकबर के रुपये से लगभग चौगुना था और यह लाल सागर या फारस की खाड़ी से होकर यूरोप के थल व्यापार के सिलसिले में भारत पहुंचती थी। इटली का ड्यूकाट भी उसी रास्ते से पहुंचा। सोने के ड्यूकाट का मूल्य लगभग सिक्विन के बराबर ही था, और चांदी के ड्यूकाट की कीमत उससे आधी या अकबर के रुपये की दुगुनी थी। स्पेनी रीअलस-आफ-एट[1] मुख्यतः जलमार्ग से भारत पहुंचा। उसका मूल्य लगभग चांदी के ड्यूकाट के बराबर ही था।

गोआनी मुद्रा प्रणाली बहुत उलझा हुआ विषय है। इस उलझन का मुख्य कारण यह था कि एक के बाद एक पुर्तगाली गवर्नर आर्थिक परिस्थितियों का मुकाबला करने के लिए मुद्रा प्रणाली में परिवर्तन करता रहता था। सिक्कों के मूल्य में अंतर तो बराबर आता ही रहता था, लेकिन आम रुझान अवमूल्यन की ओर ही था। यहां की मुद्रा प्रणाली रिअल नामक इकाई पर आधारित थी यह स्पेनी रिअल से बहुत छोटा था। दरअसल यह पेनी का एक छोटा अंश मात्र था। लेकिन मानक सिक्का परदाओ था, जो आरंभ में पगोडा का समरूप था। लेकिन 1600 ई० तक रीअल और उसके साथ ही स्वर्ण परदाओ का भी अवमूल्यन हो गया, जिससे पगोडा उन दिनों 360 रीअलों के बजाय 570 के बराबर था।[2] इस समय स्वर्ण परदाओ 2-1/4 अकबरी रुपये के बराबर था और एक दूसरा परदाओ भी जो सोने का नहीं होता था और जिसका मूल्य कुछ कम होता था, चलन में आ गया था। व्यवहारतः इस काल के परदाओ को दो रुपये के बराबर माना जा सकता है, लेकिन जब स्पष्ट रूप से स्वर्ण परदाओ का उल्लेख हो तो उसे 2-1/4 रुपये के बराबर मानना चाहिए।

मुझे ऐसे तथ्य या आंकड़े प्राप्त नहीं हुए हैं जिनके आधार पर दक्षिण भारत के इन सिक्कों की क्रय शक्ति का एक मोटा अंदाजा भी दे सकूं। विभिन्न यात्रियों ने लिखा है कि सूरत और उसके आसपास कीमतें कम थीं, लेकिन ध्यातव्य है कि इन दिनों अमरीका से यूरोप में बड़ी मात्रा में पहुंचने वाली चांदी का प्रभाव उसके आर्थिक जीवन पर पड़ रहा था। यूरोप में कीमतें बढ़ रही थीं, और किस यात्री के मन में कीमतों का कौन-सा मानक था, यह कहना कठिन है। प्रारंभिक अंग्रेज व्यापारियों द्वारा दिए गए कुछ आंकड़ों से प्रकट होता है कि कीमतें उत्तर भारत की अपेक्षा सूरत में बहुत ऊंची थीं, लेकिन इन इक्के दुक्के बिखरे सौदों के आधार पर कोई निष्कर्ष निकालना निरापद नहीं होगा, खास कर इसलिए कि ये सौदागर इन स्थानों के लिए नये थे और आश्चर्य नहीं कि ये ठगे गए हों।

इसके अलावा जैसा कि हम आगे के अध्याय में देखेंगे, समुद्री बंदरगाहों में कीमतें बड़ी तेजी से चढ़ती उतरती थीं, इसलिए ऐसे आंकड़ों का उपयोग करना खतरनाक होगा जो शायद बहुत असाधारण परिस्थितियों में की गई खरीददारी से जुड़े हुए हों, यह संभव है कि देश में ऊपरी हिस्सों की अपेक्षा तटीय क्षेत्रों में कीमतें ऊंची रही हों, लेकन जब तक और सामग्री प्राप्त नहीं होती, अंतर की मात्रा नहीं बताई जा सकती।

पाठकों ने लक्ष्य किया होगा कि मैंने भारत में प्रचलित विभिन्न सिक्कों के ठीक-ठीक मूल्य बताने का प्रयत्न नहीं किया है। मैंने जानबूझ कर ही यह प्रयत्न नहीं किया क्योंकि तब सौदा करने के जो तरीके प्रचलित थे उनके अंतर्गत सिक्कों का व्यवहार कोई आवश्यक शर्त नहीं थी। साधारणत: सौदों में तौल और माल के दर्जे की जांच, ये दो बातें आवश्यक थीं, और किसी खास सिक्के या उस सिक्के के अंशों का मूल्य बातचीत से तय किया जाता होगा। विदेशी सिक्कों को उसमें प्रयुक्त धातु के मूल्य के हिसाब से स्वीकार किया जाता था, और इसलिए नये सिक्कों का मूल्य पुराने घिसे हुए सिक्कों से ज्यादा होता था। पहले के शासकों के भारतीय सिक्के इन्हीं शर्तों पर स्वीकार किए जाते थे और ताजा जारी किए गए सिक्कों में प्रत्येक धातु भी यदि स्वीकृत स्तर से निम्न पाई गई तो उनमें भी बट्टे लग सकते थे। 'आइन-ए-अकबरी' में इसमें सुधार लाने के अकबर के प्रयत्नों का जो लंबा विवरण दिया गया है उससे स्थिति का कुछ अंदाजा प्राप्त किया जा सकता है। प्रचलित सिक्कों के मूल्य निर्धारण संबंधी नियमों में कई बार परिवर्तन किए गए और अन्य बहुत से मामलों की तरह इस मामले में भी अबुलफजल के दरबारी अंदाज में दिए गए इस आश्वासन को सही मानना संभव नहीं है कि नये नियमों को सर्वत्र स्वीकार कर लिया गया था। इन नियमों को हम इस बात का प्रमाण तो मान सकते है कि सिक्कों की कीमतों के बारे में धोखाधड़ी चलती थी, लेकिन हम निश्चयपूर्वक यह नही कह सकते कि इन नियमों के लागू हो जाने से इस मामले में साम्राज्य भर में ईमानदारी का व्यवहार किया जाने लगा। इस बात का भी संकेत मिलता है कि टकसालों के अमलों पर हलके सिक्के जारी करने का संदेह था। सरकारी खजांची खजाने में आए सिक्कों का वजन घटा कर बताते थे और विक्रेता भी ऐसा करते थे; साथ ही गलत बाटों का भी उपयोग करते थे। यह भी मालूम होता है कि खजांची कभी-कभी ऐसा आग्रह भी करते थे कि राज्य की बकाया रकमें किन्हीं खास प्रकार के सिक्कों में ही अदा की जाएं, शायद ऐसे सिक्कों के रूप में जिन पर उनका और उनके मित्रों का कुछ समय के लिए स्थानीय तौर पर एकाधिकार होता था। इसके अलावा यह भी ज्ञात होता है कि सिक्कों के वजन में कितनी कमी नजरअंदाज की जा सकती है, इस संबंध में जो नियम थे उनकी कभी-कभी उपेक्षा होती थी। इसलिए आश्चर्य नहीं कि सिक्कों की खरीद-बिक्री का कारोबार सारे भारत में बहुत विकसित था। यात्रियों को हर व्यापार केंद्र में सिक्कों के कुशल सौदागर देखने को मिले।

इसलिए जिन परिस्थितियों में कारोबार चलाया जाता था उन्हें ठीक से समझने के लिए इस बात को ध्यान में रखना आवश्यक है कि इस काल में सिक्कों को मूल्य का निश्चित मानक नही माना जाता था, बल्कि उन्हें भी व्यापार की वस्तु माना जाता था और व्यापार की अन्य वस्तुओं के मुकाबले उनकी कीमतें उनके वजन और मात्रा पर मुनहसर थीं। यदि कोई व्यापारी किसी वस्तु का मूल्य पैसों में अदा करना चाहता था तो वास्तव में उसका मतलब यह होता था कि वह एक प्रकार का वस्तु विनिमय कर रहा है। वह जानता था कि दूसरा पक्ष सामान्यतया पैसे स्वीकार कर लेगा, लेकिन उसे यह भी मालूम था कि वह उसे पैसे की तरह नहीं, बल्कि उसमें प्रयुक्त धातु के मूल्य को देखकर स्वीकार करेगा और सौदा तय करने के पूर्व यह भी तय करना होगा कि उसमें कितनी धातु है। आधुनिक परिस्थितियों से परिचित पाठकों को कारोबार का यह तरीका बहुत जटिल और असुविधाजनक लगेगा, लेकिन यह सोचना शायद गलत होगा

कि सोलहवीं सदी के व्यापारी भी इसे इसी दृष्टि से देखते थे। यूरोपीयों के विवरणों में मुझे इस संबंध में कोई शिकायत देखने को मिली हो, ऐसा मुझे ध्यान नहीं आता। भारतीय तो इस व्यवस्था से भलीभांति परिचित ही थे; इसलिए मैं समझता हूं कि इसे वे अपना कारोबार का एक स्वाभाविक हिस्सा मानते होंगे। जिन विभिन्न सिक्कों से उनका वास्ता पड़ता था, उनके पारस्परिक संबंध का उन्होंने अंदाजा बना रखा था। ये संबंध उन सिक्कों में प्रयुक्त सोने या चांदी की मात्रा पर आधारित थे, लेकिन किसी खास सौदे में जब सिक्कों का सहारा लिया जाता था तब उनका सही मूल्य तय करना पड़ता था।

मैंने यहां सिक्कों के पारस्परिक संबंधों का ही संकेत देने का प्रयत्न किया है। जो पाठक इस काल में भारत की आर्थिक अवस्था का अंदाजा लेना चाहते हैं उनके लिए अकबरी रुपये को ध्यान में रख कर विचार करना शायद सब से आसान होगा। जहां तक उत्तर भारत का संबंध है, उन्हें सिर्फ इतनी बात ध्यान में रखने की जरूरत है कि रुपया तांबे के लगभग चालीस दामों के बराबर था और आम सोने की मोहर दस रुपये के बराबर थी, लेकिन इन सिक्कों की क्रयशक्ति मौजूदा शताब्दी की तुलना में छः गुनी थी। दक्षिण की ओर बढ़ने पर उन्हें चांदी का महमूदी (लगभग ढाई रुपये के बराबर) और चांदी का वराह या पगोडा (प्रायः साढ़े तीन रुपये का) देखने को मिलेगा। चांदी के विदेशी सिक्कों के बारे में इतना याद रखना काफी होगा कि लैरिन लगभग महमूदी के बराबर ही था और इटली के ड्यूकाट तथा स्पेन के रीअल्स-आफ-एट में से प्रत्येक दो रुपये के बराबर था। सोने के सिक्कों में सिक्विन और ड्यूकाट में से प्रत्येक चार रुपये के बराबर था, और गोआनी परदाओ यदि सोने का हुआ तो 2-1/4 रुपये के बराबर अन्यथा दो रुपये के बराबर होता था। दक्षिण में इन सिक्कों की क्रयशक्ति के बारे में अभी इतना ही कहा जा सकता है कि इनके अंकित मूल्य को उत्तर भारत के रुपये जितना बढ़ा कर नहीं देखना चाहिए, लेकिन इसे किस अनुपात में बढ़ाना चाहिए, यह बात तो जब तक और भी आंकड़े सामने नहीं आते तब तक संदिग्ध ही रहेगी।

अध्याय 2 के प्रमाण स्रोत

अनुच्छेद 1 : विजयनगर के प्रशासन के लिए देखिए सेवेल 373, और सर्वत्र। दकन के लिए देखिए बारबोसा, 289 और थेवनो, 279,301-71 अकबर की शासन प्रणाली का अध्ययन 'आईन' में किया जाना चाहिए। इस कृति के संबंध में कुछ कठिनाइयों का विवेचन जनाब यूसुफ अली और मैंने जर्नल रा०ए०सो०, जनवरी 1918 में किया है और इस पुस्तक में मैं उसमें दिए निष्कर्षों के अनुसार चला हूं। मुगल सेना के संगठन के बारे में संदर्भों की सूची अगले अध्याय में दी जाएगी।

अनुच्छद 2 : रिश्वतखोरी के लिए देखिए खास तौर से सेवेल, 380 लेटर्स रिसीव्ड, iv, 9; रो, 263। मैनरिक (lxxi) ने बताया है कि जब वह मुल्तान के कोतवाल द्वारा गिरफ्तार कर लिया गया तब किस प्रकार 'उसको संतुष्ट करने वाली कुछ भेंट-नजर' के जरिए उसकी रिहाई का रास्ता निकाला गया। प्रभाव के उपयोग के महत्व के लिए देखिए रो, 416,436 और लेटर्स रिसीव्ड, vi, 117। शहंशाह से अपील करने के खतरे के लिए देखिए परकास I, iv, 439 में फिच। सांप्रदायिक दबाव का विवरण लेटर्स रिसीव्ड, vi, 320 से लिया गया है, और कुर्की-संबंधी

तफसीलें लेटर्स रिसीव्ड, i. 25; vi. 117, और डीलेट, 124 से ली गई है।

अनुच्छेद 3 : कोतवाल के लिए अकबर के विनियम 'आईन' के भाग 3 (अनुवाद, ii, 41) में हैं। गोलकुंडा के कोतवाल का उल्लेख थेवनो, 290 में है, और विजयनगर के पुलिस प्रशासन का जिक्र मेजर 30 और सेवेल, 381 में है। इस प्रणाली के अमली रूप का वर्णन थेवनो, 59, 60 में है। सजाओं के बारे में दिए गए उद्धरण तुजुक (अनुवाद, *i.* 432) *में देखे जा सकते हैं। अराजकता के खतरे के बारे में* देखिए खासकर रो, 295। आगरा का सालबैंक द्वारा दिया गया वर्णन लेटर्स रिसीव्ड, vi, 198 में है।

अनुच्छेद 4 : ग्रामीण क्षेत्रों में पुलिस प्रशासन का एक मात्र सीधा उल्लेख मुझे 'आईन' (अनुवाद ii, 47) में देखने को मिला है, जहां कहा गया है कि कोतवाल की उपस्थिति में उसका काम अमल-गुजार करे।

फिंच की देश के भीतरी भाग की यात्रा का विवरण परकास, *I*, vi, 424, से शुरू होता है। जिन अन्य प्रमाण स्रोतों का संदर्भ के लिए उपयोग किया गया है वे हैं वर्थेमा, 130; सेवेल, 381 (नुनिज के लिए); परकास, II, x, 1735, 1736 (फिंच के लिए); I, iv, 484 (विथिंगटन के लिए) I, iv, 520 (स्टील और क्राउथर के लिए); लेटर्स रिसीव्ड, II, 254, और सर्वत्र (सूरत से निकलने वाली सड़कों के लिए), v, 323, (गोलकुंडा के लिए); टेरी, 160, 171; हाकिंस, 434 और तुजुक, i, 7।

अनुच्छेद 5 : चुंगी और जल-कर के विषय में अकबर के आदेश 'आईन' (अनुवाद, 281) में है। सिंधु नदी में अंग्रेज व्यापारियों के अनुभव का विस्तृत वर्णन परकास I. iv, 497 में है, फ्लोर्स की सलाह लेटर्स रिसीव्ड iv, 78 में है जबकि रो की शिकायत इस जर्नल के पृष्ठ 68 पर है। पुर्तगालियों द्वारा सरकारी तौर पर लगाए गए करों और शुल्कों के बारे में कोई स्पष्ट कथन मुझे कहीं देखने को नहीं मिला है, लेकिन व्यावहारिक स्थिति यह थी कि कर और शुल्क आपस में बातचीत करके तय किए जाते थे : जैसा कि पाइरार्ड (अनुवाद ii, 240) कहता है, सूबेदार पैसे लेकर सब कुछ करने देते है। कालीकट के चुंगीघर का पाइरार्ड द्वारा दिया गया विवरण *i*, 238 में है।

गमन शुल्कों के संबंध में जहांगीर के आदेश तुजुक (अनुवाद, i, 7) में है। देश के अंदर चलने वाले जलयानों पर लगाए जाने वाले शुल्कों और उनसे जबरन ली जाने वाली उगाहियों के लिए देखिए हे, 730, माफियों के लिए देखिए मान्सरेट, 581, बाद के काल में गमन शुल्क के लिए देखिए मंडी ii, 39 और सर्वत्र, थेवनो, 15, टैवर्नियर. 81, 305, और मैनरिक lxxi। विजयनगर में चुंगी के लिए देखिए सेवेल, 364, 366 और हे, 738, दकन के लिए देखिए थेवनो, 279। रक्षकों के लिए शुल्कों का उल्लेख अनेक स्थलों पर हुआ है मसलन लेटर्स रिसीव्ड, iv में।

अनुच्छेद 6 : बड़े मुनाफे की आवश्यकता के बारे में दिया गया उद्धरण लेटर्स रिसीव्ड v, 116, से लिया गया है। उत्तराधिकार संबंधी मुगल नियम की चर्चा बर्नियर (पृष्ठ 116) में किंचित विस्तार से हुई है। टैवर्नियर (ii, 15 और सर्वत्र) इस नियम द्वारा संपत्ति को छिपा कर रखने की प्रवृत्ति को मिलने वाले उत्तेजन पर जोर देता है, और मैनरिक (Ixxi) ने इस नियम के अमली रूप का सजीव वर्णन दिया है पाठ

में i के संबंध में जो उद्धरण दिए गए हैं वे टेरी, 391 और वर्नियर, 229 से लिए गए हैं।

अनुच्छेद 7 : अकबरी मन के लिए देखिए टामस, क्रानिकल्स, 430, परकास I. iii, 218, लेटर्स रिसीव्ड, iii. I, 84, डा० लेट, 137। सूरत में प्रचलित मन का उल्लेख लेटर्स रिसीव्ड में अनेक वार हुआ है, जैसे I, 30 में। गोआनी मन का उल्लेख गार्सिया दा ओर्टा के आरंभ में दी गई तालिका में हुआ है। कैंडी और वहार के लिए देखिए हाब्सन जाब्सन में इन शब्दों के अंतर्गत दी गई प्रविष्टियां। क्विंटल के लिए देखिए (उदाहरण के तौर पर) लेटर्स रिसीव्ड I, 30। लिवर के उल्लेखों के लिए देखिए टैवर्नियर, 290 और सर्वत्र, इस का मूल्य मैंने ग्रैंड एनसाइक्लोपीडिया (कैला, लिवरे) से लिया है।

गज के लिए देखिए आईन, अनुवाद, ii, 58 और आगे, तथा यूजफुल टेबल्स, 87 और आगे। कोवाड के लिए देखिए लेटर्स रिसीव्ड I, 34, ii, 230।

अकबर की मुद्रा प्रणाली का विस्तृत वर्णन आईन (अनुवाद I, 16 और आगे) में हुआ है। सोन के सिक्कों की विरलता का उल्लेख कई लेखकों ने किया है, जैसे टेरी, 112, 113, टैवर्नियर, ii, 14 और आगे भी। टैवर्नियर ने तांबे के मुकावले चांदी के अनुपात का अंतर वताया है। हुंडी की पद्धति का पूरा वर्णन टैवर्नियर, ii, 24 में है और अंग्रजी के अधिकांश विवरणों में उसके प्रासंगिक उल्लेख हुए हैं, जैसे लेटर्स रिसीव्ड, II, 228, 266 ; iii, 2811। रुपये की क्रय-शक्ति का विवेचन मैंने अक्तूबर. 1918 के लिए जर्नल आफ द रा०ए०सो० में किया है, पृष्ठ 375 और आगे।

दक्षिण भारत में प्रचलित सिक्कों के लिए हाब्सन-जाब्सन में पगोडा, फनाम, परदाओ, चिक और लेरिन, की प्रविष्टियां देखिए और अन्यत्र किए गए उल्लेख भी। गोआनी सिक्कों के लिए देखिए ह्वाइटवे, अध्याय 4, और वारवोसा (अनुवाद, i, 191) पर मि० लांगवर्थ डेम्स की टिप्पणियां तटीय क्षेत्रों और उनके आसपास कीमतों के कम होने के उल्लेख टेरी, 175 और डेला वेल 42 में मिलेंगे अंग्रेजों द्वारा सूरत में (1611 ई०) दिए गए दामों के लिए देखिए लेटर्स रिसीव्ड i, 141। मुद्रा प्रणाली के संवंध में प्रचलित भ्रष्टाचार के लिए देखिए खास तौर से आईन, अनुवाद, i 32 और आग।

संदर्भ

1. फादर एन. पिमेंटा ने (हे, 740, 1598 में) लिखा कि एम. टामे या मैलापुर के क्षेत्र विजयनगर राज्य के अधीन थे और राजा ने यह क्षेत्र तंजोर के नायक को कुछ निश्चित शर्तों पर शासनार्थ सौंप दिया था। लगभग इन्हीं दिनों मिशनरियों द्वारा की गई यात्राओं के क्रम में जिन अनेक घटनाओं का उल्लेख है, वे इस मान्यता की पुष्टि करती हैं कि अव भी स्थानीय सरदार उस क्षेत्र में पक्के तौर पर पदासीन थे और वे सम्राट की सत्ता को नाम मात्र को ही स्वीकार करते थे।
2. अकबर ने अपने सूवेदारों को न्यायिक जांच की कार्य विधि के संवंध में निर्देश दिए हैं। इससे इस वात का संकेत मिलता है कि काजी और अदल का अपना कोई अलग अधिकार क्षेत्र नहीं था।
3. कुछ वाद के काल में सिफारिश के उदाहरण के लिए देखिए हकलुइत, v, 52, एक भारतीय नाव के प्रधान अधिकारी को कटक आने वाले अंग्रेजी जहाजों से कुछ शिकायत थी। उसने एक सरदार को कुछ रिश्वत देकर वहां के सूवेदार से अपने मामले की पैरवी करने पर राजी कर लिया।

4. यह स्वीकार करना होगा कि पुर्तगाली भारतीयों को नीची निगाह से देखते थे, लेकिन दरअसल सारी दुनिया की जातियों के प्रति उनका यही रुख था और ऐसा नहीं है कि वे किसी एक जाति के संबंध में ऐसी दृष्टि रखते थे। वे भारतीयों से घृणा इसलिए नहीं करते थे कि वे भारतीय थे, बल्कि इसलिए कि वे पुर्तगाली नहीं थे। पाइरार्ड ने अपने निजी अनुभव के आधार पर यह बात साफ शब्दों में कही है। उसके अनुसार भारत स्थित पुर्तगाली अपने को सब से अधिक प्रतिष्ठित और सम्माननीय मानते हैं, और न केवल भारतीयों को, बल्कि यूरोप के अन्य राष्ट्रों को भी बहुत नीची निगाह से देखते हैं। पाइरार्ड, अनुवाद, ii, 128। इस तथ्य की पुष्टि अंग्रेजों के प्रति उनके रुख से भी होती है (देखिए परकास I, iii, 207, में 'हाकिन्स' का विवरण)।
5. आगे जो उद्धरण दिए गए हैं उनमें फिच की थोड़े में बहुत कह देने वाली चित्रमय भाषा को ज्यों का त्यों रखा गया है, लेकिन उसकी वर्तनी और विराम चिह्नों को आधुनिक चलन के अनुरूप बना दिया गया है।
6. बहादुर के विद्रोह का उल्लेख जहांगीर ने 'तुजुक', i, 49 में किया है।
7. सालबैंक ने तो सुरक्षा की स्थिति के संबंध में इससे भी खराब राय जाहिर की है। उसका दावा है कि यह जानी मानी बात है कि यात्रा के लिए संसार का कोई भी देश इससे अधिक खतरनाक नहीं है, क्योंकि यहां ऐसे हजारों रक्तपिपासु हैं जो पैसे के तीसरे हिस्से के मूल्य के पीतल के चंद सिक्कों के लिए किसी आदमी का गला काटने में भी नहीं झिझकते (लेटर्स रिसीव्ड, vi, 196)। लेकिन जब सालबैंक ने ये पंक्तियां लिखीं तब उसका मन कुछ बातों से बहुत क्षुब्ध था, और इसलिए कंपनी की सेवा में सामने आने वाले खतरों को उसने बढ़ा-चढ़ा कर लिखा।
8. फिच के अनुसार सूरत में वस्तुओं पर $2\frac{1}{2}$ प्रतिशत, खाद्य सामग्री पर 3 प्रतिशत और मुद्रा पर 2 प्रतिशत शुल्क लिया जाता था (परकास I, iv, 423), सत्रहवीं सदी में दरें बढ़ा दी गईं, लेकिन बहुत अधिक नहीं। थेवनो के समय में वे 4 से 5 प्रतिशत तक थीं (थेवनो, पृष्ठ 7)। 1616 में मछलीपट्टम में दरें $3\frac{1}{2}$ से 5 प्रतिशत थी (लेटर्स रिसीव्ड, iv, 28)।
9. 'अकबर, द ग्रेट मोगल', पृ० 377.
10. समकालीन लेखकों द्वारा प्रयुक्त यह नाम कुछ भ्रामक है। इसे आठ रिअलों का सिक्का कहा जाए तो अधिक ठीक होगा। स्पेनी रिअल इंग्लैंड के 6 पेंस से कुछ अधिक मूल्य का होता था। इस तरह आठ रीअलों का सिक्का लगभग चार शिलिंग 6 पेंस दो रुपये के बराबर था।
11. सोलहवीं सदी के आरंभ में पुर्तगाली रीअल 0.27 या 0.28 पेनी के बराबर था लेकिन 1600 ई० तक इसका मूल्य घटकर 0.16 पेनी रह गया था।

3
उपभोक्ता वर्ग

दरबार और शाही अमले

प्रशासन की कार्य पद्धति का विवेचन करने के बाद अब हम उन लोगों की आर्थिक स्थिति पर विचार करेंगे जो इस प्रशासन को चलाते थे अर्थात इस अध्ययन के लिए हमने भारत की आबादी को जिन वर्गों में बांटा है उनमें से पहले की माली हालत का जायजा लेंगे। एक ही वर्ग में दरबारियों और अमलों दोनों के शामिल किए जाने पर पाठकों को आश्चर्य हो सकता है, लेकिन इस काल के भारत में इन दोनों के बीच कोई स्पष्ट विभाजन रेखा नहीं खींची जा सकती। लोग सफल जीवन या कम से कम अच्छी आजीविका की तलाश में दरबार में आते थे। यदि उनकी तलाश विफल हो जाती थी तो वे वापस चले जाते थे, लेकिन सफल होने का मतलब था सेना में ऊंचा दर्जा मिलना, ऊंचा प्रशासनिक पद और अच्छा वेतन हासिल होना। वेतन नकद भी मिल सकता था और क्षेत्र विशेष से प्राप्त होने वाले संपूर्ण अथवा आंशिक राजस्व के अनुदान के रूप में भी मिल सकता था। कोई स्वतंत्र अभिजात वर्ग नहीं था, क्योंकि स्वतंत्रता विद्रोह का पर्याय था और कोई भी सामंत या सरदार या तो राजसत्ता का सेवक हो सकता था अथवा उसका शत्रु। इस विभाग के अंतर्गत उन ऊंचे पदाधिकारियों पर विचार किया जाएगा जिनकी दरबार में अपनी एक सर्वस्वीकृत स्थिति थी और छोटे-छोटे सैनिक और गैरसैनिक अधिकारियों के बारे में, जिन्हें सिर्फ अधिकारी ही माना जा सकता है, आगे चर्चा करेंगे।

इन ऊंचे पदाधिकारियों के संबंध में सारे देश में एक प्रकार की एकरूपता दिखाई पड़ती है। सोलहवीं सदी के पूर्वार्ध में विजयनगर के जो वर्णन किए गए हैं, उनसे प्रकट होता है कि सम्राट सरदारों के एक समुदाय से घिरा रहता था। ये सरदार प्रशासन के मुख्य पदों पर आसीन होते थे, ये साम्राज्य के कुछ हिस्सों का शासन चलाते थे, अपने अधीनस्थ क्षेत्रों के राजस्व का एक बड़ा भाग अपने ही पास रख लेते थे, और इन पर निर्धारित आकार प्रकार के सैनिक दस्ते रखने का दायित्व होता था। सोलहवीं और सत्रहवीं सदियों में दकन के राज्यों के जो विवरण मिलते थे उन सब में लगभग इसी स्थिति की झांकी मिलती है। लेकिन अकबर ने इसी प्रकार का जो संगठन कायम कर रखा था उसके संबंध में हमें विस्तृत विवरण उपलब्ध हैं। इसलिए उसके संगठन को इस काल की भारतीय प्रणाली का नमूना मानना अनुचित न होगा और यदि हम मुगल साम्राज्य के संदर्भ में इसका विस्तृत अध्ययन करते हैं तो हमारे वर्तमान प्रयोजन के लिए यह पर्याप्त होगा, क्योंकि हमें उसके संबंध में लगभग पूर्ण जानकारी उपलब्ध है। फिर भी विजयनगर में ऐसे सरदारों की क्या स्थिति थी, इसके कुछ उदाहरण देना अप्रासंगिक न होगा। इन उदाहरणों के लिए हमारा आधार 1535 ई० में नुनिज द्वारा किया गया विजयनगर का वर्णन है। उन दिनों सम्राट का मुख्यमंत्री कोरोमंडल तट, नेगापट्टम, तंजौर और कुछ अन्य इलाकों पर शासन करता था। इससे उसे जो आमदनी होती थी उसमें से

राजकोष के लिए निर्धारित राशि देकर उसके पास 7,33,000 स्वर्ण परदाग्रो या 20 लाख रुपये बच जाते थे।[1] इस शेष राशि से उसे 30,000 पैदल ग्रौर 3,000 घुड़सवार सैनिक रखने पड़ते थे, लेकिन नुनिज यह भी बताता है कि सैनिकों के संबंध में वह कुछ मितव्ययिता भी करता था। इसी प्रकार रत्नपाल या जवाहरातों के रख-रखाव के लिए जिम्मेदार ग्रधिकारी के शासन में दकन का एक बहुत बड़ा भाग था ग्रौर वह ग्रपने पास इस क्षेत्र की ग्राय में से दो लाख स्वर्ण परदाग्रो रख लेता था, जिसके एवज में उसे राज्य की सेवा के लिए 12,600 सैनिक रखने पड़ते थे। उदयगिरि के ग्रासपास के क्षेत्रों का शासन चलाने वाला एक भूतपूर्व मंत्री 5 लाख स्वर्ण परदाग्रो ग्रपने पास रखता था ग्रौर उस पर 26,500 सैनिक रखने का दायित्व था। इन ग्रांकड़ों का महत्व सेना पर होने वाले खर्च पर निर्भर करता है। इस संबंध में सही तथ्य उपलब्ध नहीं हैं, लेकिन एक मोटे ग्रनुमान के ग्रनुसार देखें तो कहना पड़ेगा कि इनके पास कागजी तौर पर बहुत कम राशि बच पाती थी, मंत्री के पास शायद सालाना दो-तीन लाख रुपये ग्रौर ग्रन्य सरदारों के पास इससे भी कम। लेकिन यह संभव जान पड़ता है कि उनकी वास्तविक ग्राय के दो स्रोत हों। इनमें से एक तो था सैनिक खर्च में की जाने वाली बचत ग्रौर दूसरा निर्धारित राजस्व के ग्रतिरिक्त की जाने वाली वसूली। इस बात के पुष्ट प्रमाण मिलते हैं कि ये दोनों साधन काफी महत्वपूर्ण थे, ग्रौर यह मानना उचित होगा कि दक्षिण भारत में भी योग्य ग्रौर नैतिक सिद्धांतों की परवाह न करने वाले सरदार उतने ही सुखी संपन्न थे जितने कि उत्तर भारत में ग्रकबर के सरदार ग्रौर सामंत। यह सच है कि इन विवरणों का संबंध तालीकोट की लड़ाई से पहले से है ? लेकिन उस निर्णायक युद्ध का इन सरदारों की ग्राय पर शायद कोई स्थायी प्रभाव नहीं पड़ा,[2] ग्रौर जेसुइट मिशनरियों ने प्रसंगवश इस सदी के ग्रंतिम वर्षों के जीवन का जो चित्र प्रस्तुत किया है उससे लगता है कि दक्षिण में भी इन लोगों का जीवन उतना ही संपन्न ग्रौर वैभवमय था *जितना कि भारत के उन भागों में था जिनके संबंध में हमें ग्रधिक विशद प्रमाण उपलब्ध हैं।*

उत्तर भारत की ग्रोर दृष्टि डालने पर हम यह देख कर चकित रह जाते हैं कि जिस संगठन को ग्रकबर ने कायम कर रखा था उसमें छोटी-छोटी बातों की ग्रोर भी कितना ग्रधिक ध्यान दिया गया था। साम्राज्य के सभी बड़े लोग उस श्रेणी में ग्राते थे जिसे शाही सेवा की संज्ञा दी जा सकती है। इस सेवा की शर्तें शहंशाह ने बहुत विस्तार से निर्धारित कर रखी थीं, लेकिन भारत में इस काल में ग्रामतौर पर जिस प्रकार की सेवाएं देखने को मिलती हैं उनसे इस सेवा में कुछ तात्विक ग्रंतर था, इसलिए इसके ढांचे को पहली दृष्टि में समझना जरा कठिन है। इस सेवा में दाखिल किए गए व्यक्ति को कोई फौजी दर्जा या मनसब दिया जाता था, जिसका मतलब यह था कि वह एक निर्धारित संख्यक घुड़सवार सैनिकों का सिपहसालार होगा। इसके बाद उसे निर्धारित संख्या में सिपाही भरती करने पड़ते थे ग्रौर उनके लिए घोड़े जुटाने पड़ते थे। जब वह सैनिक टुकड़ी तैयार कर लेता था तब ग्रपने पद के ग्रनुसार वेतन पाने का ग्रधिकारी हो जाता था। इस तरह वह जिस सैनिक टुकड़ी के लिए जिम्मेदार बनाया जाता था उसमें ग्रामतौर पर निर्धारित संख्या से कम सिपाही होते थे। उदाहरण के लिए एक हजार सिपाहियों के सिपहसालार से ग्रपने वेतन में एक हजार घुड़सवार रखने की ग्रपेक्षा नहीं की जाती थी, इसके बजाय वह उससे कुछ कम घुड़सवार रखता था ग्रौर लगता है कि धीरे-धीरे यह संख्या कम ही होती जाती थी। ग्रकबर के शासन काल में

ग्राम तौर पर सबसे ऊंचा दर्जा पांच हजार सिपाहियों के सिपहसालार का होता था, लेकिन शाहजादे इससे ऊंचे दर्जे भी हासिल कर सकते थे। जब 'ग्राईन-ए-ग्रकबरी' का संकलन हुग्रा, उस समय शाहजादा सलीम, जो बाद में जहांगीर नाम से प्रसिद्ध हुग्रा, कम से कम 10,000 सैनिकों का प्रधान था। ग्रकबर के शासन काल के ग्रंतिम वर्षों में 5000 की मर्यादा में ढील दी गई, ग्रौर उसके उत्तराधिकारियों के समय में प्रजाजन बहुत ऊंचे पदों पर भी पहुंच सकते थे। 10 सैनिकों से 400 तक के नायकों को मनसबदार कहा जाता था, 500 से 2500 तक के प्रधान को ग्रमीर[3] ग्रौर 3000 तथा इससे ग्रधिक सिपाहियों के प्रधान को ग्रमीर-ए-ग्राजम या उम्दा कहा जाता था। ग्रपने पद के ग्रनुसार किसी पदाधिकारी को जितने सैनिक रखने पड़ते थे उनके ग्रलावा उसे कुछ ग्रतिरिक्त फौज रखने की इजाजत भी दी जा सकती थी। इस ग्रतिरिक्त फौज को सुवार कहते थे। यह एक विशेषाधिकार था। ग्रतिरिक्त सेना का वेतन शाही खजाने से मिलता था। सेनापति को उसमें से पांच प्रतिशत ग्रपने पास रखने का ग्रधिकार था। इसके ग्रलावा उसे शायद ग्रौर भी कई तरह के भत्ते मिलते थे ग्रौर फिर ग्रतिरिक्त सेना के ग्राकार के ग्रनुसार किसी हद तक उसका ग्रपना वेतन भी कम ज्यादा हुग्रा करता था।

मैंने विभिन्न दर्जों के इन ग्रधिकारियों के वेतनों का उल्लेख इस तरह किया है मानो वे निश्चित राशियों से दिए जाते रहे हों। सच तो यह है कि ग्रबुलफजल ने भी उनका जिक्र किया है। लेकिन किसी भी दर्जे के ग्रधिकारी की ग्रसली ग्रामदनी का मोटा ग्रंदाजा भी लगा पाना कठिन है। नीचे की तालिका में कुछेक श्रेणियों के ग्रधिकारियों के स्वीकृत मासिक वेतन दिए गए हैं। ग्रंक ग्रकबर काल के रुपये में हैं, ग्रौर जैसा कि पिछले ग्रध्याय में दिखाया गया है, वर्तमान स्तर से उत्तर भारत में उनकी क्रय शक्ति का ग्रंदाजा पाने के लिए उन्हें पांच या छः गुना करना उचित होगा।

दर्जा	मासिक वेतन			दर्जे के ग्रनुसार रखी जानेवाली सेना का खर्च
	पहला	दूसरा	तीसरा	
5000	30,000	29,000	28,000	10,600
3000	17,000	16,800	16,700	6,700
1000	8,200	8,100	8,000	3,000
500	2,500	2,300	2,100	1,170
50	250	280	230	185
10	100	821½	75	44

इसमें से प्रत्येक वेतन मान के संदर्भ में ग्रसली ग्रामदनी का ग्रंदाजा पाने के लिए हमें सबसे पहले तो उस फौज पर होने वाले खर्च को ग्रलग कर देना होगा जो ग्रधिकारी को ग्रपने दर्जे के मुताबिक रखनी पड़ती थी। मैंने तालिका के ग्रंतिम स्तंभ में यह खर्च दिखाया है। इस खर्च का ग्रनुमान इसी तरह की शाही सेना पर माहवारी खर्च की मंजूरी के ग्राधार पर लगाया गया है। लेकिन हम बखूबी ऐसा मान सकते हैं कि ये ग्रंक ग्रधिकतम खर्च के द्योतक हैं ग्रौर कोई योग्य ग्रधिकारी ग्रपनी फौज का खर्च इससे बहुत कम में चला सकता था, या कम से कम ऐसा कर सकता था। ग्रकबर के ग्रारंभिक काल में इस मामले में बहुत ग्रनियमितता बरती जाती थी। बदायूंनी ने उस समय फैले भ्रष्टाचार का बड़ा तीखा

वर्णन किया है, और अबुलफजल ने मर्यादित भाषा में इसका जो विवरण दिया है उससे वदायूंनी की बातों की मूलतः पुष्टि होती है। वास्तव में निर्धारित संख्या में सैनिक रखे जाएं, इस दृष्टि से अकबर ने बहुत से विनियम जारी किए, लेकिन यह सोचना शायद गलत होगा कि उसे पूर्ण सफलता मिली, और हम ऐसा मान सकते हैं कि तालिका में दिखाए गए खर्च से वास्तविक खर्च कम पड़ता था। दूसरे, हमें इस बात का भी ध्यान रखना है कि ये वेतन दिए किस तरीके से जाते थे। देश में परंपरा से जागीर के रूप में वेतन देने का चलन था। मतलब यह है कि किसी अधिकारी के लिए एक खास वेतन मंजूर करने का अर्थ था उतना ही राजस्व देने वाला गांव या गांवों के समूह, अथवा परगना या इससे भी बड़े क्षेत्र को उसे अनुदान के तौर पर दे दिया जाता। वित्त व्यवस्था के अन्य सुधारकों की तरह अकबर को भी यह पद्धति नापसंद थी, और उसने इसके स्थान पर नकद वेतन देने की प्रथा लागू करनी चाही। मुझे इसमें संदेह है कि उसे कभी पूर्ण सफलता मिल पाई थी। बहरहाल इतना तो निश्चित है कि जहांगीर के शासनकाल में जागीर प्रथा ने अपना खोया हुआ स्थान पुनः प्राप्त कर लिया। सरकारी अमले नकद अदायगी को खास तौर से इसलिए नापसंद करते थे कि लेजाने में देर होती थी। पास में जागीर होने से अधिकारी ज्यादा निश्चित अनुभव करता था। वह अक्सर ऐसी जागीर पाने की आशा करता था, जो उसे सफल मनोरथ कर सके, यानी ऐसी जागीर जिससे सरकारी कागजात में दर्ज रकम से ज्यादा आमदनी की जा सके। सच तो यह है कि जागीरें देने में खूब धोखाधड़ी और जालफरेब चलता था, और आर्थिक दृष्टि से इस पूरी व्यवस्था पर अकबर का आपत्ति करना ठीक था।[4] लेकिन जहां तक अकबर काल के अधिकारियों का संबंध है, हमारा यह कहना अनुचित न होगा कि वे उतना वेतन पाने की आशा तो कर ही सकते थे जितने का अबुलफजल ने उल्लेख किया है।[5] जबकि दूसरे जिन्हें जागीरें मिली हुई थीं, निर्धारित वेतन से कुछ अधिक ही की आशा कर सकते थे। इसके अलावा उनकी सेना पर, मैंने जो अनुमानित आंकड़े दिए हैं, उससे शायद कम ही खर्च बैठता था। फलतः उनकी असली आमदनी इन आंकड़ों से जितनी प्रकट होती है उससे अधिक थी।

इन अनिश्चितताओं को ध्यान में रखते हुए हम विभिन्न वर्गों के अधिकारियों की आय का एक मोटा अनुमान लगा सकते हैं। जिसे पंचहजारी दर्जा प्राप्त था वह कम से कम 18,000 मासिक की आशा तो रख ही सकता था, और सूझबूझ के साथ सैनिक खर्च में बचत करके या कोई लाभदायक जागीर प्राप्त करके वह अपनी इस आमदनी में इजाफा भी कर सकता था। इस आमदनी से वह लगभग उतनी ही चीजें खरीद सकता था जितनी 1914 ई० में एक लाख की माहवारी आमदनी से खरीदी जा सकती थीं, इस प्रकार आज भारत में सरकारी सेवा में लगे किसी भी अधिकारी से बहुत अधिक वेतन उसे मिलता था। इसी प्रकार एक हजारी दर्जे वाला अधिकारी 5000 माहवारी पाने की उम्मीद रख सकता था। यह राशि 1914 ई० के पचीस तीस हजार रुपये के बराबर हुई, या यों कहिए कि आज के लेफ्टिनेंट गवर्नर के वेतन की तिगुनी। 500 के मनसबदार की आमदनी 1914 ई० के हिसाब से पांच-छः हजार रुपये माहवारी होगी। इसलिए यद्यपि सही राशियां हम नहीं बता सकते, फिर भी यह निष्कर्ष सही जान पड़ता है कि शाही सेवा की ऊपरी श्रेणियों के अधिकारियों को आज भारत के या विश्व के किसी भाग में प्रचलित स्तर से बहुत अधिक वेतन दिया जाता था। निश्चय ही

भारत में उस समय कोई दूसरी आजीविका इतने भारी पुरस्कारों की संभावना वाली नहीं थी, और हमें इस पर आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि शाही सेवा के लोभ में पश्चिमी एशिया के एक बहुत बड़े भाग से योग्यतम अत्यधिक साहसी और उद्यमी लोग दरबार में खिंचे चले आते थे।

नियुक्तियां शहंशाह खुद करता था। किसको कौन-सा दर्जा दिया जाए, यह नियुक्त किए जाने वाले व्यक्ति की परिस्थितियों पर निर्भर था। उदाहरण के लिए राजा बिहारीमल को सीधे पंचहज़ारी दर्जे में रखा गया जो शाही परिवार से बाहर के लोगों के लिए सबसे ऊंचा दर्जा था। लेकिन सामान्यतया उम्मीदवार को किसी संरक्षण की तलाश करनी पड़ती थी, जो शहंशाह से उसका परिचय कराता था और यदि उस पर शहंशाह की कृपा हो जाती थी तो औपचारिकताओं की एक लंबी प्रक्रिया के बाद उसे नियुक्ति मिल जाती थी। किसी पद के लिए उम्मीदवार की उपयुक्तता की कोई मान्य कसौटी रही हो, ऐसा प्रतीत नहीं होता। कम से कम आज की तरह शैक्षणिक या अन्य योग्यताओं के प्रमाण की आवश्यकता तो नहीं ही पड़ती थी। अकबर को व्यक्तियों की परख की अपनी क्षमता पर बहुत भरोसा था और लगता है कि हर मामले में वह अपने विवेक से ही काम लेता था। इसी तरह तरक्की के निश्चित नियम नहीं थे। कोई भी अधिकारी की शहंशाह की मर्जी से उन्नति या अवनति संभव थी।

शाही सेवा में सिर्फ भारतीय राष्ट्रीयता के लोग ही नहीं लिए जाते थे और अकबर के समय में तो विदेशियों की ही प्रधानता थी। खुद अकबर भारत में विदेशी था उसका पिता इस देश में विजेता की हैसियत से आया था और उसके समर्थक सीमापार से आयातित लोग थे। सत्रहवीं सदी के मध्य में लिखते हुए बर्नियर जोर देकर कहता है कि मुगल अभी भी हिंदुस्तान में विदेशी हैं। वह कहता है कि 'उमरा मुख्यतः अच्छे अवसर की तलाश में विदेशों से आए लोग हैं, जो एक दूसरे को दरबार में आने को उकसाते हैं।' शाही सेवा के गठन का एक छोटा सा अंदाजा ब्लाकमैन की उन विस्तृत टिप्पणियों से पाया जा सकता है जो उसने अबुलफजल द्वारा प्रस्तुत अमीरों और मनसबदारों की सूची के संबंध में लिखी हैं। इनमें अकबर के शासनकाल में पांच सौ के मनसबदारों से ऊपर के पद पर की गई सभी नियुक्तियों की सूचियां दी गई हैं, साथ ही इनमें निचले तबके के उन पदाधिकारियों का भी उल्लेख है जो 'आईन' के संकलन के समय 1595 ई० के आसपास जीवित थे। ऐसे थोड़े-से अधिकारियों को छोड़ कर जिनके वंशमूल का कोई लिखित प्रमाण नहीं है, मैंने पाया है कि शेष में से प्रायः 70 प्रतिशत उन परिवारों से थे जो हुमायूं के साथ भारत आए थे या अकबर की गद्दीनशीनी के बाद दरबार में पहुंचे थे। बाकी के 30 प्रतिशत पदों पर भारतीय थे, जिनमें आधे से अधिक मुसलमान और शेष हिंदू थे। अकसर इस बात के लिए अकबर की प्रशंसा की गई कि उसने इस तरह की उदार नीति अपनाई जिससे उसकी हिंदू प्रजा को भी तरक्की करने का अवसर मिला। यह प्रशंसा उचित है, बशर्ते कि उस नीति के मूलस्वरूप की ओर यथेष्ट ध्यान दिया जाए। लगभग चालीस साल के शासनकाल के दौरान उसने कुल 21 हिंदुओं को 500 से ऊपर की मनसब या अमीरी प्रदान की, लेकिन इनमें से सात राजपूत थे, जिसका मतलब यह हुआ कि अधिकांश नियुक्तियां उन सरदारों पर शाही सत्ता को सुदृढ़ बनाने के उद्देश्य से की गईं जिन्होंने उसकी अधीनता स्वीकार कर ली थी। शेष चार मदों में से एक पर दरबार में अपनी हाजिर-जवाबी के लिए प्रसिद्ध राजा बीरबल, दूसरे पर महान राजस्व

शासक राजा टोडरमल, तीसरे पर उसका पुत्र और चौथे पर एक और खत्री की नियुक्ति की गई, जिसके मूल के बारे में कोई लिखित प्रमाण नहीं मिलता, लेकिन ऐसा माना जा सकता है कि उसे टोडरमल की कृपा से यह पद प्राप्त हुआ था। निचले दर्जों में सैंतीस हिंदू थे, जिनमें से तीस राजपूत थे। इस प्रकार यह तो सच है कि शाही सेवा हिंदुओं को भी योग्यता का परिचय देकर अपना जीवन संवारने का अवसर देती थी, किंतु यह भी सच है कि व्यवहारतः यह अवसर राजपूतों तक सीमित था और अपवादस्वरूप बहुत थोड़े से अधिकारी अन्य जातियों मे लिए गए थे। पूरी सूची में समग्र साम्राज्य में सिर्फ दो ही ब्राह्मणों के नाम शामिल है: एक बीरबल और दूसरा उसका फिजूल खर्च बेटा। सही बात यह है कि शाही सेवा में ऊंचे दर्जो पर विदेशी लोगों और मुसलमानों के अलावा मुट्ठीभर राजपूत, बीरबल और टोडरमल ही शामिल थे।

शाही सेवा के पदाधिकारियों का बुनियादी कर्तव्य सिर्फ शहंशाह के हुक्मों की तामील करना था, हालांकि निचले दर्जे के अधिकारी आम तौर पर अपने वरिष्ठ अधिकारियों के मातहत होते थे। अधिकारियों की दो सूचियां रखी जाती थी। एक सूची दरबारदारियों या सेवकों की थी और दूसरी उन लोगों की जिन्हें विशेष दायित्व के काम दिये गये थे। पहली सूची में आने वाले अधिकारियों को नियमित रूप से दरबार में हाजिर होने, अपने हिस्से की सैनिक टुकड़ियों की देखरेख और शहंशाह के आदेशों का पालन करने के लिए तैयार रहने के अलावा और कुछ नही करना पड़ता था। दूसरी सूची में शामिल अधिकारियों को तरह-तरह के काम करने पड़ते थे। वे विशुद्ध सैनिक काम पर लगाए जा सकते थे, वे सूबेदार या सूबों में अधिकारी बनाए जा सकते थे, या फिर उन्हें शाही परिवार से संबंधित विभागों में, जैसे नौबतखाने, घुड़सालों अथवा फलगाह में, नियुक्त किया जा सकता था। किसी भी पद पर नियुक्ति के लिए किसी प्रकार की विशेषता की खास अपेक्षा नही रखी जाती थी। कोई भी अधिकारी क्षणभर में किसी सर्वथा नये पद पर स्थानांतरित किया जा सकता था। बीरबल दरबार में अनेक साल बिताने के बाद एक सीमावर्ती युद्ध में सैन्य संचालन करते हुए मारा गया, और साहित्य जगत में प्रसिद्ध अबुलफजल ने दकन की लड़ाइयों का सूत्र संचालन बड़ी कुशलता से किया। संपूर्ण शाही सेवा अकबर के प्रत्यक्ष आदेशों के अधीन थी, और वह किसी खास काम के लिए किसी विशेष समय में जिस अधिकारी को सबसे उपयुक्त समझता था उसी को उस काम के लिए चुनता था। इस पद्धति पर चलाए गए शासन की सफलता आदमी की परख करने की अकबर की क्षमता का सबसे अच्छा सबूत है।

अकबर की शाही सेवा में पदोन्नति आदि की संभावनाओं पर सामान्य दृष्टि डालने पर यही लगता है कि आज की राजकीय सेवा की अपेक्षा वकालत के पेशे के वह अधिक निकट थी। आज हम नियमित पदोन्नति की जिस व्यवस्था से इतने अधिक परिचित हैं उस तरह की कोई चीज उन दिनों नहीं थी। बड़े इनाम जीतने के मौके तो बहुत थे, लेकिन उस लाटरी में कोरे कागज ही अधिक निकलते थे। शुरूआत निश्चय ही बहुत मुश्किल होती होगी और किसी छोटे सेवक के लिए सम्राट का कृपा भाजन बनना भी बड़ा कठिन रहा होगा, लेकिन एक बार शुरूआत हो जाने पर तरक्कियां बड़ी तेजी से हो सकती थीं, और कोई भी अधिकारी साम्राज्य के लिए उपयोगी गुणों का परिचय देकर सफलता प्राप्त कर सकता था। ब्लाकमैन ने समकालीन साहित्य में से जीवन चरित्र विषयक जो सामग्री संकलित की है और जिसका उल्लेख हम पहले ही कर चुके है उसमें अकबर

के सेवा संगठन द्वारा प्रस्तुत तरक्की की संभावनाओं के अनेक उदाहरण मिलते हैं। हकीम अली विलकुल फटेहाल फारस से भारत आया था, लेकिन उसे अकवर की कृपा प्राप्त हो गई, फलतः निजी सेवक के पद से तरक्की करके दो हजारी दर्जे तक पहुंच गया। पेशराव खां हुमायूं को भेंट में दिया गया गुलाम था। उसने विभिन्न पदों पर रह कर साम्राज्य की सेवा की और जव उसकी मृत्यु हुई उस समय वह दो हजारी अमीर था तथा अपने पीछे 15 लाख (आधुनिक मूल्य के अनुसार लगभग एक करोड़ रुपये) की संपत्ति छोड़ गया। निस्संदेह, शाही सेवा भारत में सफल जीवन का सवसे आकर्षक मार्ग थी, लेकिन इसके अपने दोष भी थे। शहंशाह अपने सभी अमलों की संपत्ति का सहज उत्तराधिकारी था और कोई भी अधिकारी अपने वाद अपने वारिस को न अपना पद दे सकता था और न संपत्ति। अधिक से अधिक यही आशा की जा सकती थी कि परिवार के गुजारे के लायक संपत्ति छोड़ दी जाएगी और उसकी सेवाओं का ख्याल करके उसके लड़कों को शाही सेवा में रख लिया जाएगा। ऐसी ही अन्य स्थितियों का सामना करने के लिए कुछ अधिकारियों ने संभवतः छिपा कर संपत्ति जोड़ी हो, लेकिन कम से कम यह तो असंभव था कि कोई अपने परिवार को प्रकट रूप से संपन्न तथा स्वतंत्र स्थिति में स्थापित करदे। हर पीढ़ी को नई शुरुआत करनी पड़ती थी। जैसा कि हम आगे देखेंगे, ठाट-वाट वनाए रखने और उस समय के आडंवरपूर्ण स्तर के रहन-सहन से खर्चे वेहद वढ़ जाते थे, वेतन अनियमित रूप से मिलते थे और जागीरों को तो एक प्रकार से जुए का खेल कहा जा सकता था। फलतः इस वात का हर संभव प्रयोजन मौजूद था कि आदमी क्षणिक समृद्धि का पूरा लाभ उठा कर काफी पैसा जोड़ ले, ताकि वुरे दिनों में काम आए या उसके वल पर वह प्रभावशाली और सत्तासंपन्न लोगों की कृपा प्राप्त कर सके। रिश्वत और नजराने पर खर्च किया गया पैसा सव से लाभदायक विनियोग सावित हो सकता था। पैसा वचाने का मतलव उसे वर्वाद करना था। हां, दुनिया की नजरों से छिपाकर पैसा जमा किया गया हो तो वात और थी।

मैंने अकवर के उच्चाधिकारियों की स्थिति का चित्र कुछ विस्तार से प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। इस विषय पर थोड़ा विस्तार में जाने का प्रयोजन यह है कि ये अधिकारी साम्राज्य का प्रशासन चलाते थे और आम लोगों का भाग्य इनके हाथों में था। साम्राज्य के इन वड़े लोगों से, जो असली आर्थिक महत्व के प्रश्न जुड़े हुए हैं उनका संवंध वास्तव में संपूर्ण भारत के ऐसे सत्तासंपन्न मुट्ठी भर लोगों से नहीं, वल्कि समूची प्रजा से है। जिस प्रणाली का वर्णन किया गया है उसने सफल अधिकारियों के किन गुणों को उभारा और उजागर किया? क्या उस प्रणाली से ऐसे प्रशासक तैयार करने की आशा की जा सकती थी जिनके मन में जनहित का ध्यान रहा हो? या कि उसकी रुझान देश को गरीवों के हितैपियों के वजाए शोपकों से भर देने की ओर थी? मैं समझता हूं, इन प्रश्नों के उत्तर प्रतिकूल ही होंगे। समकालीन ऐतिहासिक विवरणों का अध्येता जहां यह देखता है कि कुछ शासक ईमानदारी से काम कराने के लिए फिक्रमंद रहते थे और ऐसा काम करने वाले को पुरस्कृत भी करते थे, वहीं यह भी देखता है कि ईमानदारी से किया गया काम उन्नति का एकमात्र या सवसे आसान रास्ता नहीं था। तरक्की करने के लिए किसी भी अधिकारी के लिए यह जरूरी था कि वह हाजिर-जवाव हो, अपने को न्यायप्रिय और ईमानदार दिखाए, तथा पड्यंत्र चला सके या कम से कम षड्यंत्रों का सामना कर सके। अन्य शासकों की तरह अकवर भी ऐसे ही लोगों से घिरा

रहता था। वे बराबर दरबार में ही रहना पसंद करते थे और कोई सूबा या जागीर मुख्यत उनके चुकते हुए साधनों के पूर्तिस्रोत का काम ही करते थे। वे अपने अधीनस्थ विभागों या क्षेत्रों की तरक्की से कम सरोकार रखते थे और इस बात के लिए ज्यादा फिक्रमंद रहते थे कि सब कुछ शांत रहे, शिकायतें शहंशाह के कानों तक न पहुंचे, और इस बीच वे खुद उन परिस्थितियों में जितना संभव हो उतना धन इकट्ठा करते रहें या खर्च करते रहें। अकबर की पारखी दृष्टि को स्वीकार करते हुए भी कहना पड़ेगा कि स्थिति में कोई स्थायी परिवर्तन लाने में वह कारगर साबित नही हुई होगी और इस बात के तो काफी प्रमाण मिलते है कि उसके उत्तराधिकारी के शासन काल में स्थिति तेजी से बिगड़ने लगी थी। जहांगीर अधिकारियों को बारबार स्थानांतरित करते रहने की नीति पर चलता था, और शीघ्र स्थानांतरण की निश्चित संभावना का मतलब था शोषण की प्रवृत्ति मे वृद्धि, लेकिन अकबर के शासनकाल के संबंध में भी यह मानना मुझे असंभव प्रतीत होता है कि जो अधिकारी उस परिवेश के लिए सबसे अधिक उपयुक्त थे, जिसका हमने ऊपर वर्णन किया है, वे जनता के लिए लाभदायक विकास की किसी सुस्थिर नीति का पालन करते होंगे। मे मानता हूं, अकबर ने सिर्फ वित्तीय कारणों से इस नीति की आवश्यकता समझी। इस नीति के कार्यान्वयन के लिए उसने जो विनियम जारी किए उनकी सबसे उल्लेखनीय विशेषता उनकी अस्पष्टता है, और करोड़ियों[6] की नियुक्ति के रूप में इस दिशा में निश्चित कार्रवाई करने का जो एकमात्र उदाहरण मिलता है वह भी उसकी बड़ी प्रशासनिक विफलताओं में से एक है। किसान शायद अधिक से अधिक यही आशा कर सकते थे कि उनका सूबेदार उन्हें अपने हाल पर छोड़ दे और उनका जितना शोषण पूर्ववर्ती सूबेदार ने किया था उससे अधिक शोषण न करे, लेकिन समकालीन अभिलेखों के आधार पर यह कहना असंभव है कि उनकी यह आशा अक्सर फलीभूत हुई।

अन्य सरकारी नौकरियां

अन्य सरकारी नौकरियों का शायद इतना विशद विवरण देना जरूरी नही है, क्योंकि कुल मिला कर यद्यपि उनसे प्रजा के एक बहुत बड़े हिस्से को जीविका मिलती थी, किन्तु संपूर्ण देश के आर्थिक कल्याण की दृष्टि से वे अपेक्षाकृत कम महत्व की थी। निचले तबके के अमलों के संबंध में सैनिक और असैनिक कर्मचारियों में अंतर करना संभव है, यद्यपि बिलकुल स्पष्ट अंतर नही किया जा सकता। सैनिक कर्मचारियों में सबसे पहले उन राजकीय अंगरक्षकों के समूह का उल्लेख किया जाना चाहिए जो अहदी कहे जाते थे। यह अकबर के शासन संगठन की अपनी खास विशेषता थी। मुगल साम्राज्य में कोई अच्छी स्थिति का नौजवान जो किसी कारण से मनसब नही प्राप्त कर सकता था, अहदी का स्थान पाने की आशा रख सकता था। इस तरह वह शहंशाह के 'निजी सेवकों' की श्रेणी में आ जाता था, और इस पद पर से बाद में तरक्की करके वह कोई मनसब पाने की उम्मीद रख सकता था। अहदियों को तरह-तरह के कामों पर लगाया जाता था। उनमें से कुछ आजकल के सेनापति के निजी सहायक या राज्य के संदेशवाहक जैसा काम करते थे, और कुछ घरेलू व्यवस्था से संबंधित विभागों में खास विश्वास के पदों पर रखे जाते थे—जैसे हरम या शिविर के पहरेदारों के रूप में या फलगाह अथवा पुस्तकालय आदि की चौकसी करने वालों के रूप में। उनका वेतन साधारण सैनिक से काफी अधिक होता था, और अबुलफजल कहता है कि उनमें से अनेक को प्रतिमास

500 रुपये से भी ज्यादा मिलता था उन्हें साल में साढ़े नौ महीने का वेतन मिलता था, और बाकी दिनों का वेतन घोड़ों और उनकी निजी आवश्यकता की दूसरी चीजों पर होने वाले खर्च के हिसाब में जोड़ लिया जाता था। वेतन के अलावा उन्हें कई तरह की रियायतें भी मिलती थीं। यों आर्थिक दृष्टि से उनका कोई खास महत्व नहीं है। जो लोग आरंभ में बेहतर पद प्राप्त नहीं कर पाते थे उनके लिए यह पद सफलता की संभावना वाले जीवन की शुरूआत जैसा था, लेकिन इस पद को प्राप्त करने के लिए भी किसी शक्तिशाली या प्रभावी व्यक्ति की कृपा प्राप्त करना आवश्यक था। हम ऐसा मान सकते हैं अहदी भी मुख्यतः उसी वर्ग से चुने जाते थे जिस वर्ग से मनसबदार।

मुगल सेना के आम सिपाहियों की विशाल संख्या के आर्थिक महत्व पर विचार करते हुए उन चालीस लाख पैदल सैनिकों का विवरण छोड़ देने में मैं कोई हर्ज नहीं देखता जो बूमी या स्थानीय सेनाओं में शामिल थे। अबुलफजल ने सिर्फ इतना कहा है कि ये सैनिक देश के जमींदार जुटाते थे, और मुझे किसी भी प्रमाण स्रोत में ऐसा कुछ नहीं मिला है जिससे कहा जा सके कि इन लोगों को वेतन दिया जाता था या इनसे नियमित प्रशिक्षण लेने की अपेक्षा रखी जाती थी और इस तरह इन्हें उत्पादन कार्य से अलग रहने की जरूरत थी। समकालीन साहित्य में 'पैदल सिपाही' का बहुत व्यापक अर्थ है। इसमें लड़ने वाले सिपाही और उनका सामान आदि ढोने वाले सहायक भी शामिल थे, और ऐसे सहायक भारी संख्या में रखे जाते थे। मैं मानता हूं कि 'आईन' में इन 'पैदल सिपाहियों' का जो विवरण दिया गया है उसका मतलब है कि स्थानीय अधिकारियों को जरूरत पड़ने पर निर्धारित संख्या में सिपाही जुटाने पड़ सकते थे, अर्थात किसी खास इलाके के किसानों को, जब वहां लड़ाई चल रही हो, अस्थायी तौर पर फौज में भरती होने को मजबूर किया जा सकता था। स्थानीय घुड़सवार सैनिकों की स्थिति शायद अधिक नियमित थी। जिस सूबे में जमींदारों का जितना अधिक महत्व था उस सूबे से आम तौर पर उतने ही अधिक घुड़सवार सैनिक साम्राज्य को सुलभ थे। ऐसा माना जा सकता है कि इस श्रेणी के सैनिकों का सैनिक महत्व काफी अधिक था। इसमें जमींदारों द्वारा अपने खर्च पर रखे गये सैनिक शामिल थे, जिन्हें आवश्यकता पड़ने पर शहंशाह अपनी सेवा में बुला सकता था।[7] इस सेना के सभी सैनिक शायद स्थायी तौर पर नहीं रखे जाते थे, फिर भी इसमें शामिल बहुत से लोग उत्पादन कार्य से अलग रहते होंगे।

इन स्थानीय सेनाओं के अतिरिक्त खुद शहंशाह भी एक छोटी-सी सेना रखता था और उसके अधिकारी उससे काफी बड़ी सेना रखते थे, जिसका कुछ खर्च तो वे खुद उठाते थे और कुछ शाही खजाने से दिया जाता था। राज्य जिन सैनिकों को वेतन देता था उनके लिए स्वीकृत वेतन की राशि की जानकारी हमें है, और हम ऐसा मान सकते हैं कि अधिकारियों को अपेक्षाकृत सस्ती दरों पर सैनिक मिल जाते थे। घुड़सवार सैनिकों के वेतन में घोड़े और साज-सामान पर होने वाला खर्च भी शामिल था। इन मदों पर होने वाले खर्च को काट कर देखें तो एक घोड़ा रखने वाले सैनिक का मासिक वेतन कागज पर 7-8 रुपये था, हालांकि आयात किया गया घोड़ा रखने वाले सैनिक की तनख्वाह 13 रुपये तक भी हो सकती थी। किंतु तरह-तरह की कटौतियों और अकसर किए जाने वाले जुर्मानों के फलस्वरूप यह राशि बहुत कम हो जाती होगी। तोपखाना पूरी तरह से शहंशाह के नियंत्रण में था और उसकी व्यवस्था सेना के किसी विभाग के रूप में नहीं, बल्कि शाही परिवार से संबंधित एक विभाग के रूप में की जाती थी। इसमें शामिल

सैनिक का वेतन लगभग 3 रुपये से लेकर 7 रुपये तक होता था। पैदल सेना को विविध प्रकार के सैनिक कार्य करने वाले लोगों का समूह कहा जा सकता था। इसके निचले तबकों में तोड़दार (मासिक वेतन 3 से 6 रुपये तक), पल्लेदार (2 से 3 रुपये तक), तलवार-बाज और पहलवान (2 से 15 रुपये तक), और गुलाम (प्रति दिन एक दाम से एक रुपये तक) भी शामिल थे। इसके वेतनदारों के महत्व पर हम अन्य कार्यों में लगे लोगों के पारिश्रमिक के स्तर का विवेचन करते समय विचार करेंगे। अभी इतना कह देना पर्याप्त है कि घुड़सवार सैनिकों के लिए अपेक्षाकृत अधिक वेतन की व्यवस्था का कारण अंशतः यह था कि उनकी सामाजिक स्थिति कुछ बेहतर मानी जाती थी। घुड़सवार सेना में काम करना सम्मानजनक माना जाता था और इसमें कोई भद्र व्यक्ति भी शामिल हो सकता था, लेकिन सेना की अन्य शाखाओं में काम करने वालों को श्रमिकों की श्रेणी में रखा जा सकता है, यद्यपि तोपखाने को हम आंशिक अपवाद मान सकते हैं, क्योंकि जैसे-जैसे समय बीतता गया इसमें अधिकाधिक विदेशी विशेषज्ञों की नियुक्ति होती गई।

पिछले अध्याय में हम देख चुके हैं कि मुगल सेना के सिपाहियों की ठीक संख्या का अंदाजा भी नहीं लगाया जा सकता। घुड़सवार सैनिकों की वास्तविक संख्या ढाई लाख के आसपास रही होगी, लेकिन पैदल सैनिकों की संख्या के बारे में तो सिर्फ अटकल लगाया जा सकता है। सैनिक सेवा शायद बहुत बड़ी संख्या में लोगों को रोजगार प्रदान करती थी। सामान्य गैरघुड़सवार सैनिक शायद किसानों और शहरी आबादी के आम वर्गों से लिए जाते थे, लेकिन घुड़सवार सैनिकों में पठानों और राजपूतों की बहुलता थी। इनके अलावा इस सेना में विदेशी मूल के ऐसे लोग भी थे जो अच्छे अवसर की तलाश में भारत आए थे। यहां ध्यातव्य है कि अकबर के विनियमों में कुछ विभागों में विदेशियों को प्राथमिकता दी गई है।

दक्षिण भारत की सेनाएं उत्तर भारत की सेना से मुख्यतः इस मामले में भिन्न थीं कि उनमें घुड़सवारों का अनुपात कम था। इस भिन्नता का प्रधान कारण घोड़ों की कमी थी। दक्षिण के राज्यों में इन्हें बड़े पैमाने पर नहीं पाला जाता था, और फारस तथा अरब से उनका आयात बहुत खर्चीला और जोखिम से भरा हुआ था। उधर पूरी सोलहवीं सदी के दौरान व्यापार पर पुर्तगालियों का नियंत्रण था तथा वे समुद्र में अपने प्रभाव का उपयोग अपने पड़ोसियों की राजनीति में हस्तक्षेप करने के लिए करते थे। इस तरह उनकी जरूरत की चीजों को मुहैया करने के वादे पर उनसे तरह-तरह की महत्वपूर्ण रियायतें हासिल किया करते थे। वास्तव में दक्षिण भारत में घोड़े विलासिता की वस्तु थे। गोआ में एक घोड़े की कीमत 500 परदाओं (1000 अकबरी रुपये) थी और ध्यान देने योग्य बात यह है कि पाइरार्ड, जिसने यह कीमत बताई है, उसी बाजार में एक गुलाम लड़की की कीमत 20 से 30 परदाओं बताता है। अगर पैदल सैनिकों की प्रमुखता की बात छोड़ दें तो अन्य मामलों में यहां के सैनिकों की स्थिति भी वैसी ही जान पड़ती है जैसी कि मुगल सेना में थी। 1600 ई० के आसपास यहां सिपाहियों का वेतन मान क्या था, इसके बारे में मुझे कहीं कोई लिखित प्रमाण नहीं मिला है. लेकिन आधी सदी बाद थेवनो ने लिखा कि गोलकुंडा में सिपाहियों को 2-3 रुपये माहवार मिलते थे। मतलब यह कि उनकी स्थिति अकबर के सामान्य सिपाहियों से खराब थी। ऐसा नहीं समझना चाहिए कि दक्षिण भारत में सैनिक कार्यों के लिए स्थायी तौर पर रखे जाने वाले लोगों की संख्या उतनी बड़ी थी जितनी कि युद्ध के समय एकत्र की गई सेनाओं के सिपाहियों

की थी, जिन्हें मैं लगभग दस लाख मानता हूं। फिर भी सोलहवीं सदी के अंत में स्थायी तौर पर रखे जाने वाले सैनिकों की संख्या काफी बड़ी रही होगी। उन दिनों दकन के राज्यों को मुगलों के राज्य विस्तार के निरंतर दक्षिण की ओर बढ़ते हुए खतरे का सामना करना पड़ रहा था, और उधर विजयनगर साम्राज्य के सरदार अपनी-अपनी स्थिति को सुदृढ़ करने में लगे हुए थे, जिससे वे कभी-कभी आपस में जूझ भी पड़ते थे। इसलिए अगर हम मुगलों के नियमित सैनिकों, स्थानीय सेनाओं के घुड़सवारों (पैदलों को नहीं), दकन के राज्यों के स्थायी सैनिकों तथा विजयनगर के सरदारों के सैनिकों को मिलाकर देखें तो यह निष्कर्ष निकालना अनुचित नहीं लगता कि पूरे भारत में सैनिकों की संख्या दस लाख से काफी अधिक, अर्थात 1914 ई० के आसपास यहां विभिन्न सेवाओं में जितने सैनिक थे उनकी दुगनी रही होगी। इस बीच जनसंख्या में वृद्धि हुई उसको ध्यान में रखा जाए तो हम देखते हैं कि देश को जितनी उत्पादक शक्ति से उन दिनों स्थायी तौर पर वंचित रह जाना पड़ता था वह अनुपाततः बाद के काल से बहुत बड़ी थी। उन दिनों परवर्ती काल की अपेक्षा न्यून संख्यक श्रमिकों को अधिक संख्यक सैनिकों की जरूरतें पूरी करनी पड़ती थीं, और यह अंतर इतना बड़ा जान पड़ता है कि निश्चय ही भारत की वार्षिक आय के विभाजन को बहुत अधिक प्रभावित करता होगा।

नागरिक प्रशासन के क्षेत्र में इस काल में आज की स्थिति से जो पहला अंतर देखने को मिलता है वह है विशेष प्रयोजनों के लिए गठित विशेष विभागों का अभाव। आधुनिक शिक्षा सेवा[8] या चिकित्सा सेवा, अथवा आबकारी विभाग, या (नगरों के बाहर) पुलिस संगठन, जैसी कोई चीज देखने को नहीं मिलती। कहने की जरूरत नहीं कि जंगलों की व्यवस्था के लिए भी कोई संगठन नहीं था और न किसानों और कारीगरों को तकनीकी सहायता देने की कोई व्यवस्था थी। इन अभावों के बावजूद नागरिक प्रशासन में भारी संख्या में लोगों को रोजगार मिलता होगा। उत्तर भारत में शाही परिवार की व्यवस्था से संबंधित विभिन्न विभागों में मुख्यतः सेना के लोग रखे जाते थे। ऊपर के पदों पर आमतौर पर अमीर, मनसबदार या अहदी रखे जाते थे और निचले तबकों के कर्मचारी पैदल सेना से लिए जाते थे, लेकिन विभिन्न प्रशासनिक मुख्यालयों में लिखा-पढ़ी का काम करने वाले भारी संख्या में मुहर्रिर किस्म के कर्मचारी होते थे, और कराधान तथा राजस्व की उगाही के लिए कार्यालयों से बाहर दूर पास के क्षेत्रों में काम करने वाले बहुत से कर्मचारियों की भी जरूरत पड़ती थी। मुख्यालयों के कर्मचारियों के बारे में अबुलफजल लगभग कुछ नहीं कहता, और चूंकि 'आईन' उसके लेखक के अनुसार अकबर के सभी प्रशासनिक आदेशों का पूर्ण संकलन है, इसलिए हम ऐसा निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि उसने इन कार्यालयों के संगठन में कोई परिवर्तन नहीं किया, बल्कि उसी विरासत में मिली प्रणाली को बनाए रखा। लेकिन अबुलफजल ने दफ्तरी कार्यविधि का जो वर्णन किया है उसके आधार पर हम यह मान सकते हैं कि मुहर्रिरों का एक खासा बड़ा समूह इन कार्यालयों में काम करता होगा, क्योंकि यह कार्यविधि काफी जटिल थी और उसमें काफी नकलनवीसी और बहुतेरे बही-खातों के उपयोग की जरूरत थी, जैसा कि भारत के सरकारी कार्यालयों में आज भी है। काम कैसे किए जाते थे, इसके उदाहरण के रूप में हम उन विभिन्न कार्यवाहियों का जायजा ले सकते हैं जिनके पूरा हो जाने पर ही कोई मनसबदार अपना भत्ता ले सकता था। जब शहंशाह उसकी नियुक्ति कर देता था तब सब से पहले तो उसे उस दैनंदिनी में दर्ज किया जाता था जिसमें उसके सभी आदेश

लिखे जाते थे। उस दैनंदिनी की जांच करके सब कुछ ठीक पाने पर उसे सही करार दिया जाता था और तब उसमें से उस आदेश की 'याददाश्त' या उसका उद्धरण तैयार किया जाता था। 'याददाश्त' पर तीन अधिकारी हस्ताक्षर करते थे और तब यह नकल का काम करने वाले कार्यालय को दे दी जाती थी। वहां उसका संक्षिप्त रूप या 'तालीक' तैयार किया जाता था, जिस पर चार अधिकारी हस्ताक्षर करते थे और तब राज्य के वजीर उस पर अपनी मुहर लगाते थे। इसके बाद 'तालीक' सैनिक अधिकारी के पास पहुंचता था। वह भावी मनसबदार द्वारा रखी जाने वाली फौज का विवरण और नामावली तलब करता था। जब ये प्रस्तुत कर दिए जाते थे तब वेतन का विवरण 'सरखत' तैयार किया जाता था। उस 'सरखत' को कार्यालय के सभी अनुभागों में दर्ज कर लेने के बाद उसे वित्त विभाग में भेजा जाता था। वहां एक हिसाब तैयार किया जाता था और उसका विवरण शहंशाह के सामने पेश किया जाता था। और जब इस तरह भत्ते की बाजाप्ता मंजूरी मिल जाती थी तब एक वेतन प्रमाणपत्र या 'तालीक-ए-तन' का मसौदा तैयार किया जाता था। यह मसौदा वित्त विभाग के वजीर, आला सिपहसालार और सैनिक विभाग के लेखपाल के हाथों से गुजरता हुआ अंत में उस अधिकारी के पास पहुंचता था जो अंतिम दस्तावेज या फरमान तैयार करता था। फरमान पर तीन अलग-अलग विभागों के छः अधिकारियों के हस्ताक्षरों की जरूरत होती थी। इन सबके बाद अंत में खजाना उसे वेतन अदा करने का अधिकार देने वाले दस्तावेज की तरह स्वीकार करता था।

यह विस्तृत और जटिल कार्यविधि हमें सहज ही आधुनिक भारत के सरकारी कार्यालयों के तौर-तरीकों का जो सबसे खराब रूप हो सकता है उसका स्मरण दिलाती है। और ऐसी स्थिति सिर्फ भुगतान के काम से संबंधित विभागों की ही नहीं थी, यह बात राजस्व प्रशासन के उस विवरण में भी देखी जा सकती है जो अबुलफजल ने प्रस्तुत किया है। अन्य तफसीलों का उल्लेख करने के अलावा उसने यह भी लिखा है कि हरेक गांव के संबंध में कराधान का विवरण साल में दो बार तैयार किया जाता है और तैयार होते ही इन विवरणों को सरकारी मुख्यालय में भेजना पड़ता है। इतने सारे दस्तावेजों का पंजीयन करने और इनकी नकलें तैयार करने के लिए ही लिपिकों की एक पूरी फौज की जरूरत पड़ती होगी, और इसके अलावा साम्राज्य के राजस्व से संबंधित अन्य शाखाओं में काम करने वाले जो कर्मचारी रहे होंगे, सो अलग।[9]

और ये बड़े-बड़े कार्यालय केवल उत्तर भारत की शासन पद्धति की ही विशेषता नहीं थे। पाइरार्ड ने कालीकट में जमोरिन के सचिवालय का वर्णन बहुत उमंग से किया है। वह कहता है : 'मुझे यह देख कर अक्सर आश्चर्य होता था कि कितने सारे लोग लिखने और पंजीयन करने के अलावा और कोई काम नहीं करते। उनका स्थान बहुत सम्माननीय है।... कुछ लोग राजा के लिए आने वाली वस्तुओं की सूची तैयार करते हैं, कुछ लोग प्रतिदिन आने वाले करों और नजरानों का हिसाब लिखते है, कुछ लोग राजपरिवार की जरूरतों पर खर्च होने वाले पैसे का हिसाब रखते हैं और कुछ अन्य लोग दरबार तथा राज्य के कुछ अन्य भागों की महत्वपूर्ण दैनिक घटनाओं को, और संक्षेप में सभी खबरों को दर्ज करते हैं। हर बात बाजाप्ता पंजिकाओं में दर्ज की जाती है और ऐसी हर बात का अपना अलग महत्व है। वे हर नवागंतुक का विवरण भी दर्ज करते हैं, जिसमें उनका नाम, उसका देश, उसके आने का समय और उद्देश्य ये सब बातें लिखी जाती हैं। मेरे साथ भी उन्होंने ऐसा ही किया। उनकी संख्या, उनके बीच कायम रखी जाने

वाली व्यवस्था और उनके लिखने की गति देख कर आश्चर्य होता है। ···राजा ने सभी शहरों, समुद्री तथा अन्य बंदरगाहों और राज्य के मार्गों पर ऐसे ही लिपिक रख छोड़े हैं। वे राजमहल के लिपिकों से पत्रव्यवहार करते हैं और सब कुछ ठीक व्यवस्थित हो जाता है। राजमहल से बाहर के लिपिक राजमहल के लिपिकों के आदेशों का पालन करते हैं और उनके बीच भी उनके वरिष्ठ अधिकारी होते हैं। पूरे मलाबार तट पर उनका लिखने का एक ही तरीका है और उनका एक ही संगठन है। एक अन्य अनुच्छेद में कालीकट के चुंगीघर का वर्णन करते हुए पाइराड ने लिखा है कि लिपिकों और अधिकारियों की विशाल संख्या के कारण जालसाजी या भूल करना कठिन था और लिपिक छोटे से छोटे समुद्री बंदरगाहों पर भी रखे जाते थे, जो अपना सारा समय वहां लाई गई वस्तुओं की सूचियां तैयार करने में लगाते थे। अन्य यात्रियों के विवरणों में भी विस्तृत औपचारिकताओं की झांकी देखने को मिलती है, जिससे प्रकट होता है कि बहुत ही व्यवस्थित ढंग का प्रशासन कायम रखा गया था। अतः हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि आज की तरह अकबर के काल में भी लिपिक सेवा आबादी के एक खासे बड़े हिस्से को रोजगार प्रदान करती थी यद्यपि हमारे पास उनकी वेतन-दरों या उनकी नौकरी की शर्तों के संबंध में कोई जानकारी नहीं है।

लिपिक सेवा के अतिरिक्त, कराधान और राजस्व की उगाही के प्रचलित तरीकों के कारण भी बहुत से लोगों को रोजगार मिलता था। हमें कहीं-कहीं मुगल साम्राज्य के अवर कार्यपालक अधिकारियों के दल के अस्तित्व के प्रमाण भी मिलते हैं। दक्षिण के संबंध में मुझे ऐसी कोई जानकारी नहीं है, लेकिन वहां भी राजस्व की उगाही और हिसाब-किताब के लिए बहुत से अधिकारियों की जरूरत पड़ती होगी, हालांकि उस समय की शासन पद्धति को देखते हुए वे शायद केंद्रीय सत्ता के सेवक न होकर उस सत्ता के अधीनस्थ सरदारों के कर्मचारी रहे होंगे।[10] इसके बारे में जो एक मात्र जानकारी उपलब्ध है उसका संबंध कानूनगो लोगों से है। मेरी समझ में, ये राजस्व प्रशासन विभाग के स्थायी स्थानीय कर्मचारी थे। एक समय उनका वेतन महसूल से होने वाली आमदनी में से अदा किया जाता था, लेकिन अकबर ने उन्हें ऐसी जागीरें दे दीं जिनमें से प्रत्येक से 20 से 50 रुपये तक की मासिक आय हो सकती थी। गरज यह कि अगर रुपये की क्रय शक्ति में हुए परिवर्तनों को ध्यान में रखा जाए तो वे आज के कानूनगोओं से बहुत अच्छी स्थिति में थे। लगता है, कानूनगोओं के अलावा अकबर ने उस अवर संगठन में जिसे शेरशाह ने कायम किया था कोई परिवर्तन नहीं किया। हमें बहुत से अधिकारियों के पदनाम देखने को मिलते हैं—जैसे शिकदार, अमीन, कारकुन, मुंसिफ[11] आदि, किंतु उनकी सही स्थिति के बारे में तफसीलें उपलब्ध नहीं हैं। मौसमी फसलों के आंकड़े, जो समय-समय पर जारी किए गए विनियमों के अनुसार कर लगाने की प्रणाली की आवश्यक विशेषता थी, तैयार करने के काम पर लगाए कर्मचारियों के समूह के विषय में हमारे पास अधिक जानकारी है। इन आंकड़ों का संग्रह पटवारी नहीं करते थे, क्योंकि वे उन दिनों राज्य के नहीं, बल्कि गांव के सेवक थे। मौसम दर मौसम पैमाइश करने वाले और लिखने वाले अधिकारी मौके पर उपस्थिति होते थे; और अगर उनके वेतन के एक अंश की भी अदायगी की जिम्मेदारी किसानों पर थी, मेरा तो अनुमान है कि स्थिति ऐसी ही थी, तो यह बोझ किसानों के लिए बहुत भारी रहा होगा। पैमाइश करने वाले कर्मचारियों का जो समूह किसी स्थान विशेष से जाता था उसके लिए अकबर ने आहार सूची और नकद

अदा की जाने वाली राशि निर्धारित कर रखी थी, लेकिन चूंकि मौसम के राजस्व की राशि इस प्रकार तैयार किए गए दस्तावेजों पर निर्भर थी, इसलिए यह मानना गलत न होगा कि व्यवहारतः किसानों को जितना धन इन कर्मचारियों को देना पड़ता था उसकी मर्यादा किसी आदेश द्वारा निर्धारित नहीं होती थी, बल्कि इस बात से निर्धारित होती थी कि ये कर्मचारी कितने लालची थे। इस प्रकार देश में परंपरा से जो यह मान्यता चली आ रही है कि जमीन की पैमाइश का मतलब लूट है उसका मूल शायद पैमाइश की उसी पद्धति में छिपा हुआ है जिसे शेरशाह ने शुरू किया और अकबर के अधीन राजा टोडरमल ने विकसित किया।

करोड़ियों का प्रासंगिक उल्लेख हम पहले कर चुके है और यहां अकबर द्वारा इन कर्मचारियों की नियुक्ति के विफल प्रयोग की चर्चा किए बिना स्थानीय प्रशासनिक कर्मचारियों का कोई विवरण पूरा नही हो सकता। इस प्रयोग के पीछे जो विचार था वह निस्संदेह बहुत सही था। साम्राज्य के बहुत बड़े हिस्सों में पर्याप्त खेती नहीं होती थी, और चूंकि जोत में लाए गए हर खेत का मतलब राजस्व की लगभग तत्काल वृद्धि थी, इसलिए ऐसे अधिकारियों की नियुक्ति, जिन्हें आज की शब्दावली में उपनिवेशन अधिकारी कहेंगे, वित्त व्यवस्था की दृष्टि से एक उचित कदम था। इन अधिकारियों का मुख्य कार्य खेती के क्षेत्र का विस्तार करवाना था, लेकिन इसके लिए सिर्फ तीन साल की समय-सीमा रखी गई थी, जिससे प्रकट होता है कि अकबर इस काम की कठिनाई और जटिलता को समझ नहीं पाया था। समकालीन इतिहास लेखक इन नियुक्तियों का समय 1574 ई० बताते है, लेकिन इसके परिणाम के बारे में कुछ नहीं कहते। किंतु 'आईन' के राजस्व व्यवस्था से संबंधित भागों में करोड़ियों का कोई उल्लेख नही है, जिससे जान पड़ता है कि इसके संकलन के पूर्व ही उनका अस्तित्व मिट चुका था। सचमुच जो हुआ उसका विवरण बदायूंनी ने दिया है। इन पदों पर नियुक्त अधिकारियों ने अवसर का उपयोग साम्राज्य के हित साधनों के बजाए अपने स्वार्थ साधन के लिए किया और फलतः यह प्रयोग भयंकर रूप से असफल रहा। 'करोड़ियों के अत्याचार और लूट के कारण देश का एक बहुत बड़ा भाग वीरान हो गया, रैयतों के स्त्री-बच्चे बेच दिए गए और वे अपने-अपने परिवारों से अलग भटकने को छोड़ दिए गए। सर्वत्र अव्यवस्था और अराजकता छा गई। लेकिन राजा टोडरमल ने करोड़ियों की खबर ली और इन पर इतनी मार पड़ी और उन्हें डंडों तथा चिमटों से इतनी शारीरिक यातना दी गई कि इनमें से बहुत से मर गए। राजस्व अधिकारियों की जेलों में लंबे समय तक कैद रहने के कारण इनमें से इतने सारे लोग मर गए कि उन्हें फांसी देने या कत्ल करने की भी कोई जरूरत नहीं पड़ी और न किसी ने उनके लिए कब्र और कफन ही जुटाने की फिक्र की।' यह विवरण बदायूंनी के अधिकांश विवरणों की तरह निश्चय ही अतिरंजित है, लेकिन जो मुख्य तथ्य इसमें पेश किए गए हैं वे अपने आप में संभव प्रतीत होते है, और अबुलफजल ने राजस्व प्रणाली का जो ऐतिहासिक विवरण दिया है उसमें उन अधिकारियों की नियुक्ति का कोई उल्लेख नही किया जाना मेरी समझ में इस तथ्य को सिद्ध करता है कि वह प्रयोग विफल हो गया। अगर उसमें सफलता मिली होती तो निश्चय ही उसने इस अवसर का लाभ उठाकर इस सफलता का श्रेय अपने स्वामी की सूझबूझ को दिया होता, लेकिन मामले का रुख कुछ ऐसा हो गया कि उस विषय को बिलकुल छोड़ ही दिया गया।

अब हम अपनी जीविका के लिए सरकारी नौकरियों पर निर्भर रहने वाले वर्गों

का विवेचन समाप्त कर सकते हैं। कई दृष्टियों से उनके संबंध में हमारा ज्ञान अपूर्ण है, लेकिन हम इतना जान गए हैं कि आर्थिक दृष्टि से उनके महत्व को समझ सकें। उच्चतर वर्ग के मुट्ठीभर अधिकारियों के हाथों में देश की आमदनी का एक बहुत बड़ा हिस्सा था और उनके रुख पर उन बहुसंख्यक वर्गों का जीवन निर्भर था, जिनके श्रम पर देश की आर्थिक नींव टिकी हुई थी। निचले दर्जे के कर्मचारी संख्या में इतने अधिक तो थे ही कि उन्हें आबादी का एक खासा बड़ा हिस्सा माना जा सकता है। आर्थिक दृष्टि से इन्हें परोपजीवी मानना चाहिए, जो श्रमिकों के श्रम का फल खाते थे और जनता को अपूर्ण और किसी भी क्षण छिन जाने वाली सुरक्षा प्रदान करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं करते थे। इस अध्याय के बाकी हिस्सों में हमें उन अन्य वर्गों पर विचार करना है जो आम तौर पर इसी परोपजीवी श्रेणी में आते हैं।

पेशेवर और धार्मिक वर्ग

पहले ही कहा जा चुका है कि कानून, शिक्षा और पत्रकारिता जैसे कुछ अत्यंत महत्वपूर्ण पेशे अकबर काल में नहीं थे। इसमें संदेह नहीं कि हिंदू और मुस्लिम दोनों कानूनों के कुछ विद्वान अध्येता थे, लेकिन अदालतों में कानून का धंधा करने वाले वकील नहीं थे, शिक्षक थे लेकिन शिक्षण के धंधे को अभी तक धार्मिक प्रयोजनों से अलग नहीं किया जा सका था, और अन्य परिस्थितियों के अनुकूल होने पर भी छपाई कला की अनभिज्ञता को पत्रकारिता के धंधे के अभाव का पर्याप्त कारण माना जा सकता है।[12] 'आईन-ए-अकबरी' के अनुसार देखें तो चिकित्सा, पांडित्य, साहित्य, कला (जिसमें कलात्मक लिखावट भी शामिल थी) और संगीत को हम उस समय के प्रतिष्ठित धंधे मान सकते हैं, लेकिन यह ध्यान में रखना चाहिए कि विभाजन की रेखाएं बहुत स्पष्ट नहीं थीं और कोई बहुमुखी प्रतिभा का व्यक्ति कवि और चिकित्सक दोनों रूपों में एक-सा प्रसिद्ध हो सकता था। इन धंधों पर अर्थशास्त्रीय दृष्टि से विचार करने पर जिस तथ्य की ओर सबसे अधिक ध्यान जाता है कि उनके उत्पादनों की खपत और उनकी सेवाओं के उपयोग का क्षेत्र अत्यंत छोटा होता था। शिक्षित मध्यम वर्ग बहुत छोटा था, और कोई चिकित्सक अथवा कलाकार या साहित्यिक व्यक्ति पर्याप्त आय की आशा तभी कर सकता था जब या तो शाही दरबार में अथवा या किसी ऐसे सूबेदार के यहां अपने लिए स्थान बना ले जो अपने परिवेश को शाही दरबार के ढंग से ही सजाता था। भौतिक सफलता का मार्ग राजपुरुषों का संरक्षण प्राप्त करना था।[13] और इस संरक्षण का प्रतिदान आम तौर पर चापलूसी और झूठी प्रशस्ति के रूप में देना पड़ता था।

इन पेशों के लिए अकबर का शासनकाल बड़ा अनुकूल था। शहंशाह की रुचि हर दिशा में थी और वह गुणी जनों का बहुत बड़ा संरक्षक था। दरबार अनिवार्यतः उसके उदाहरण का अनुकरण करता था और उसमें सब कुछ उसी की रुचि के अनुसार होता था। साथ ही यह भी याद रखना चाहिए कि वातावरण मुख्यतः विदेशी था, और यद्यपि भारतीय प्रतिभा का अनादर नहीं था, किंतु संरक्षण प्राप्त करने वालों में बहुत बड़ी संख्या फारस और एशिया के अन्य भागों से आए लोगों की थी।[14] इस संरक्षण के तीन व्यावहारिक रूप थे : मनसब दिया जाना, जमीन के रूप में और नकद वजीफा दिया जाना, और विशेष उपलब्धियों के लिए पुरस्कार दिया जाना। 'आईन-ए-अकबरी' में प्रसिद्ध लोगों की जो सूची दी गई है उससे मालूम होता है कि मनसब आदि पुरस्कार चिकित्सकों,

कलाकारों, कवियों, विद्वानों तथा सिपाहियों और प्रशासकों को भी दिए जा सकते थे। इसके अलावा हमें समय-समय पर किसी श्रेष्ठ कविता या कलाकृति के लिए पारंपरिक ढंग से पुरस्कार दिए जाने का विवरण भी पढ़ने को मिलता है। वजीफे कभी-कभी नकद दिए जाते थे, लेकिन आमतौर पर किसी क्षेत्र विशेष के राजस्व के अनुदान के रूप में दिए जाते थे। इन अनुदानों को तुर्की नाम 'स्वयूरघाल' या फारसी नाम 'मदद-ए-मआश' के नाम से जाना जाता था। इनके अलावा इनके लिए कई और संज्ञाएं भी प्रचलित थीं। ये अनुदान जागीरों से इस मायने में भिन्न थे कि ये अनिश्चित काल के लिए दिए जाते थे और सिद्धांततः वंशानुगत थे, लेकिन आधुनिक प्रशासन में स्थाई शब्द का जिस अर्थ में प्रयोग किया जाता है उस अर्थ में इन्हें स्थायी मानना गलत होगा। लगभग पूरे मुस्लिम शासन के दौरान इन अनुदानों से संबंधित नीति एक न्यूनाधिक निश्चित चक्र के अनुसार चलती जान पड़ती थी। एक दौर ऐसा आता था जब खूब उदारतापूर्वक अनुदान दिए जाते थे और इनके साथ ही अनुदानों के आवंटन की तफसीलों के संबंध में हर संभव प्रकार की जालसाजी चलती थी। उसके बाद जोरदार वित्तीय सुधारों का एक अपेक्षाकृत छोटा अंतराल आता था, जिसके दौरान बहुत-से अनुदान या तो रद्द कर दिए जाते थे या घटा दिए जाते थे। अनुदान देने का अधिकार साम्राज्य के एक प्रमुख अधिकारी के हाथों में था, जिसे सदर कहते थे, और अबुलफजल ने इस पद का जो इतिहास दिया है वह सतत भ्रष्टाचार की गाथा है।

गरज यह कि अकबर के साम्राज्य में पेशेवर लोगों की वृत्ति की मुख्य विशेषता असुरक्षा थी। सफलता राजकृपा पर निर्भर थी, जिससे किसी को उतनी ही शीघ्रता से वंचित किया जा सकता था जितनी तत्परता से वह प्रदान की जाती थी, और बहुत सुनिश्चित किस्म की आय का उपभोग भी कोई पेशेवर व्यक्ति तभी कर सकता था जब तक राज्य की इच्छा रहती है। प्रशासन चलाने वाले व्यक्तियों में परिवर्तन होने पर वृत्तिभोगी को वृत्ति से आनन-फानन वंचित कर दिया जा सकता था। सृजन के स्तर पर इस प्रणाली का क्या प्रभाव पड़ता था, इससे अर्थशास्त्री का कोई सीधा संबंध नहीं हो सकता, और वर्तमान प्रयोजना के लिए इतना ही काफी है कि हम स्पष्ट शब्दों में बता दें कि ऐसी वृत्ति कितनी अधिक असुरक्षित थी। मैं ऐसा संभव मानता हूं कि दक्षिण भारत में भी स्थिति ऐसी ही रही हो, लेकिन मुझे इस क्षेत्र से संबंधित प्रत्यक्ष प्रमाण बहुत कम मिले हैं।[15] फिर भी हम आधी सदी बाद टैवर्नियर की कही इस बात का हवाला दे सकते हैं कि कर्नाटक गोलकुंडा और बीजापुर की संपूर्ण यात्रा के दौरान उसे राजाओं और राजकुमारों की सेवा करने वाले चिकित्सकों के अलावा और कोई चिकित्सक कदाचित ही देखने को मिला हो। आम लोग अपना इलाज स्वयं ही तरह-तरह की जड़ी बूटियों से करते थे और किसी बड़े शहर में एक या शायद दो, व्यक्ति ही ऐसे मिल सकते थे जो चिकित्सा का धंधा करते रहे हों। निश्चयपूर्वक तो नहीं लेकिन अनुमान के तौर पर हम ऐसा कह सकते हैं कि अकबर काल में दक्षिण की अपेक्षा उत्तर में पेशेवर लोगों और कलाकारों के लिए शायद बेहतर संभावनाएं थीं। उस काल के दकन के राजाओं की गुणग्राहकों के रूप में कोई ख्याति नहीं थी, और विजयनगर की केंद्रीय सत्ता के विघटन के फलस्वरूप सरदारों का ध्यान साहित्य कला के बजाय सत्ता की राजनीति की ओर मुड़ गया होगा।

जब हम धर्म साधक वर्गों की स्थिति के विवेचन की ओर उन्मुख होते हैं तो पाते हैं कि ये वर्ग दरबारी प्रभाव से उतने ग्रस्त नहीं थे जितने की बौद्धिक और कलात्मक पेशों

में लगे लोग थे। समकालीन विवरणों के अनुसार, इन वर्गों के मुख्य उपविभागों के अंतर्गत आने वाले लोगों अर्थात संन्यासियों और फकीरों का अनुपात आज की ही तरह बहुत बड़ा जान पड़ता है और यात्रियों ने देश के विभिन्न भागों में उनकी बहुलता का उल्लेख किया है। अर्थशास्त्री के लिए इन लोगों का इतना ही महत्व है कि इतने सारे लोगों की उत्पादक शक्ति से देश वंचित था। प्रमाण स्रोतों में हमें पुरोहितों के बारे में कुछ विशेष देखने को नहीं मिलता। सेवेल ने लिखा है कि सोलहवीं सदी के पूर्वार्ध में विजयनगर के सरदारों ने दक्षिण भारत के सभी क्षेत्रों के मंदिरों को बहुत से अनुदान दिए, और हमारा ऐसा मान लेना अनुचित न होगा कि उत्तर भारत और मध्यभारत में धर्म पीठों को प्राचीन काल में जो अनुदान दिए गए थे उनका उपभोग वे अब भी करते आ रहे थे, कम से कम ऐसे क्षेत्रों में तो अवश्य ही जहां स्थानीय प्रशासन जमींदारों के हाथों में था। जान पड़ता है, अकबर ने भी ऐसे अनुदान देने का चलन जारी रखा। 'आईन-ए-अकबरी' में उसकी उदारता के बारे में सामान्य रूप से तो बहुत कुछ कहा गया है, किंतु ऐसा कुछ स्पष्ट नहीं कहा गया है कि हिंदू धर्म संस्थाओं और धार्मिक साधनों को भी अनुदान दिए। किंतु शेख अब्दुन्नबी के सदर नियुक्त किए जाने पर उसने अनुदानों में जो संशोधन किए उनका वर्णन करते हुए बदायूंनी कहता है कि मुल्ला मौलवियों को तो अपने पहले के अनुदानों के छोटे-छोटे हिस्सों पर ही संतोष करना पड़ा, लेकिन 'सामान्य दर्जे के अज्ञानी और अयोग्य लोगों को, यहां तक कि हिंदुओं को भी, मुंहमांगी जमीन जागीर मिल जाती थी।' यही लेखक बताता है कि सम्राट तुलादान किया करता था और ये सारी वस्तुएं ब्राह्मणो को दान में मिलती थीं। इसलिए हम निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि सम्राट की उदारता का कुछ लाभ हिंदू पंडितों पुरोहितों और संतो सन्यासियों को भी मिलता था।

मुस्लिम संस्थाओं को अकबर के पूर्ववर्ती बादशाहों से बहुत-से अनुदान और जागीरें मिली थीं, और उसके शासन के आरंभिक काल में वे राजस्व के एक खासे हिस्से का उपभोग करती रही होंगी। लेकिन बाद में अकबर का रुख प्रतिकूल हो गया और यदि बदायूंनी की बातों को सच मानें तो हम पहले इन अनुदानों और जागीरों में संशोधन की जिन कार्रवाइयों का उल्लेख कर चुके है वे मुसलमानों के लिए बहुत प्रतिकूल साबित हुई होंगी और उनसे उनकी संस्थाओं की आय में बहुत कमी आई होगी। 'आईन-ए-अकबरी' में अकबर के शासन के अंतिम समय में जो अनुदान लागू थे उनकी सूची दी गई है। इन आंकड़ो से परिमाण विषयक कोई निष्कर्ष नही निकाला जा सकता, जिसका कारण अंशत: तो यह है कि इन्हें परखने की कसौटी अब भी अनिश्चित है और अंशत: यह कि 'आईन' की सूची में विभिन्न अनुदानों में दी गई वस्तुओं का अलग-अलग उल्लेख नही किया गया है, बल्कि बहुत सी अलग अलग वस्तुओं के कुछ योग दे दिए गए है। अत: हम इतना ही कह सकने की स्थिति में हैं कि वित्त व्यवस्था के सुधारकों की तमाम सक्रियता के बावजूद राज्य की आमदनी का एक खासा हिस्सा धार्मिक संस्थाओं, पेशेवर और विद्वान लोगों तथा अन्य लोगों के पास जाता रहा जिनकी पात्रता का एक मात्र आधार उनकी गरीबी थी। इनकी आर्थिक स्थिति की हमें समकालीन स्रोतों से कोई जानकारी नहीं मिलती। इसमें संदेह नहीं कि भारत के बहुत से मंदिरों ने विपुल साधन संपत्ति एकत्रित कर ली थी, क्योंकि हम देखते हैं कि उनको लूटना धन प्राप्त करने का एक सर्वस्वीकृत उपाय था, लेकिन मेरी समझ से, यह भी उतना ही असंदिग्ध है कि विभिन्न विचारधाराओं का अनुसरण करने वालों में ऐसे भले लोग भी थे जो अपनी-अपनी समझ के अनुसार जितना

और जो कुछ बन पड़ता था, करते थे और चाहे स्वेच्छा से हो या लाचारी से, गरीबी की जिंदगी बिताते थे। कम से कम इस दृष्टि से ऐसा मानने का कोई कारण नहीं है पिछली तीन सदियों के दौरान भारत में कोई भारी परिवर्तन आया है।

नौकर चाकर और गुलाम

यदि मैं गलती नहीं कर रहा हूं तो कहना चाहूंगा कि व्यक्तिगत सेवा पर खर्च होने वाले श्रम का विपुल परिमाण अकबर काल की एक खास आर्थिक विशेषता है। इस हैसियत से काम पर लगाए गए लोगों में से कुछ स्वतंत्र थे और कुछ गुलाम, लेकिन इन दोनों वर्गों से जो काम लिए जाते थे वे बहुत हद तक ऐसे थे कि दो में से किसी भी वर्ग से या दोनों से करवाए जा सकते थे, और वर्तमान प्रयोजन के लिए उनका विवेचन एक ही वर्ग के अंतर्गत करने में कोई हर्ज नहीं है। उत्पादक शक्ति का किस हद तक विलासिता और तड़क-भड़क में विनियोग किया जाता था, इसको समझने के लिए इस काल में भारत में जीवन की अवस्था का ठीक परिचय प्राप्त करना आवश्यक है और इस विषय की चर्चा करने के लिए ऐसे प्रायः सभी लेखकों के उद्धरण दिए जा सकते हैं जिन्होंने देश या देश के लोगों के बारे में कुछ भी कहा है। किंतु यहां सभी समकालीन साक्ष्यों को प्रस्तुत करना बहुत कठिन कार्य है और उससे पुनरावृत्ति भी बहुत अधिक होगी। इसलिए मैं ऐसे चुने हुए उदाहरण ही देने की कोशिश करूंगा जिससे पाठक उपलब्ध साक्ष्यों के स्वरूप को समझ सकें। जहां तक उत्तर भारत का संबंध है, अबुलफजल ने अकबर के दरबार का जो विवरण दिया है, उसकी कुछ तफसीलों का उल्लेख कर देना पर्याप्त होगा, लेकिन ऐसा करते हुए इस बात को ध्यान में रखना आवश्यक होगा कि ऐसे मामलों में जैसा कि समकालीन वृतांतों से बिलकुल स्पष्ट है, शहंशाह का आचरण ही आदर्श माना जाता था और जो कोई भी दरबार में कोई स्थान प्राप्त कर लेता था या प्राप्त करने की आकांक्षा रखता था वह अपनी सामर्थ्य के अनुसार उसी का अनुकरण करने की कोशिश करता था। 'आईन-ए-अकबरी' में वर्णित शाही गृहस्थी का पहला हिस्सा था जनाना, जिसमें पांच हजार से अधिक स्त्रियां थीं। इनमें से प्रत्येक के लिए एक अलग कमरा होता था। इनकी सेवा में काफी संख्या में नौकर-चाकर लगे होते थे। स्त्री पहरेदार, हिजड़े, राजपूत और दरबान बारी-बारी से इनकी चौकसी करते थे। इनके अलावा इनके रहने की इमारत के चारों ओर सैनिक तैनात रहते थे। इसके बाद हम आते हैं शाही शिविर पर। इसमें घुड़सवारों के रक्षकों के अतिरिक्त दो से तीन हजार नौकर काम करते थे। एक खास शाही तंबू खड़ा करने में 1000 लोगों को एक सप्ताह तक काम करना पड़ता था। घरेलू जरूरतों की चीजें दूर-दूर से जुटानी पड़ती थीं, चाहे उस पर जितना भी श्रम खर्च हो। शहंशाह चाहे जहां रह रहा होता, उसके लिए पानी गंगा का ही चाहिए था। उसकी जरूरत की बर्फ प्रतिदिन डाकगाड़ियों या हरकारों द्वारा लाहौर के बर्फ से ढके पहाड़ों से लाई जाती थी। फल नियमित रूप से कश्मीर और काबुल से, बल्कि कभी-कभी तो और भी दूर बदख्शां और समरकंद से मंगवाए जाते थे। घुड़साल आदमियों और जानवरों से भरे होते थे। उदाहरण के लिए, हर साधारण हाथी के चार तीमारदार होते थे, लेकिन शहंशाह के इस्तेमाल के लिए चुने गए हाथियों की सेवा में सात-सात आदमी भी लगाए जा सकते थे।[16] क्रीड़ा और मनोरंजन के सिलसिले में काम पर लगाए गए लोगों की संख्या ठीक-ठीक नहीं बताई जा सकती, लेकिन कुल मिलाकर इनकी तादाद बहुत अधिक थी। एक

हजार तलवारबाज और बहुत से मल्ल दरबार में सदा हाजिर रहते थे। शिकार के लिए खास तौर से बहुत से लोग नियुक्त किए जाते थे। इसी तरह बहुत से लोग बाजबाजी और बहुत से कबूतरबाजी के शौक में तीमारदारी करते थे। तरह-तरह के जीव जंतुओं को, जिनमें मेंढक और मकड़े भी शामिल थे, लड़ाई का प्रशिक्षण देने के लिए भी लोग रखे जाते थे। ये उदाहरण तो उन चंद विभागों से लिए गए हैं जिनके संगठन में शहंशाह ने व्यक्तिगत दिलचस्पी ली थी, और यह बात आसानी से समझी जा सकती है कि उसके प्रमुख अधिकारी अपने रहन-सहन में उसी के तौर तरीकों का अनुकरण करते थे। ऐसे ही एक अधिकारी के यहां प्रतिदिन हजार तरह के पकवान परोसे जाते थे। मुगल सेना जब लड़ाई के मैदान में होती थी तब औसतन हरेक लड़ने वाले के दो तीन सेवक होते थे। सेवकों और तीमारदारों की ऐसी बड़ी फौज रखने का चलन सम्राट और उसके बड़े बड़े अधिकारियों तक ही सीमित नहीं था। डेला वेल कहता है कि सूरत में नौकर चाकर और गुलाम इतनी बड़ी संख्या में थे और इतने सस्ते कि 'कोई मामूली औकात का आदमी भी बहुत से नौकर रखता है और अपनी खूब तीमारदारी करवाता है।'

इस काल में दकन के जीवन के बारे में जो जानकारी हमें हासिल है उससे भी ऐसी ही तसवीर सामने आती है। उदाहरण के लिए, पाइरार्ड ने गोआ स्थित बीजापुर के राजदूत के ठाटबाट का वर्णन करते हुए बताया है कि जब वह शहर में निकलता था उस समय उसके साथ नौकरों, टहलुओं, कहारों, साईसों और गवैयों का एक पूरा हजूम होता था और वह आगे कहता है कि दकन के सभी बड़े लोग ऐसा ही ठाट-बाट और तड़क-भड़क बनाए रखते थे। परवर्ती काल के संबंध में लिखते हुए थेवनो ने भी गोलकुंडा के जीवन का ऐसा ही वर्णन किया है। उसके अनुसार, सरदारों के बहुत से अनुचर होते थे, और किसी को, चाहे वह मुसलमान हो या हिंदू, कोई अच्छा रुतबा हासिल हो जाता था तो वह इन सरदारों का ही अनुकरण करता था। हरेक की सेवा में कम से कम एक छत्रधर, एक पानपात्र वाहक तथा चंवरधारी तो रहते ही थे। विजयनगर की जीवन पद्धति भी वैसी ही थी जैसी की उसके विध्वंस के पूर्व उसको देखने वाले यात्रियों ने उसे चित्रित किया है, और मिशनरियों के विवरणों से भी सोलहवीं सदी के अंतिम वर्षों में दक्षिण के सरदारों के दरबारों की ऐसी ही शान शौकत भरी झांकी मिलती है। फिर, मलाबार तट पर भी हम देखते हैं कि यूरोपीय प्रेक्षकों के लिए सरदारों के अनुचरों की संख्या सब से उल्लेखनीय बात थी। उदाहरण के लिए, पाइरार्ड कहता है कि कालीकट का जमोरिन अपने साथ लगभग 3000 लोगों को लेकर यात्रा पर निकलता था। और तटीय क्षेत्रों में आमतौर पर सभी प्रमुख प्रतिष्ठित व्यक्तियों के बहुत से अनुचर होते थे। गोआ में भी ऐसा ही चलन था, जहां पुर्तगाली अपने पड़ोसियों के जीवन के तौर तरीकों का अनुकरण करते थे और हम देखते हैं कि बड़े लोग जब सड़कों पर निकलते थे तब उनके साथ बहुत से टहलुए, चाटुकार लोग और गुलाम हुआ करते थे, और जब इन सब का स्वामी पैदल चलता था तब भी पीछे एक घोड़ा और एक पालकी अवश्य होती थी। इसलिए हम यह देख सकते हैं कि आज भारत में नौकर-चाकरों की जिस अधिकता की ओर हमारा ध्यान विशेष रूप से जाता है वह कोई नई बात नहीं है, बल्कि अकबर काल में प्रचलित तौर तरीकों का ही अवशेष है और निस्संदेह उसका आरंभ तो उसके भी बहुत पूर्व हो चुका था।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, इन नौकरों में से कुछ स्वतंत्र थे और कुछ गुलाम। स्वतंत्र लोगों को जितना गुजारे के लिए जरूरी था उससे शायद कुछ ही अधिक

मजदूरी दी जाती थी और इसलिए जब हम उनकी मजदूरी आधुनिक मुद्रा में आंकते हैं तो वह बहुत ही कम मालूम पड़ती हैं। किसी विशेष योग्यता से रहित नौकर को अकबर के दरबार में लगभग डेढ़ रुपए माहवार मिलता था और पश्चिमी तट के क्षेत्रों में शायद दो रुपये। गुलामों की कीमतों के संबंध में इतने कम आंकड़े उपलब्ध हैं कि उनके आधार पर ऐसा कोई आम निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता। जैसा कि हम देख चुके हैं, पाइरार्ड ने गोआ में गुलाम लड़की की कीमत प्राय: 50 रुपए के बराबर बताई है, यद्यपि गोआ ऐसी वाणिज्य वस्तुओं के लिए बहुत चलता हुआ बाजार था। लेकिन कीमतों में अवश्य ही बहुत अंतर होते होंगे, क्योंकि कीमतें अंशत: तो बेचे जाने वाले व्यक्ति के गुणों पर निर्भर होती होंगी और अंशत: चढ़ते उतरते बाजार भाव पर। लेकिन मनुष्य के संबंध में इस तरह की बातें करना मानो वे वाणिज्य की वस्तुएं हों, आधुनिक पाठकों को नागवार गुजर सकता है, और वास्तव में आधुनिक ब्रिटिश भारत में गुलामी की बात से लोगों का इतना अपरिचय हो गया है कि इस पुरानी प्रथा की स्थिति के बारे में दो शब्द कह देना अनुचित न होगा। इसका लोप काफी हद तक हाल की बात कही जा सकती है। 1843 के अधिनियम 5 के पारित होने से पूर्व तक भारत में ब्रिटिश अदालतों को व्यक्तियों की दासावस्था से संबंधित मामलों को निबटाना पड़ता था और हिंदू तथा मुस्लिम कानूनों के प्रमुख ग्रंथों में इन प्रश्नों का उसी प्रकार विवेचन किया जाता था जिस प्रकार गोद या विभाजन या उत्तराधिकार के प्रश्नों का। ऐसी बात भी नहीं कि इस काल में यह प्रथा बहुत विरल रूप में विद्यमान रही हो। जिस रिपोर्ट पर अधिनयिम 5 आधारित था उसमें इस बात की पुष्टि की गई है कि गुलामी की प्रथा कमोबेश बंगाल, मद्रास और बंबई के इलाकों में सर्वत्र मौजूद थीं और उसमें अलग-अलग मालिकों द्वारा 2000 लोगों तक को गुलाम की तरह रखे जाने के उदाहरण दिए गए हैं। फिर भी इसका ऐसा संपूर्ण लोप हुआ कि भारतीय इतिहास की प्रचलित पाठ्य पुस्तकों में शायद ही उसका उल्लेख हो पाता है।

अकबर के समय में इस प्रथा का जो स्वरूप था उस पर विचार करने के लिए शहरी और देहाती गुलामी के बीच का अंतर स्पष्ट कर देना सुविधाजनक रहेगा। जहां तक मैं समझ सकता हूं, एक दूसरे से बिलकुल भिन्न दो प्रथाएं साथ-साथ भारत में पनपीं। गांवों में श्रमिक की स्थिति कम से कम व्यवहारत: अर्धदासवाली थी, और मैं नहीं समझता कि अकबर के अधिकारियों का ऐसे प्रश्नों से कोई सरोकार रहता होगा जिनका संबंध इन अर्धदासों की स्थिति से हो। शहरों और नगरों में गुलाम कई तरह के घरेलू प्रयोजनों के लिए रखे जाते थे, और उनकी स्थिति को प्रभावित करने वाली बातों का नियमन, कम से कम कुछ हद तक, कानून के सिद्धांतों द्वारा होता था। देहाती अर्धदासत्व का महत्व प्राथमिक अर्थात कृषि उत्पादन की दृष्टि से है, और उसका विवेचन कृषि व्यवस्था के साथ करना सबसे सुविधाजनक रहेगा। अभी मैं सिर्फ उस प्रथा पर विचार करूंगा जिसे शहरी या घरेलू गुलामी कहा जा सकता है और जिसका संबंध लगभग एकांत रूप से विलासिता और तड़क-भड़क के प्रदर्शन से था।

गुलामी निश्चित रूप से हिंदू प्रथा थी, यद्यपि कम से कम अकबर के काल में सभी हिंदू इसका अनुमोदन नहीं करते थे। स्मृतिकारों ने अपनी रीति के अनुसार इस प्रथा की उत्पत्ति और उसमें परिवर्तन लाने वाली परिस्थितियों की सूक्ष्म व्याख्या और निरुपण किया है। मुस्लिम कानून में भी इस संस्था को समर्थन प्रदान किया गया है,

यद्यपि किंचित अधिक सीमित आधार पर । इस तरह हिंदुओं और मुसलमानों दोनों मामलों में अकबर और उसके समकालीन लोगों के पास इस प्रथा को स्वीकृति प्रदान करने का कानूनी आधार था। किंतु मुगल साम्राज्य में इसका आधार, मुसलमान कानून विशेषज्ञों को जितना स्वीकार्य हो सकता था, उससे अधिक व्यापक था, और हम यह मान सकते हैं कि जब स्वयं यह प्रथा ही स्वाभाविक और उचित स्वीकार कर ली गई थी तब इससे संबंधित स्थानीय रीति रिवाजों की वैधता की अधिक छानबीन किए बिना उन्हें स्वीकार कर लिया जाता था। विजयनगर में गुलामी के चलन का साक्ष्य अब्दुर्रजाक, कांटी और बारबोसा देते हैं। यह मानना कि उत्तर में, जो दकन के राजवंशों का भी उद्भव स्थान था, निश्चित तौर पर इसका चलन था, और इसलिए हम निकितिक के इस कथन को सही मान सकते हैं कि बीदर में काले लोगों का व्यापार चलता था। अन्य मामलों की तरह इस मामले में भी पुर्तगालियों ने देश की रीति-नीति का अनुकरण किया। लिनशाटेन ने अपने विवरण में लिखा है कि पुर्तगाली लोग कभी काम नहीं करते थे, बल्कि गुलामों से काम लेते थे, जो हर रोज बाजार में जानवरों की तरह बेचे जाते थे। डेला वेल के अनुसार गोआ में, 'सब से बड़ी' जनसंख्या गुलामों की थी। मुगल साम्राज्य में गुलामी के चलन के सबूत के तौर पर बहुत-से प्रमाण स्रोतों के हवाले दिए जा सकते हैं, लेकिन 'आईन-ए-अकबरी' में उसकी विधिवत स्वीकृति इस तथ्य का पर्याप्त प्रमाण है। डेला वेल के कथनों के आधार पर हम ऐसा मान सकते हैं कि सूरत के प्रमुख हिंदू जो उसकी राय में दुनिया के शायद सबसे दयावान लोग थे, गुलामी की प्रथा को बिलकुल गलत मानते थे, किंतु मैं नहीं समझता कि यह उक्ति सभी हिंदुओं पर लागू की जा सकती है। हम जानते हैं कि जब तक इस प्रथा की कानूनी मान्यता समाप्त नहीं कर दी गई तब तक गुलाम रखे जाते रहे।

गुलाम अनेक स्रोतों से प्राप्त किए जाते थे। अफ्रीका और पश्चिमी एशिया से काफी गुलामों का आयात होता था, यद्यपि पश्चिम की ओर यहां से उनका निर्यात भी किया जाता था। विदेशी गुलाम मंहगे थे और वे मुख्य रूप से विलासिता के साधन थे जहां तक भारतीय गुलामों का संबंध है, दोनों कानूनों के अधीन उनका दर्जा वंशानुगत था। वैसे उनकी संख्या तरह-तरह से बढ़ाई जा सकती थी, जैसे कि बंदी बनाकर या लोगों द्वारा स्वेच्छा या अनिच्छा से गुलामी की स्थिति स्वीकार करवा कर। बंदी लोगों को गुलाम बनाने की स्वीकृति हिंदू और मुसलमान दोनों कानूनों में दी गई थी, और भारत में इस स्वीकृति का बहुत दुरुपयोग भी हुआ, क्योंकि यहां अकारण ही किसी गांव या गांवों के समूह पर धावा बोल कर वहां रहने वालों को गुलाम बनाकर ले जाने की परिपाटी सी चल पड़ी। अपने शासन के आरंभिक काल में ही अकबर को ऐसा आदेश जारी करना पड़ा कि सेना के लोग ऐसे हमलों में शरीक न हों। जबरदस्ती गुलाम बनाए जाने वाले वर्ग में उन लोगों को शामिल किया जा सकता है जिन्हें फौजदारी जुर्मों के लिए गुलामी की सजा दी जाती थी, जिन्हें दिवालिया हो जाने के कारण परिवार सहित गुलामों के रूप में बिक जाना पड़ता था। और जिन्हें राजस्व अदा न करने के फलस्वरूप परिवार सहित दासता की बेड़ी पहना दी जाती थी। समकालीन विवरणों में यत्र-तत्र इस तरह की कार्य-वाहियों के उदाहरण देखने को मिल जाते हैं। दासता को स्वेच्छा से अंगीकार करने का कारण इससे अधिक कष्टदायक था। इस तरह गुलाम बनने वालों की थी जिनके अकाल-पीड़ित माता-पिता पेट की ज्वाला शांत करने के लिए उन्हें बेच देते थे। हम कह सकते हैं

कि अकबर के शासन काल में और बाद की दो सदियों में इस तरह की घटनाएं बहुत आम थीं। हमें एक स्थल पर ऐसा पढ़ने को मिलता है कि फारसी दूत बहुत से बच्चों को अपने साथ ले गया, क्योंकि अकाल के परिणामस्वरूप वे बहुत सस्ते हो गए थे, और बारबोसा का कहना है कि जिन दिनों कारोमंडल तट के लोग भूखों मर रहे थे, मलाबार के जहाज खाद्य सामग्री लेकर वहां जाते थे और गुलामों को भरकर वापिस आते थे, क्योंकि लोग खाने पीने की चीजों के लिए अपने बच्चे बेच देते थे। लेकिन जब ऐसी कठिन स्थिति नहीं रहती थी तब भी बच्चों का अपहरण और उनकी बिक्री तो होती ही थी, और खास कर बंगाल ऐसी प्रवृत्तियों के लिए बहुत बदनाम था। गुलाम प्राप्त करने के और भी स्रोत थे, लेकिन हम शायद इतने तथ्य तो प्रस्तुत कर ही चुके हैं जिससे साफ जाहिर हो जाता है कि बाजार में काफी बड़ी संख्या में गुलाम सुलभ रहते थे, और ऊपर के वर्गों का जो भी व्यक्ति ठाट-बाट का प्रदर्शन करना चाहता था उसे मनचाही संख्या में गुलाम खरीदने में कोई कठिनाई नहीं होती होगी। बहरहाल गुलामों की स्थिति से संबंधित तफसीलों से अर्थशास्त्री का कोई सीधा सरोकार नहीं होता, लेकिन मेरे सामने ऐसा कोई तथ्य नहीं आया है जिससे प्रकट होता हो कि कुल मिलाकर गुलामों के साथ दुर्व्यवहार किया जाता था। बहुत बड़ी सीमा तक गुलामों और स्वतंत्र लोगों दोनों से एक ही तरह के काम लिए जाते थे और ऐसा निष्कर्ष निकालना अनुचित न होगा कि कुल मिलाकर इन दोनों वर्गों के चाकरों के साथ समान व्यवहार किया जाता था और जब इस प्रथा को समाप्त किया गया उस समय भी स्थिति ऐसी ही थी।

इस अध्ययन के प्रयोजन के लिए हमने भारत की आबादी को जिन दो मुख्य वर्गों में विभाजित किया है उनमें से पहले की स्थिति का विवेचन हम कर चुके। इस वर्ग का महत्व मुख्यतः उपभोग की दृष्टि से है। इस विवेचन के क्रम में हमने देखा कि तत्कालीन सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था का प्रभाव कुल मिलाकर यह था कि जनशक्ति के एक बहुत बड़े हिस्से को उपयोगी काम धंधों से विमुख करके अनुत्पादक व्यय में लगा दिया गया था। श्रम की दृष्टि से हमें सरकारी नौकरी और घरेलू चाकरी में लगी अथवा धार्मिक ध्येयों की प्राप्ति में संलग्न जनशक्ति को ध्यान में रखना है। इन पेशों को सचमुच 'आवश्यक' कहा जा सकता है, लेकिन ये तमाम जरूरतें अपेक्षाकृत बहुत कम लोगों के श्रम से पूरी हो सकती थी। सेना में शामिल कुल लोगों की संख्या निश्चय ही आज से बहुत अधिक थी, लेकिन उपयुक्त संगठन और प्रशिक्षण के अभाव में इन लोगों की शक्ति का अपव्यय होता था। घरेलू सेवाओं में से अधिकांश अनावश्यक थीं और अर्थशास्त्री की दृष्टि से संत फकीरों के हजूमों को भी इससे कोई अधिक महत्व नहीं दिया जा सकता। जहां तक ऊपरी तबकों का संबंध है, हम देख चुके हैं कि योग्य और पराक्रमी लोगों के लिए एक मात्र वृत्ति राज्य की सेवा और राज्य की दान दक्षिणा तथा पुरस्कार पारितोषिक की प्रवृत्ति थी और इस वृत्ति की प्रमुख विशेषता संपत्ति का उत्पादन नहीं बल्कि उपभोग था। धनाढ्य उच्च वर्ग यदि अपने धन का बुद्धिमतापूर्ण उपभोग करें तो वह बहुत महत्वपूर्ण आर्थिक सेवा कर सकता है, और लगातार अपनी बचत का विनियोग उत्पादन स्रोत में करता रह सकता है, लेकिन इस बात का कोई प्रमाण नहीं मिलता कि अकबर कालीन भारत में वे ऐसी सेवा करते थे, और जहां बचत की भी जाती थी वहां भी वह सोने, चांदी और जवाहरातों के रूप में संग्रह करके रख दी जाती थी, जिसका कोई लाभ नहीं होता था। कुल मिलाकर देश की आय का एक बहुत बड़ा हिस्सा

व्यर्थ में खर्च कर दिया जाता था, और इस का बोझ अंत में उत्पादक वर्गों, यानी किसानों, कारीगरों और व्यापारियों पर पड़ता था । अगले अध्याय में हम उन्हीं परिस्थितियों का वर्णन करेंगे, जिनमें रह कर इन वर्गों के लोग पूरी आबादी के लिए खाना कपड़ा जुटाते थे और उपभोक्ता वर्गों की फिजूलखर्ची और बर्बादी की आदतों का बोझ उठाने के लिए अतिरिक्त धन भी सुलभ कराते थे।

अध्याय 3 के प्रमाण स्रोत

अनुच्छेद 1: विजयनगर के सरदारों की स्थिति का संकेत बारबोसा 296-97 में दिया गया है और अधिक विस्तृत वर्णन सेवल, खासकर 280, 373, 384 में किया गया है। सोलहवीं सदी के अंतिम चरण की स्थिति है, 733-780 में किए गए प्रासंगिक उल्लेखों में देखा जा सकता है ।,

'आईन' (अनुवाद, i, 233-265) में अकबर के संगठन की पूरी तफसील दी गई है । इस विषय पर ब्लाकमैन की टिप्पणियां महत्वपूर्ण, लेकिन अपने आप में अपर्याप्त हैं और उनके पूरक के रूप में इर्विन का अध्ययन करना चाहिए। अनियमितताओं के संबंध में बदायूंनी का विवरण ब्लाकमैन द्वारा अनूदित 'आईन' (i, 242) में उद्धृत किया गया है। जहां तक जागीरों का संबंध है, 'आईन' के उपर्युक्त अध्यायों के अध्ययन से यह प्रकट होता है कि अनुदान आम तौर पर दिए जाते थे, लेकिन यहां जागीर शब्द का अर्थ ऐसा पद लगाया जाना चाहिए जिसके लिए वेतन परंपरागत रूप से जागीर के रूप में दिया जाता रहा हो, किंतु जिसके लिए वास्तव में वेतन की एक राशि निश्चित रही हो । कदाचित इससे अधिक महत्वपूर्ण, अपने सिंहासनारोहण के समय जहांगीर द्वारा जारी किए गए, उन आदेशों का विवरण (तुजक, अनुवाद, i, 7) है, जिसमें उसने अपने पिता के नौकरों की जागीरों को फिर से शाही मान्यता दी ।

शाही सेवा के गठन के लिए देखिए बर्नियर, 212 और 'आईन' अनुवाद, i, 309-528। सभी अधिकारियों के उत्तराधिकारी होने के शाही दावे का उल्लेख दूसरे अध्याय, 6 में हुआ है । लगता है, इस नियम का मूल भारतीय नहीं, बल्कि मुगल था, क्योंकि सिकंदर लोदी के बारे में बताया गया है कि मृत सरदारों के पदों और जागीरों का तो नहीं, लेकिन उनकी संपत्ति का हक उनके उत्तराधिकारियों को मिलना चाहिए, ऐसा आदेश उसने जारी किया था (इलियट, हिस्ट्री, iv, 327) । जागीरों के संबंध में जहांगीर के रवैये का पता 'तुजुक' में उसके अपने ही दिए विवरण से मिलता है। हार्किस ने (परकास, I, iii, 221) तबादलों का बड़ा सजीव, लेकिन शायद पूर्वगृहीत विवरण दिया है, और अन्य यूरोपीय लेखकों ने भी ऐसा ही लिखा है। करोड़ियों के लिए देखिए बदायूंनी (लोवे का अनुवाद, ii 192) । बदायूंनी के विवरण का अनुवाद, इलियट, हिस्ट्री, v, 813 में भी दिया गया है , और उसी जिल्द में 'तबकाते अकबरी' का संदर्भ है। इस विषय की कुछ चर्चा जर्नल रा. ए. सो. जनवरी 1918 में पृष्ठ 27 पर की गई है।

अनुच्छेद 2: अहदियों की स्थिति का संकेत 'आईन' (अनुवाद i, 249) में दिया गया है, यूरोपीय यात्रियों के विवरणों में यह यत्र-तत्र उनका उल्लेख हुआ है, इनमें यह नाम कई रूपों में—जैसे (परकास I, iii, 216 में) हद्दीस–दी गई है । बूमी का उल्लेख 'आईन' (अनुवाद, I, 232) के भाग 2 के आरंभिक अध्यायों में हुए हैं और उनकी संख्याएं '12 सूबों के विवरण' (वही, ii, 115 और आगे) में बताई गई है । सेना के शेष

भागो के बारे मे 'आईन' के भाग 1 और 2 मे बहुत से स्थलो पर उल्लेख है, सबसे अच्छा विवरण इर्विन मे मिलेगा। विदेशियो के उल्लेख के लिए देखिए आईन, यत्र-तत्र, जैसे अनुवाद, i, 321, 'तुरानियों और पारसियो को 25 रुपए और हिंदुस्तानियो को 20 रुपये मिलते है।'

दक्षिण भारत मे घोडो की आपूर्ति डेकाडास का एक सामान्य विषय हे उसका विवेचन व्हाइटवे अध्याय 7 और 8 मे किया गया है, पुर्तगालियो द्वारा की गई संधियो मे भी घोड़ो के व्यापार का उल्लेख हे, उदाहरण के लिए देखिए सेवेल, 186। पाइरार्ड द्वारा बनाई गई कीमते अनुवाद, ii 66-67 मे देखने को मिलेगी। इसके कुछ वर्ष पूर्व लिनशाटेन ने गोआ में घोडो की कीमत 400 से 500 परदाओ के बीच बताई थी। गोलकुंडा में सिपाहियो के वेतन के लिए देखिए थेवनो, 301। विजयनगर के सरदारो की आपसी लडाइयो के उदाहरणो के लिए देखिए, 759-781।

अकबर के मुख्यालय की कार्य-पद्धति का विस्तृत वर्णन 'आईन' (अनुवाद, i, 258 के और आगे) मे किया गया हे, राजस्व प्रशासन की कार्यपद्धति ii, 43-49 मे दी गई हे। पाइरार्ट से उद्धृत अश, i, 258-297 से अनूदित किए गए है। अवर कार्यपालक-सेवा का उल्लेख 'आईन' मे यत्र-तत्र हुआ है, देखिए विशेष रूप मे अनुवाद ii, 45, 66, करोडियो से संबंधित अशो के सदर्भ पिछले अनुच्छेद के अतर्गत दिए गए है

अनुच्छेद 3 : अकबर के दरबार मे कलाकारो और पेशेवर लोगो की स्थिति का वर्णन 'आईन' (अनुवाद i, 96 और उसके बाद के पृष्ठो पर 537, मे किया गया है, और ब्लाकमैन ने इन खडो के संबध मे मनसबदारो की सूची (वही, i, 308 और उसके बाद के पृष्ठो पर) के बारे में जो टिप्पणियां दी है उनसे इस विषय पर काफी प्रकाश पड़ता हे। सयूरघलों के लिए देखिए i, 268, और उसके बाद के पृष्ठो पर और ब्लाकमैन की टिप्पणियो में किए गए उल्लेख।

दक्षिण में चिकित्सको के बारे में टैवर्नियर के कथन, ii, 213 मे मिलेंगे, धार्मिक सस्थाओ को दिए अनुदानो के लिए देखिए सेवेल, 178, आईन, अनुवाद i, 266 और उसके बाद के पृष्ठो पर, इलियट, हिस्ट्री, v, 522।

अनुच्छेद 4 : आईन के पहले दो भागो में (अनुवाद, i, 44 से आरभ करके) अकबर के घर-परिवार और नौकर-चाकरो के बारे मे विस्तार से लिखा गया है। बहुत से नौकर-चाकर रखने के चलन के बारे मे अन्य उदाहरण परकास I, iv, 432, डेलावेल, 42, 82, पाइरार्ड (अनुवाद, i; 376, ii, 75, 80, 135), थेवनो 307, लेकिन जैसा कि पाठ मे बताया गया है लगभग हर समकालीन लेखक ने इस विषय में कुछ न कुछ जरूर कहा है।

ब्रिटिश भारत में गुलामी के कानूनी पहलू के लिए पाठक मैकनेगटन, को देख सकते हे, और स्लेवरी रिपोर्ट में तथ्यों का अपूर्ण किंतु विस्तृत सग्रह है। दक्षिण मे गुलामी के लिए देखिए मेजर 29, 30, 31, बारबोसा 309, 358, लिनशाटेन सी-29, डेलावेल, 157, पाइराडे, अनुवाद ii, 39, अकबर के अधीन गुलामो के लिए देखिए 'आईन', अनुवाद, i, 253-254–बच्चो की बिक्री आम बात थी। पाठ मे जो उदाहरण दिए गए है व बर्नियर 151, और बारबोसा, 358 से है।

संदर्भ :

1. अबतक परदाओं का मूल्य उतना कम नहीं हुआ था जितना कि इस शताब्दी के अंत में हो गया था। 1510 में एक परदाओ लगभग साढ़े तीन रुपये के बराबर था। 1535 में इसका वास्तविक मूल्य मुझे मालूम नहीं है, लेकिन वह तीन रुपये से कम न रहा होगा।
2. बल्कि संभव तो यह लगता है कि सम्राट् की पराजय से कुछ सरदारों का लाभ ही हुआ। उनकी कुल आमदनी पर उसका कोई असर नहीं हुआ और दूसरी ओर अब शायद वे उस राशि में से भी कुछ भाग अपने पास रख ले सकते थे जो वे पहले राज्य को देते थे।
3. विदेशी यात्रियों ने उच्चाधिकारियों के समूह के लिए 'उमरा' शब्द का प्रयोग किया है जो 'अमीर' का बहुवचन है।
4. किसी अधिकारी का दर्जा उसके सुवार दर्जे पर निर्भर होता था। उदाहरण के लिए, 5000 सैनिकों का अधिपति 3,000 रुपये तभी पा सकता था जब उसका सुवार दर्जा भी पंचहजारी होता। यदि उसका सुवार दर्जा ढाई हजारी या उससे ऊपर होता था तो उसे 29,000 रुपये ही मिलते थे, अगर वह 2500 से कम होता था तो उसे 28,000 रुपये दिये जाते थे। लेकिन वेतनों के ये अंतर अपेक्षाकृत गौण थे और वर्तमान प्रयोजन के लिए हम उन्हें नजरअंदाज कर सकते हैं।
5. सन् 1611 के आसपास दरबार में ईस्ट इंडिया कंपनी के प्रतिनिधि हाकिंस ने, जिसे जहांगीर ने 400 का मनसब भी दे रखा था, इस विषय पर बेहद कड़वेपन से लिखता है। उसका कहना है कि वजीर उसे बराबर ऐसी जगहों में, जहां बागियों का बोलबाला था, जागीर देखकर टाल देता था, और जब शहंशाह के स्पष्ट हुक्म से उसे लाहौर में एक जागीर दी गई तो कोई बहाना बनाकर शीघ्र ही उसे उससे वंचित कर दिया गया। कोई भारतीय सेना नायक इस मामले को शायद अधिक सफलतापूर्वक निपटा ले सकता था। (द हाकिंस वाएजेज, पृष्ठ 411 परकास, 1, iii 221, में भी इस प्रथा का विवरण देखिए।)
6. हाल के कुछ लेखकों की मान्यता है कि चूंकि बहुत से अधिकारी साल में बारह महीने से कम का वेतन पाते थे, इसलिए अनुज्ञापित अंकों को काफी कम करके वेतन का अनुमान लगाना चाहिए। उदाहरण के लिए मि० विंसेंट स्मिथ ने लिखा है कि पूरे साल का 'वेतन' यदि मिलता भी था, तो कभी कभी ही, और कभी कभी तो सिर्फ चार महीने का वेतन दिया जाता था। किसी खास शाहंशाह के शासनकाल का हवाला दिए बिना मि० इर्विन ने भी इसकी ताईद की है। जिन प्रमाण स्रोतों को इन लेखकों ने अपना आधार बनाया है वे शाहजहां के शासन काल और उसके बाद के समय से संबंधित हैं। मुझे समकालीन विवरणों में ऐसा कुछ भी नहीं देखने को मिला है जिनसे प्रकट होता हो कि उपर्युक्त कथन अकबर के अमलों पर भी लागू हो सकता है। वेतन की व्यवस्था का अबुल फ़जल ने विस्तृत विवरण दिया है, लेकिन उसने भी इसके बारे में कहीं कुछ नहीं कहा है। इस तथ्य को मैं इस मामले में लगभग निर्णायक प्रमाण मानता हूँ, और जब तक कोई उस युग का प्रमाण प्राप्त नहीं होता, मैं समझता हूँ, ऐसा मानना निरापद ही रहेगा कि इस प्रकार की कटौती बाद में इसलिए की जाने लगी कि अधिकारीगण अनधिकृत तरीकों से धन वसूल करने लगे थे। लेकिन अगर अकबर के समय में ऐसी कटौती की भी जाती होगी तब भी आधुनिक स्तर से अधिकारियों के वेतन काफी ऊँचे ही माने जाएँगे। (देखिए वी०स्मिथ कृत 'अकबर, द ग्रेट मोगल' पृष्ठ 363, इर्विन कृत 'द आर्मी आफ द इंडियन मोगल्स', पृ० 711, 'मनसब' पर ब्लाकमैन की टिप्पणी 'आईन,' अनुवाद, i, 238 और आगे।)
7. करोड़ियों के बारे में अगले अनुच्छेद में बताया गया है।
8. 'आईन' में 343,000 घुड़सवार सैनिकों का हवाला दिया गया है। इनमें से 86,500 सिर्फ अजमेर के थे, जहां जमीदारों की स्थिति विशेष रूप से सुदृढ़ थी। इनके विपरीत अवध से सिर्फ 7600 घुड़सवारों की अपेक्षा रखी जाती थी।
9. अकबर के एक विनियम (आईन, अनुवाद i 278) के आधार पर, जिसमें उनके स्कूलों के लिए वृहत पाठ्यक्रम की योजना की रूपरेखा दी है, कुछ लेखकों ने प्रचुर शैक्षणिक विकास का

अनुमान लगाया है। किन्तु उस काल के इतिहास के विवेकशील अध्येता इस दृष्टि को स्वीकार नहीं करते। यदि ऐसी कोई बात हुई होती तो 'आईन' में उसकी तफसीलों का विवरण अवश्य दिया गया होता, और इन तफसीलों के अभाव में स्वाभाविक निष्कर्ष यही है कि अपने धार्मिक विचारों के विकासक्रम में अकबर ने ऐसी धारणा बनाई कि पाठशालाएं (जो उन दिनों धार्मिक संस्थाएं थीं) समय नष्ट कर रही हैं ; फलत: उनके बेहतर संगठन के संबंध में अपने विचार लिखे। ऐसा सोचना काफी हद तक निरापद है कि बात इससे आगे नहीं बढ़ी।

10. मि० विंसेंट स्मिथ ('अकबर द ग्रेट मुगल' पृ० 376) का अनुमान है कि ये विवरण केवल प्रांतीय मुख्यालयों को भेजे जाते थे, लेकिन 'आईन' की भाषा इस मामले में बिलकुल स्पष्ट जान पड़ती है और यह संभव प्रतीत नहीं होता कि जिन अधिकारियों ने इस काम से संबंधित इन धाराओं का मसौदा तैयार किया वे उस समय प्रचलित पद्धति के एक मुद्दे पर गलती कर गये होंगे। फिर भी, अगर हम यह मान लें कि जो लिपिक इन विवरणों के पंजीयन आदि का काम करते थे वे राजधानी में केंद्रित नहीं थे, बल्कि अलग-अलग प्रांतों के कार्यालयों में रहते तो उससे काम के परिमाण में कोई फर्क नहीं पड़ता। और फिर मि० स्मिथ भी इस बात को स्वीकार करते हैं कि साम्राज्य के मुख्यालय में अवश्य ही सांख्यिकी का एक विशाल कार्यालय रहा होगा। 'आईन' में लिखी बातों से उनके इस कथन की पुष्टि होती है।
11. पिछले अध्याय में गोलकुंडा राज्य में करों की उगाही करने वाले बहुत-से अधिकारियों से मुलाकत होने के बारे में थेवनो के कथन (पृष्ठ 279) का उल्लेख किया जा चुका है।
12. मुंसिफ आज की तरह न्यायाधीश नहीं, बल्कि कार्यपालक अधिकारी था। मेरे सामने यह बात स्पष्ट नही है कि शेरशाह द्वारा कायम किए गए सभी पदों को (इलियट, हिस्ट्री iv. 413) अकबर ने बरकरार रखा या नहीं। यदि यह पद कायम रखा गया था तो इसका मतलब यह होगा कि एक ही किस्म के काम के संबंधित दो प्रकार के पद थे। संभव है कि एक ही अधिकारी के लिए दो पदनामों का उपयोग हुआ हो, कभी पुराने शासन के अधीन प्रयुक्त पदनाम का और कभी नये शासन में दिए गए नए पदनाम का।
13. जेसुइटों ने हाल में दक्षिण भारत में मुद्रण कला की शुरुआत की थी, लेकिन इसका उपयोग सिर्फ धार्मिक प्रयोजनों के लिए किया जाता था और अभी तक वह उत्तर भारत में नहीं पहुँच पाई थी।
14. रामायण इस बात का पर्याप्त प्रमाण है कि इस काल में उच्चतम कोटि के शुद्ध साहित्य की रचना हो सकती थी, लेकिन अकबर के जीवन काल में दरबार को तुलसीदास की कोई खबर नहीं लगी, यद्यपि जहांगीर ने उनका सत्कार किया था।
15. अबुल फजल ने ऐसे कलाकारों और विभिन्न पेशों के लोगों की सूची दी है जिन्हें दरबार में बुलाकर सम्मानित किया गया था। तीन चौथाई कवि विदेशी थे। इसी तरह एक तिहाई से अधिक चिकित्सक और लगभग इसी अनुपात में संगीतज्ञ भी विदेशी थे (देखिए आईन, अनुवाद i 537 और आगे, ब्लाकमैन की टिप्पणियां) साथ ही यह भी स्वीकार करना होगा कि अकबर की निगाह स्थानीय प्रतिभाओं को परखने में भी नहीं चूकती थी। अबुल फजल ने लिखा है कि किस प्रकार उसने शारीरिक श्रम करने वाले एक नौकर के जवान लड़के को दीवारों पर चित्र बनाते देखकर उसे प्रशिक्षण के लिए एक कलाकार को सौंप दिया। यह नौजवान था दसवन्त, जो 'अपने काल के सर्वश्रेष्ठ सिद्धहस्त कलाकार के रूप में निखरा।'
16. चिकित्सक के धंधे की दुकान में क्या स्थिति थी, इस पर बीजापुर के सुल्तान की बीमारी और इलाज के किस्से से काफी प्रकाश पड़ता है। कहते हैं अपनी बीमारी ठीक करने में असफल होने वाले कई चिकित्सकों को उसने मौत के घाट उतरवा दिया। कुछ को कत्ल करवाकर और कुछ को हाथी के पैरों तले कुचलवा कर। फलत: बाकी सब चिकित्सक उसकी सल्तनत छोड़ कर भाग गये (सेवेल, पृ० 192)
17. टेरी (पृष्ठ 141) बताता है कि किस तरह जहांगीर के लिए इंग्लैंड से लाए गए कुत्तों में से प्रत्येक पर उसने चार चार तीमारदार तैनात किए।
18. अकबर नामा, अनुवाद ii 246। अबुल फजल ने इन आदेशों का वर्णन दासता–उन्मूलन के रूप

में किया है, लेकिन इस शब्द समुच्चय का, मेरे विचार से, शाब्दिक अर्थ नही लगाया जाना चाहिए, इन आदेशों की सीमित व्याप्ति इनकी शब्दावली से ही स्पष्ट है।

19. सन् 1785 में सर विलियम जोंस ने जूरी के सभ्यों के समक्ष प्रस्तुत एक अभियोग के सिलसिले में बच्चों से भरे बड़े-बड़े जहाजों का उल्लेख करते हुए कहा कि इनमें से अधिकांश अपने माता-पिताओं से चुराकर या शायद अकाल के समय में खरीद कर नदी के रास्ते खुले बाजार में बेचने के लिए कलकत्ता लाए गए थे, और दास प्रथा पर तैयार किए गए जिस प्रतिवेदन से मैंने यह उद्धरण लिया है उसमें कहा गया है (पृ० 17) कि कलकत्ता में ही 1834 की बाढ़ के दौरान लोग गलियों में फेरी लगाकर बच्चे बेचते थे।

20. मार्को पोलो (यूले, ii 155), बारबोसा (पृ० 363), पाइराडं (अनुवाद, i 332) आदि विभिन्न लेखकों ने बंगाल का उल्लेख हिजड़ों के स्रोत के रूप में किया है, इससे संबंधित तथ्य 'आईन-ए-अकबरी' (अनुवाद ii, 122) में दिए गए बंगाल के विवरण में प्रस्तुत किए गए हैं।

21. 'स्लेवरी रिपोर्ट' में जो बातें कही गई उनका आम निष्कर्ष मुझे सही जान पड़ता है। मालिक अलग-अलग किस्मों के होते थे। रुहेलों जैसे क्रोधी लोग पीट-पीट कर अपने मजदूरों की हड्डियां तोड़ दे सकते थे, लेकिन मैं नही समझता कि इस तरह के इक्के दुक्के आततायी लोग गुलामों को जो सजा देते थे उसकी कठोरता इस बात पर निर्भर रही होगी कि सजा देने वाले की अपने हैसियत क्या थी ?

4

कृषि-उत्पादन

भूमि संबंधी अधिकार

अकबर के शासन काल में भारत में प्रचलित कृषि पद्धति का विवेचन करने से पूर्व भूमि-संबंधी अधिकाल के बारे में दो शब्द कह देना आवश्यक है। जोतदार किन शर्तों पर जमीन जोतते हैं, इसका सर्वत्र इस बात से घनिष्ठ संबंध होता है कि जमीन का उपयोग कहां तक सफल ढंग से किया जा सकता है, और भारत के मामले में इस विषय की चर्चा का एक विशेष कारण भी है। खेती के बारे में हमारी अधिकांश जानकारी का आधार भूराजस्व के निर्धारण और उसकी वसूली से संबंधित समकालीन अभिलेख हैं, और उनसे जो जानकारी मिलती है उसको हम तब तक ठीक-ठीक नहीं समझ सकते जब तक कि हमें उन परिस्थितियों का कुछ ज्ञान नहीं हो जाता जिनमें जमीन प्राप्त की जाती थी। अकबरी शासन के अंतिम दिनों में भारत में भूमि-संबंधी अधिकारों में परंपरागत प्रणाली से कुछ अंतर अवश्य आया, लेकिन कोई क्रांतिकारी परिवर्तन नहीं हुआ और पुराने विचारों का प्रभाव प्रबल था। परंपरागत रूप से कृषि से संबंधित केवल दो वर्ग थे; शासक और प्रजा। यदि प्रजा में से कोई व्यक्ति किसी जमीन का कब्जा हासिल करता था तो उसे अपनी कुल उपज का एक हिस्सा शासक को देना पड़ता था और इसके बदले उसे शासक से सुरक्षा मिलती थी। स्पष्ट है कि इस पद्धति के अंतर्गत भूस्वामित्व का कोई प्रश्न ही नहीं उठता था। व्यक्तिगत अधिकार की धारणा को राजनीतिक निष्ठा से अलग करने की प्रक्रिया से जिसने पिछली सदी में बहुत प्रगति की, किंतु आज भी पूर्णता को प्राप्त नहीं हो पाई है यह व्यवस्था पूर्ववर्ती है।[1] और फिर जमीन पर काबिज होने से ही कानूनी तौर पर उस पर अधिकार मान लिया जाय यह जरूरी न था : राजा को राजस्व की जरूरत थी, और उसकी जरूरतें पूरी करने के लिए काफी जमीन पर खेती करना अधिकार के बजाय एक कर्त्तव्य माना जाता था। भारत के अधिकांश हिस्सों में आज जमीन की मांग इतनी ज्यादा बढ़ गई है कि जमीन पर खेती करने की बात को राज्य की ओर से निर्धारित कर्त्तव्य बताना पाठकों को बहुत विचित्र लग सकता है, लेकिन वर्तमान सदी में भी कुछ विरल आबादी वाले राज्यों में ऐसे अवसर आये हैं जब राजा प्रजा के संबंध का यह पहलू व्यवहारिक महत्त्व का साबित हुआ है और जब काफी जमीन में खेती न करने पर किसान दंड के भागी माने गए हैं। पूर्ववर्ती काल में खेती करने के कर्त्तव्य का पालन सख्ती से करवाया जा सकता था, इसका साक्ष्य पूर्वी तट की एक घटना से मिलता है। 1632 में प्रसंगवश इस घटना का उल्लेख करते हुए एक अंग्रेज व्यापारी ने बताया है कि स्थानीय शासक ने अपने हाथों से एक ग्राम-प्रधान के दो टुकड़े कर दिये, क्योंकि उसने अपनी जमीन में बुवाई नहीं की थी।

यह माना जा सकता है कि ऐसी सख्ती कभी-कभी ही बरती जाती होगी, लेकिन इस कहानी से भारत में भूमि-विषयक अधिकार का एक ऐसा पहलू उजागर हो सकता है जो आज बिलकुल विस्मृत हो गया है।

भूमि-विषयक इस मूल और सरल अधिकार के विकास का संबंध छोटे-छोटे राज्यों के बड़े-बड़े साम्राज्यों में मिला लिये जाने की प्रक्रिया से जोड़ा जा सकता है और भारत में ऐतिहासिक काल में यह प्रक्रिया कालांतर से बार-बार प्रकट होती रही। विजेता विजित राजा के स्थान पर स्वयं प्रतिष्ठित हो सकता था, या वह उसके राज्य पर कब्जा करने के बजाय उस पर कर लाद दे सकता था। इन दोनों स्थितियों में किसानों की हालत पर कोई प्रभाव पड़ना जरूरी नहीं था। लेकिन ऐसे राजनीतिक फ़ेर-बदल का नतीजा अकसर उपज में से राज्य द्वारा मांगे जाने वाले अंश में कमी या वृद्धि, राजस्व के निर्धारण और उसकी वसूली के तरीकों में परिवर्तन के रूप में सामने आता था, और ये ऐसी बातें थीं जिनमें किसानों की गहरी दिलचस्पी होती थी: यह तो स्वयंसिद्ध बात है कि उन्हें राज्य की उपज का जो हिस्सा देना पड़ता था उसका उनकी आर्थिक स्थिति पर असर पड़ता था। यह हिस्सा 1/10 भी हो सकता था, जैसा कि फिरोजशाह के शासन काल में था और अलाउद्दीन खिलजी के शासन काल की तरह आधा भी हो सकता था, लेकिन हमें यह समझ लेना चाहिए कि राजस्व निर्धारण के तरीके में होने वाले परिवर्तन भी उतने ही महत्त्वपूर्ण हो सकते थे और सच तो यह है कि आधुनिक भारत के जोतदारों के उदय का श्रेय बहुत हद तक ऐसे ही परिवर्तनों को है। विजय नगर में जो राजस्व प्रणाली प्रचलित थी उसे साम्राज्यीय संगठन के दूसरे प्रकार का नमूना माना जा सकता है। राजस्व सरदार एकत्र करते थे। इन्हें उन राजाओं का उत्तराधिकारी माना जा सकता है। जिनके राज्य, किसी समय साम्राज्य के अंग बना लिए गए थे। वे एक निश्चित राशि साम्राज्य के कोष में पहुंचा देते थे और बाकी अपने पास रख लेते थे। इस तरह हम मान सकते हैं कि जो प्रणाली पहले से ही विद्यमान थी उसके ऊपर साम्राज्य का ढांचा खड़ा कर दिया गया। और जब अकबर की मृत्यु के कुछ वर्ष बाद दक्षिणी साम्राज्य का विघटन हो गया तब भी सरदार अपनी पूर्व-स्थिति में कायम रहे और फिर से राजाओं का दर्जा हासिल कर लिया। ऊपर से साम्राज्य का ढांचा खड़ा किये जाने के फलस्वरूप किसानों के अधिकाल में कोई अंतर आया या नहीं, यह बताने की स्थिति में मैं नहीं हूं। साम्राज्य के कायम होने के पूर्व उन्हें उपज का कितना भाग देना पड़ता था, यह हमें मालूम नहीं है और हम सिर्फ एक बात निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि साम्राज्य के अंतर्गत यह हिस्सा बहुत अधिक था। नुनिज ने स्पष्ट रूप से कहा है कि किसान सरदारों को उपज के दस में से नौ हिस्से अदा करते थे और सरदारो को जितना मिलता था उसका आधा वे सम्राट को दे देते थे। इसमें कोई संदेह नहीं कि जानकारी के अच्छे स्रोतों तक इस लेखक (नुनिज) की पहुंच थी, लेकिन मुझे तो कृषि का ऐसा कोई भी रूप कल्पनातीत प्रतीत होता है जिसमें उत्पादक अपनी कुल उपज के दसवें हिस्से पर गुजारा कर सकते हों, और मैं यह कहूंगा कि दस में से नौ हिस्से की अदायगी की बात अक्षरशः सही नहीं मानी जानी चाहिए, बल्कि इसे ऐसी मांग समझना चाहिए जो असाधारण रूप से ऊंची थी। डी लाएट के कथन को अक्षरशः सही मानने में भी मुझे ऐसी ही हिचक होती है।

उसका कहना है कि मुगल अधिकारी उपज का लगभग तीन-चौथाई भाग ले लेते है और बेचारे किसानों के पास सिर्फ एक चौथाई छोड़ते हैं, जिससे बहुधा उन्हें अपनी मेहनत और खर्च के बदले कुछ नहीं मिलता।' ऐसे मामलों में डी लाएट की अधिकांश जानकारी तटवर्ती इलाकों से प्राप्त हुई जान पड़ती है, और मैं समझता हूं कि नुनिज के कथन की तरह उसके कथन को भी इस बात का संकेत मात्र मानना चाहिए कि राज्य की मांग बहुत कड़ी थी, हालांकि संभव है कि देश के कुछ हिस्सों में (अतिरिक्त मांगों को मिलाकर) तीन चौथाई भाग वास्तव में वसूल भी किया जाता रहा हो।

उत्तर भारत में, जैसा कि हम पिछले अध्याय में देख चुके हैं अकबर के प्रशासनिक आदर्शों का सम्मान पहले से मौजूद व्यवस्था पर कोई नया ढांचा आरोपित करने के बजाय उनके स्थान पर नए तौर तरीकों को शुरू करने की ओर था। गरज यह कि जो किसान उसके शासन में आए, उनके साथ उसने प्रत्यक्ष संबंध स्थापित करने की कोशिश की, लेकिन उसकी नीति बहुत हद तक व्यावहारिकता से संचालित होती थी, इसलिए उसकी राजस्व प्रणाली किसी भी तरह समरूप नहीं थी। सिंध में उसने मूल भारतीय चलन को कायम रखा और उपज का एक हिस्सा किसानों से लेता रहा। बंगाल, बरार और खान देश में उसने उन्हीं राजस्व प्रणालियों को जारी रखा जो पहले से चली आ रही थीं, हालांकि हम यह कहने की स्थिति में नहीं हैं कि पहले उनका स्वरूप क्या था, लेकिन साम्राज्य के केन्द्रीय क्षेत्रों में उसने अपने तरीके चालू किए, जो उसके पूर्ववर्ती शासक शेरशाह के तरीकों पर आधारित थे। इन तरीकों को वह जितने बड़े क्षेत्र में लागू कर सकता था, उसने किया, लेकिन जहां स्थानीय परिस्थितियों को देखते हुए वांछनीय लगा वहां उसने जमींदारों से समझौते भी किए। किसी खास क्षेत्र में कौन-सी राजस्व प्रणाली लागू थी, यह मालूम करना संभव नहीं है, लेकिन यह कहना शायद ठीक ही होगा कि उत्तर भारत केसत्र से उपजाऊ क्षेत्र में—अर्थात बिहार से लेकर लाहौर और मुलतान तक राजस्व निर्धारण की विनयमन प्रणाली लागू थी, जिसे 'जब्त' कहा जाता था। इस प्रणाली के अधीन अकबर ने अपना हिस्सा कुल उपज का एक तिहाई भाग तय किया, और इस आधार पर राजस्व की उगाही के लिए उसके अधिकारियों ने हर फसल की औसत उपज तय कर दी और दस वर्षो के अनुभव के परिणामों के आधार पर कीमत कूत कर औसत उपज के एक तिहाई मूल्य के बराबर नकद दरें निश्चित कर दीं। हर क्षेत्र का हिसाब-किताब मौसम दर मौसम तैयार किया जाता था, और किस किसान को कितना देना था, यह उसने जिस क्षेत्र में खेती की उस क्षेत्र के लिए स्वीकृत दरों के अनुसार तय कर दिया जाता था। इस प्रकार आगरा के आसपास की जमीन में खेती करने वाले किसान को मालूम था कि उससे गेहूं की एक बीघे की खेती के लिए 67 दाम[1], जौ की खेती के लिए 49 दाम, नील के लिए 156½ दाम, ईख के लिए 239 दाम और इसी तरह हर अलग किस्म की उपज के लिए अलग रकम वसूल की जाएगी। खेती के जिन क्षेत्रों पर यह प्रणाली लागू की गई उनमें से प्रत्येक के संबंध में दरों की ऐसी ही सूची तैयार की गई।

मूल भारतीय पद्धति के अनुसार उपज खलिहान में बांट ली जाती थी। इसमें किसान और राज्य दोनों खेती के नफा-नुकसान के साझीदार होते थे। जो पद्धति अकबर ने जारी की थी उसमें अधिकांश नफा-नुकसान (सिद्धान्तः) किसान के

सिर था, क्यों कि उसे कितना देना था, वह कटी फसलों के आधार पर नहीं बल्कि उसके द्वारा बोई गई फसलों के आधार पर तय किया जाता था। हां, फसल के नष्ट हो जाने पर माफी की भी संभावना रहती थी। इस प्रकार एक ओर तो इस परिवर्तन का परिणाम यह हुआ कि खेती में किसानों की रुचि बढ़ी और दूसरी ओर यह कि समय-समय पर शाही राजस्व की रकमों में जो उतार चढ़ाव आते रहते थे वे बहुत कम हो गए यद्यपि इसका मतलब राजस्व की कोई नियमित प्रणाली की स्थापना नहीं थी, फिर भी किसान को नकदी पट्टेदार की स्थिति में ले जाने की दिशा में यह एक निश्चित कदम था। उसे अपनी देनदारी पहले से तो मालूम नहीं रहती थी, लेकिन बुवाई की योजना बनाते ही वह उसका हिसाब लगा ले सकता था। इस प्रणाली के अमल के बारे में हम आगे विचार करेंगे। इस समय इतना कह देना काफी होगा कि इसके जारी किए जाने का मतलब जमीन के बारे में आंकड़ों का विपुल संग्रह था और इस तरह की बहुत-सी जानकारी 'आईन-ए-अकबरी' के माध्यम से हमें सुलभ है। इस जानकारी के सहारे हम इस उद्योग की प्रकृति को जितनी अच्छी तरह समझ सकते हैं, उतनी अच्छी तरह नहीं समझ सकते थे अगर हमें सिर्फ व्यक्तियों के फुटकर कथनों पर ही निर्भर रहना पड़ता।

कृषि प्रणाली

जहां तक मुझे मालूम है, इस काल के साहित्य में ऐसा कुछ नहीं है जिसे भारतीय कृषि पद्धति का पूर्ण विवरण कहा जा सके[1] दरअसल आश्चर्य तो तब होता जब ऐसा कोई विवरण होता। यह विषय ऐसा नहीं था जो उन दिनों के भारतीय लेखकों का ध्यान आकृष्ट करता, और विदेशी यात्री, जिनकी रुचि मुख्यत: व्यापार में थी, देश की उपजों के नाम गिना कर ही रह गये। किन परिस्थितियों में उनका उत्पादन किया जाता था, इसके बारे में कोई तफसील देने की उन्होंने परवाह नहीं की। लेकिन देशी और विदेशी दोनों 'वर्गों' के लेखकों से इस विषय की इतनी जानकारी तो मिल ही जाती है कि यदि कुल मिलाकर देखा जाए तो उससे इस विषय में एक मोटी धारणा बनाई जा सकती हैं, बशर्ते कि हमारे पास एक ऐसा ढांचा हो जिसमें सारी जानकारी व्यवस्थित की जा सके। यदि मैं गलती नहीं कर रहा हूं तो कहूंगा कि वह ढांचा सातत्य के सिद्धांत के रूप में उपलब्ध है। 1600 और 1900 के बीच भारत में ऐसी कोई कृषि क्रांति नहीं हुई जैसे कि कुछ देशों में नाकाबंदी की नीति अख्तियार किए जाने के कारण या समुद्री व्यापार के विकास के परिणाम स्वरूप हुई। नाकाबंदी में तो लोग अब कुछ व्यवहारिक रुचि दिखाने लगे हैं और यातायात की आधुनिक सुविधाओं के परिणाम अधिकांशत. स्वेज नहर के खुलने के बाद के वर्षों में प्रकट होने लगे हैं। अकबर के समय से अब तक परिवर्तन तो बहुत-से हुए हैं, और उनमें से कुछेक महत्वपूर्ण भी हैं, लेकिन उनके परिणाम स्वरूप संपूर्ण कृषि पद्धति का रूपांतरण नहीं हुआ है। हल और बैल ज्वार बाजरा आदि मोटे अनाज और चावल, तिलहन और दालें तथा देहाती क्षेत्रों की संपूर्ण परंपरा ये तमाम चीजें भारतीय कृषि को सोलहवीं शताब्दी और भारतीय जनता के उससे भी पुराने इतिहास से जोड़ती है, और इस काल के लिए प्रयुक्त प्रमाण-स्रोतों में उल्लिखित लगभग हर तफसील के महत्व को ऐसा व्यक्ति सहज ही समझ सकता है जो आज

के भारतीय किसानों की अवस्था से थोड़ा बहुत भी परिचित है। मसलन आगरा के आसपास के क्षेत्रों में सिंचाई का जो वर्णन बाबर ने किया है उसी को देखें: 'कुएं के किनारे पर वे लकड़ी की एक दुशाखी बिठा देते हैं, जिसके बीच एक घिरनी लगी लगी रहती है। एक बड़ी बाल्टी में रस्सी बांध देते हैं उस रस्सी को घिरनी पर लगा देते हैं और उसका दूसरा छोर बैल से बांध देते हैं। एक आदमी बैल को हांकता है और दूसरा (भर-भर कर ऊपर आने वाली) बाल्टी को खाली करता जाता है।' यह चीज जिस तरह बाबर के काल में प्रचलित थी उसी तरह बीसवीं सदी में भी है। इसी तरह गार्सिया दा ओर्टा ने गोआ के पीछे की दकन की ऊंची भूमि में जुताई के बारे में जो कुछ कहा है वह भी एक अच्छा उदाहरण है। वह कहता है 'वे हम लोगों की तरह खाद डाल कर और मेहनत करके खेत तैयार नहीं करते। वे खेत को थोड़ा सा गोड़ कर जमीन के ऊपर ही बीज डाल देते हैं।' और इंपीरियल गजेटियर में भारत के विषय में कहा गया है: 'काली मिट्टी वाले खेत को एक बार से ज्यादा जोतने की जरूरत नहीं पड़ती, और उसमें खाद तो कभी-कभी ही डाली जाती है।' इस तरह अगर हम यह मान कर चलें कि कृषि की वही सामान्य पद्धति आज भी कायम है तो पाठक देखेंगे कि इस विषय से संबंधित हरेक फुटकर उक्ति अपनी जगह पर ठीक बैठ जाती है, फलतः यदि हम इस बीच होने वाले परिवर्तनों की जानकारी हासिल कर लें तो हम तीन सदी पूर्व खेती की स्थिति की रूप रेखा तैयार कर सकते हैं।

पहले फसलों की बात लें। अबुल फजल के लेखन में उन सभी फसलों की सूचियां सुरक्षित हैं जिन पर उत्तर भारत में कर लगाया जाता था, और हम ऐसा निश्चयपूर्वक मान सकते हैं कि बड़े पमाने पर पैदा की जाने वाली ऐसी कोई फसल नहीं थी जिस पर कर न लगाया गया हो। ये सूचियां काफी हदतक उन सूचियों के समान है जो कृषि संबंधी वर्तमान आंकड़ों में दी गई है।[1] इन सूचियों में हम चावल, गेंहूं और जौ जैसे मुख्य खाद्यान्न देखते हैं, कई प्रकार के लंबे और छोटे दानेवाले मोटे अनाज देखते हैं, आजकल की तरह ही तिलहन और दालें सब्जियां देखने को मिलती हैं। इन सूचियों में मोटे पतले गन्ने, छोटे और बड़े दोनों तरह के रेशोंवाली कपास, भांग, हमारा परिचित तिलहन और नील, पोस्ता, पान और सिंघाड़ा शामिल हैं। दक्षिण के संबंध में हमें कोई समकालीन सरकारी अभिलेख उपलब्ध नहीं है, लेकिन विभिन्न यात्रियों के विवरणों में से एकत्र की गई जानकारी के आधार पर जो सूची बनती है वह सर्वथा तो नहीं लेकिन प्रायः वैसी ही फसलों की सूची है जैसी कि वहां आज देखने को मिलती है। दोनों सूचियों को मिलाने पर हम देखते हैं कि अकबर के समय की जो एकमात्र फसल लुप्त हो गई है वह है 'आल'। यह एक झाड़ीदार पौधा था जिससे रंग निकाला जाता था। मध्य भारत में एक समय में इसका खूब महत्व था, लेकिन कृत्रिम रूप से तैयार किए गए रंगों से मुकाबिला होने पर पिछली सदी में इसकी खेती समाप्त हो गई। लेकिन इस नुकसान को तरह तरह की नई फसलों से पूरा किया गया है—जैसे चाय और काफी जैसी बागान खेती की फसलें, आलू तम्बाकू, मूंगफली और शकरकन्द जैसी व्यापारिक फसलें तथा जई और मक्का जैसे खाद्यान्न। इस प्रकार सोलहवीं सदी के बाद से भारतीय कृषि समृद्ध अवश्य हुई है,

लेकिन इस हद तक नहीं कि उसकी मुख्य विशेषतायें बिलकुल बदल गई हों।

अबुल फजल के लेखन में सुरक्षित आंकड़ों के आधार पर हम उत्तर भारत के उन हिस्सों में पैदा की जाने वाली फसलों के सापेक्षमूल्य का एक मोटा अनुमान लगा सकते हैं जिनमें राजस्व निर्धारण अकबर की विनियमय प्रणाली के अनुसार किया जाता था। जैसाकि हम देख चुके हैं, विनियनम प्रणाली का उद्देश्य कुल उपज के एक एक तिहाई हिस्से का औसत नकद मूल्य राज्य के लिए वसूल करना था। मतलब यह कि समान क्षेत्रों में विभिन्न प्रकार की फसलों के लिए निर्धारित राजस्व की राशियां इस बात की द्योतक हैं कि सरकार की दृष्टि में प्रत्येक फसल का अनुपातिक मूल्य क्या था। उदाहरण के लिए, एक बीघा गेहूं की फसल पर निर्धारित 60 दाम राजस्व का मतलब यह था कि राजस्व निर्धारित करने वाले अधिकारी की नजर में एक बीघा गेहूं कि फसल का मूल्य 180 दाम था, और यदि हम गेहूं की फसल पर निर्धारित राजस्व को 100 मानें तो अन्य फसलों पर कूते गए राजस्व को सुविधापूर्वक दिखा सकते हैं, जिससे उनका अनुपातिक मूल्य भी प्रकट हो जाए। कुछ प्रमुख फसलों के आँकड़े नीचे दिये जा रहे हैं। ये आँकड़े अकबर के समय में इलाहाबाद, आगरा और दिल्ली इन तीन मुगलियां सूबों में लागू कराधान की विभिन्न दरों के औसत पर आधारित हैं।

फसल	आनुपातिक मूल्य
गेहूं	100
जौ	67
चना (साधारण)	60
ज्वार	59
बाजरा	42
मंडुआ	44
सावां	22
अलसी	51
सरसों	53
पोस्ता	210
गन्ना (साधारण)	213
कपास	150
नील	254

जहाँ तक खाद्यान्नों का संबंध है, आनुपातिक मूल्यों में बहुत कम परिवर्तन आया है। एक एकड़ में पैदा होने वाला जौ, या ज्वार, या चना एक एकड़ में पैदा होने वाले गेहूं के 60 से 70 प्रतिशत मूल्य के बराबर होता है और यही अनुपात अकबर के काल में भी था, किंतु छोटे दानों वाले मोटे अनाजों के प्रति एकड़ आनुपातिक मूल्य में भारी गिरावट आ गई है।[1] तिलहन आज की अपेक्षा अनुपाततः कम कीमती था, क्योंकि आज बहुत बड़े पैमाने पर इसका अत्यंत लाभदायक निर्यात व्यापार होता है। किंतु गन्ने के आनुपातिक मूल्य में बहुत कम अंतर दिखाई देता है। एक एकड़ में पैदा होने वाले गन्ने का दाम आज भी एक एकड़ में पैदा होने वाले गेहूं के मूल्य के दुगुने से भी ज्यादा है। ध्यातव्य है कि अकबर के काल में पोस्ता गन्ने

के बराबर ही मूल्यवान था। खुले बाजार में इसकी मौजूदा कीमत मालूम नहीं हैं, क्योंकि इसकी खेती करने वाले को जो कीमत मिलती है उसे राज्य ने कई दूसरे कारणों से बहुत पहले से निर्धारित कर रखा है, लेकिन यदि हम इस मादक द्रव्य की बिक्री से हाल तक प्राप्त होने वाले राजस्व पर विचार करें तो इस फसल की उन दिनों जो स्थिति थी उस पर हमें आश्चर्य नहीं होगा। कपास के ऊंचे आनुपातिक मूल्य पर देश के औद्योगिक विकास को ध्यान में रख कर विचार किया जाना चाहिए। इस तरह स्पष्ट हो जाएगा कि साधारण वस्त्र के लिए जरूरी कच्चा माल खाद्यानों की अपेक्षा अधिक महंगा क्यों था। नील भी बहुत महंगा था, लेकिन इसका कारण उद्योग के बजाय व्यापार में खोजना चाहिए, क्योंकि सोलहवीं सदी में यह फसल मुख्यतः निर्यात के लिए उगाई जाती थी। आनुपातिक मूल्य ज्ञात करने के बाद स्वभावतः मन में वास्तविक मूल्य जानने और इन आंकड़ों के आधार पर अकबर के काल में फसलों की औसत उपज के आंकड़े जानने का लोभ उठता है। कागज पर ऐसा हिसाब लगाया भी जा सकता है, लेकिन ऐसे हिसाब को प्रभावित करने वाले बहुतेरे अनिश्चित घटक हैं, और इस हिसाब का जो परिणाम सामने आएगा वह इस बात पर निर्भर करेगा कि किस व्यक्ति ने किस फसल की क्या कीमत बताई है। इसलिए इन आंकड़ों से मन में जगने वाले लोभ को संवरण करना ही बेहतर है। हम इतना कह कर ही संतोष करें कि कुल मिला कर विभिन्न फसलों के आनुपातिक मूल्यों में बहुत कम अंतर आया है और जहां अंतर बहुत स्पष्ट है वहां उसका कारण मध्यवर्ती इतिहास में ढूंढा जा सकता है।

अस्तु, जो अपवाद बताए गए हैं उनके सिवाय, कुल मिलाकर भारत का कृषि उत्पाद वही था जो आज है। हम यह भी जानते हैं कि किस और कितने क्षेत्र में कौन-सी फसल उगाई जाती थी, यह बात मुख्यतः मिट्टी की किस्म और जलवायु पर निर्भर थी, उत्तर भारत गेहूं आदि मुख्य अनाज, मोटे अनाज और दालें पैदा करता था, दकन ज्वार और कपास पर निर्भर था, और दक्षिण भारत की मुख्य पैदावार चावल और मोटे अनाज थे। विभिन्न स्रोतों से जो संकेत मिलते हैं उनसे यह निष्कर्ष निकलना उचित जान पड़ता है कि जिस परिमाण में आज कोई विशेष क्षेत्र विशेष फसल उगाता है उस परिमाण में उन दिनों नहीं करता था। वैसे यह बात भी नहीं है कि लोग इस तरह के विशेषीकरण से बिलकुल अनभिज्ञ थे, क्योंकि हम देखते हैं कि बंगाल भारत के कई हिस्सों के लिए शक्कर मुहैया करता था और नील ज्यादातर दो क्षेत्रों में पैदा किया जाता था—आगरा के निकट बियाना में और गुजरात स्थित सरखेज में। इसके अलावा इन दोनों उदाहरणों से उन परिस्थितियों पर भी प्रकाश पड़ता है जो इन क्षेत्रों में खास तौर से इन फसलों के उगाए जाने के लिए जिम्मेदार थीं। शक्कर का परिवहन मुख्यतः जलमार्ग से होता था—पश्चिम में आगरा की ओर ले जाना होता था तब भी और दक्षिण में मलाबार के बंदरगाहों तक पहुंचाना होता था। मतलब यह कि इसका व्यापार बहुत हद तक थल परिवहन पर होने वाले भारी खर्च के प्रभाव से मुक्त था। दूसरी ओर नील आगरा से कैंबे के बंदरगाहों तक या सीमा पार फारस को थल मार्ग से ले जाया जाता था, क्योंकि इस वस्तु का निर्यात मूल्य आंतरिक मूल्य की अपेक्षा बहुत अधिक था। इस प्रकार इन उदाहरणों में हमें विशेषीकरण की उस प्रक्रिया के आरंभिक रूप देखने को

मिलते हैं जो पिछली सदी में परिवहन के साधनों की तरक्की के साथ अब बहुत आगे बढ़ चुकी है। दूसरी ओर, आधुनिक गेहूं उत्पादक क्षेत्र या कपास उत्पादक क्षेत्र जैसी चीज का कोई नामोनिशान देखने को नहीं मिलता। इन दोनों फसलों के खास क्षेत्रों के विकास के पीछे रेल मार्ग का विकास बहुत बड़ा कारण रहा है। वैसे उन दिनों कपास आज की अपेक्षा अधिक बड़े क्षेत्र में उगाई जाती थी, हालांकि उसकी कुल पैदावार आज की बनिस्पत कम होती थी, और यह मानना अनुचित नहीं होगा कि खाना कपड़ा और दूसरी आवश्यकताओं की पूर्ति के मामले में भी देश के अधिकांश हिस्से स्वावलंबी थे। इसलिए यदि हम उन बड़ी फसलों को छोड़ दें जिनके बारे में हमें यह मालूम है कि वे बाद में उगाई जाने लगीं और इन तीन सदियों के दौरान विशेषीकरण तथा सिंचाई के क्षेत्रों में होने वाली प्रगति के लिए गुंजाइश रख कर चलें तो भारत के किसी भी खास हिस्से मे प्रचलित कृषि प्रणाली की एक मोटी रूप-रेखा तैयार कर सकते हैं।

अकबर कालीन किसानों द्वारा इस्तेमाल किए जाने वाले खेती के औजारों पर विचार करते हुए हम यह देख सकते हैं कि परवर्ती काल में इनमें बहुत कम परिवर्तन हुए होंगे, क्योंकि आज भी किसानों के खेती के साधन न्यूनतम आवश्यक साधनों से विशेष अधिक नहीं है और यह मानना संभव नहीं दीखता किसान कभी भी इससे बहुत ज्यादा खराब स्थिति में रहे होंगे। साथ ही यह मानने का भी कोई कारण दिखाई नहीं देता कि कोई भी उपयोगी औजार इस अंतराल में लुप्त हो गया होगा। हल और फावड़े, रहट और छोटे-छोटे औजार आम तौर पर युगों पुराने हैं। हर क्षेत्र की आवश्यकताओं के अनुरूप उनमें जो छोटे-छोटे परिवर्तन आए वे बहुत धीरे-धीरे हुए होंगे। इन औजारों की सब से बड़ी विशेषता इनमें लोहे का यथासंभव कम उपयोग है। इसका कारण यह रहा होगा कि जिन दिनों भारत को स्वदेशी लोहे पर ही निर्भर रहना पड़ता था उन दिनों इस धातु की कीमत बहुत ज्यादा रही होगी। इस निष्कर्ष की पुष्टि रहट से होती है। बाबर ने पानी निकालने के जिस साधारण और सरल साधन का उल्लेख किया है उसके बारे में हम पहले ही देख चुके हैं, उसने पंजाब में इस्तेमाल किए जाने वाले जिस फारसी चक्के का जिक्र किया है वह भी उतना ही प्रामाणिक मालूम होता है। गरज यह कि ये औजार कम से कम अकबर के जन्म से पहले से ही इस्तेमाल किए जा रहे थे, और यद्यपि हल के विषय में ऐसा कोई प्रत्यक्ष प्रमाण मेरी दृष्टि में नहीं आया है,[1] लेकिन फिर भी इसमें कोई संदेह नहीं कि बहुत पुराने समय से इस्तेमाल किए जाते रहे हैं। किसान को इन औजारों की कम या ज्यादा कीमतें देनी पड़ती थी, इसका उत्तर ठीक आंकड़े पेश करके नहीं दिया जा सकता, लेकिन कीमतों में बहुत ज्यादा अंतर नहीं रहा होगा। एक ओर लकड़ी उन दिनों आज की उपेक्षा अधिक सुलभ थी तो दूसरी ओर लोहा बहुत अधिक महंगा, और उसी काल के सिक्के की दृष्टि से देखें तो हल बनाने की मजदूरी में भी कोई खास फर्क शायद नहीं आया है, और कुल मिलाकर कह सकते हैं कि औजारों की जरूरत पूरी करने के लिए औजारों की मात्रा में भी पिछली तीन सदियों में कोई भारी अंतर आया हो ऐसा नहीं मालूम पड़ता।

जहां तक शक्ति की आपूर्ति की बात है, आज के किसान की स्थिति अकबर कालीन किसान की अपेक्षा शायद खराब है। देश के अधिकांश हिस्सों में चारागाह

के लिए बहुत-सी परती जमीन सुलभ थी, और हम ऐसा मान सकते हैं कि ढोर ज्यादा सस्ते और ज्यादा आसानी से मिल सकते थे। जहां तक ढोरों की संख्या का संबंध है, हमें कोई ठीक जानकारी नहीं है। विभिन्न यात्रियों ने भारवाही बैलों की कई प्रसिद्ध नस्लों का उल्लेख किया है, लेकिन ये नस्लें अमीर लोगों के लिए थीं और हल खींचने वाले जानवरों का कोई वर्णन कहीं भी मेरे देखने में नहीं आया है। ढोरों की अच्छी बुरी नस्लों की बात छोड़ दें, तो ऐसा माना जा सकता है कि ढोर आज की अपेक्षा अधिक सहज सुलभ थे, और उन्हें खिलाना-पिलाना भी ज्यादा आसान था, मैं समझता हूं, हमारा ऐसा सोचना सही नहीं होगा कि खाद की आपूर्ति आज से अधिक थी। यह मानते हुए भी कि समान कृषि क्षेत्र के लिए आज की अपेक्षा अधिक ढोर रहे होंगे, हम यह नहीं कह सकते कि उन सब का गोबर खाद के लिए सुलभ था, क्योंकि तब उन्हें चराया ज्यादा और खूंटे से बांध कर खिलाया कम जाता था। ढोर चरते हुए जहां भी गोबर निकालते थे, वह वहीं पड़ा रह जाता होगा। और सोलहवीं सदी में आज की अपेक्षा गोबर कम जलाया जाता रहा हो, ऐसा प्रमाण देने वाली भी कोई बात मेरी निगाह में नहीं आई है। निश्चय ही ईंधन की तरह उसका इस्तेमाल होता होगा, जैसा कि यूरोप के भी कुछ हिस्सों में होता था, लेकिन तुलनात्मक परिमाण के विषय में निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता है।

सिंचाई के लिए जल-आपूर्ति की चर्चा करते हुए हमें आज के नहरी क्षेत्रों और देश के शेष भाग के बीच अंतर करके चलना होगा। इलाहाबाद से पश्चिम और उत्तर की यात्रा करने वाले यात्रियों के विवरणों में इस विषय के उल्लेख की न्यूनता की[1] ओर हमारा ध्यान सहज ही आकृष्ट होता है। सिंचाई के चलन से अधिकांश यात्री शायद अनभिज्ञ थे, और इसलिए हम ऐसा मान सकते हैं कि जहां सिंचाई की व्यवस्था उनकी दृष्टि में आती, वे एक विशेष वस्तु के रूप में उसका उल्लेख अवश्य करते, लेकिन दरअसल उन्होंने इसके संबंध में बहुत कम कहा है। कुछ प्रसंगों में तो इस विषय में उनकी चुप्पी का कारण मौसम हो सकता है। उदाहरण के लिए स्टील और फ्राउथर ने 1615 में आगरा से फारस तक की यात्रा की और फारस में सिंचाई व्यवस्था के संबंध में उन्होंने उत्साहपूर्वक लिखा, किंतु लाहौर तक की यात्रा उन्होंने अप्रैल और मई में की। ये महीने खेती के नहीं थे और इसलिए उन्हें यहां सिंचाई का काम भी देखने को नहीं मिला होगा। लेकिन यह कारण फिंच के विवरण पर लागू नहीं हो सकता, क्योंकि उसने आगरा से लाहौर तक की यात्रा जनवरी में की। मार्ग में उसके ध्यान में सिर्फ इतनी-सी चीज आई कि शाही बगीचों की सिंचाई के लिए एक छोटी-सी नहर काटी गई थी। सभी विवरणों को साथ मिला कर देखें तो यही कहना पड़ेगा कि इस क्षेत्र में सर्दी के मौसम में जिस तरह आज सिंचाई का जोर होता है वैसी कोई बात उन दिनों नहीं थी। 'आईन-ए-अकबरी' में कृषि का जो संक्षिप्त विवरण दिया गया है उससे भी यही जान पड़ता है। इस विवरण में आम तौर पर बरसाती फसलों पर जोर दिया गया है और 'बारह सूबों के विवरण' में सिंचाई के संबंध में प्रायः एक मात्र जो कथन देखने को मिलता है वह यह है कि लाहौर में सिंचाई मुख्यतः कुओं से की जाती थी। सोलहवीं सदी के आरंभिक वर्षों में लिखते हुए बाबर ने भारत में नहरों की कृत्रिम व्यवस्था के अभाव का उल्लेख किया है और कहा है कि इसका कारण शायद यह है कि अतिरिक्त जल की जरूरत ही नहीं होती,

क्योंकि खरीफ की फसलों के लिए वर्षा का पानी मिल जाता है और 'रबी की फसलें वर्षा न होने पर भी उगती हैं।' आज के पंजाब को देखने वाला कोई भी व्यक्ति ऐसी बात नहीं कह सकता था। लेकिन उन दिनों जिन स्रोतों से जल प्राप्त किया जा सकता था, उनके बारे में हमें जो कुछ मालूम है उसको देखते हुए यह कथन असंगत नहीं लगता। लगभग सारी नहरें बाद में तैयार की गईं। अकबर काल में सिंधु नदी के बाढ़ के पानी के उपयोग के लिए कुछ प्रणालिकाएं थीं और इनके अलावा फिरोजशाह द्वारा लगाए बगीचों और उसके बसाए शहरों तक जल पहुंचाने के लिए बनवाए गए कुछ नालों के अवशेष रह गए थे, किंतु इनका महत्व सर्वथा स्थानीय था, और कुल मिलाकर देश सिंचाई के लिए या तो कुओं पर या ऐसे छोटे-मोटे सोतों पर निर्भर था जिनके जल को अस्थायी बांध बना कर इस्तेमाल में लाया जाता था। इसलिए हमें उन दिनों के उत्तरी भारत की अवस्था को लगभग वैसा ही मानना चाहिए जैसा कि आज देश के मध्य भाग की है, अर्थात दूर-दूर तक सिंचाई की किसी व्यवस्था के बिना फसलें जैसे-तैसे उगाई जाती थीं और बीच-बीच में जहां किसी सोते के जल का उपयोग किया जा सकता था या जहां बराबर भरे रहने वाले कुएं थे वहां अच्छे उपजाऊ खेत देखे जा सकते थे।

शेष भारत में कोई उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं हुआ है। देश की सतह को देखने से इस बात का पर्याप्त प्रमाण मिल जाता है कि कुओं और जलाशयों का निर्माण कोई नई बात नहीं है। संभव है अकबर काल में आबादी के अनुपात में सिंचाई वाला क्षेत्र उतना ही बड़ा रहा हो जितना कि बीसवीं सदी के आरंभ में था। हो सकता है, वह काफी कम हो या शायद कुछ अधिक भी रहा हो, लेकिन मैं नहीं समझता कि अंतर बहुत बड़ा रहा होगा। दक्षिण भारत में बांध बनाए गए और टूट गए, कुएं खुदवाए गए लेकिन ढह गए, यह सिलसिला सदियों से चला आ रहा है। इसलिए जहां तक भौतिक उपादानों का संबंध है, जो जानकारी उपलब्ध है उससे आम तौर पर वैसी ही कृषि का आभास मिलता है जैसी आज की जाती है। अगले अनुच्छेद में हम खेती में लगे लोगों पर विचार करेंगे।

किसान और मजदूर

सोलहवीं सदी की कृषि प्रणाली की जो जानकारी हमें है उसके आधार पर हम खेती के काम को चलाने वाली आबादी की संख्या के संबंध में कुछ निष्कर्ष निकाल सकते हैं, लेकिन इस काल के तथ्यों पर विचार करने के पूर्व हमें समुदाय विशेष की संख्या और उसके सदस्यों द्वारा जोती जाने वाली जमीन के सामान्य संबंधों पर एक नजर अवश्य डाल लेनी चाहिए। जमीन के व्यापारी उपयोग के उदाहरणों को अलग रखकर और प्रत्यक्ष जीविका के साधन के रूप में की जाने वाली खेती को ही ध्यान में रखें, तो हम देखते हैं कि किसी क्षेत्र में प्रचलित कोई विशेष प्रणाली अंशतः तो मिट्टी, जलवायु तथा परिवेश संबंधी अन्य स्थायी तत्वों पर निर्भर होती है और अंशतः उन लोगों की क्षमता पर जो इस प्रणाली से खेती करते हैं हम देखते हैं कि ऐसी प्रणाली के अनुसार कितने क्षेत्र में खेती की जाती है, यह सुलभ श्रमिकों की संख्या पर निर्भर है और इस सीमा का प्रभाव सबसे अधिक व्यस्तता के मौसम में सामने आता है।

जिस प्रकार की कृषि की हम चर्चा कर रहे हैं वह अन्य अधिकांश उद्योगों से इस अर्थ में भिन्न हैं कि उसमें पूरे साल एक-सी मात्रा में श्रम की आवश्यकता नहीं रहती और कभी व्यस्तता बहुत कम हो जाती है तो कभी बढ़ जाती है। कुछ मामलों में बुवाई के समय काम का सबसे ज्यादा दबाव होता है तो कुछ में फसल कटने के बाद और कुछ में बीच की किसी अवस्था में, लेकिन परिणाम हर मामले में लगभग एक ही होता है। जितने क्षेत्र को संभाला जा सके उससे अपेक्षाकृत बड़े क्षेत्र में कभी खेती नहीं की जायेगी। प्रतिकूल वर्षों में इस क्षेत्र में भारी कमी आ सकती है, लेकिन जब तक खेती करने का इरादा कायम है तब तक कोशिश यही रहेगी कि संभाल में आने लायक ज्यादा से ज्यादा क्षेत्र को जोता-बोया जाए। अगर और परिस्थितियां ज्यों की त्यों रहती हैं, लेकिन ग्रामीण आबादी में कमी आ जाती है तो खेती का क्षेत्र भी कम हो जायेगा। अगर आबादी बढ़ती है तो कृषि क्षेत्र का भी तब तक विस्तार होता रहेगा जबतक सारी जमीन आबाद नहीं कर दी जाती, और जब कृषि भूमि पर असह्य बोझ पड़ जायेगा तब संतुलन कायम करने वाली शक्तियां सक्रिय हो उठेंगी। इन शक्तियों में से एक है—अतिरिक्त लोगों का उस क्षेत्र को छोड़कर कहीं और चला जाना और दूसरी मृत्यु-दर में वृद्धि। किंतु जब तक जमीन पर असह्य बोझवाली स्थिति नहीं आती तब तक खेती में लगे लोगों और खेती का पारस्परिक संबंध लगभग एक सा बना रहेगा।

आज भी भारतीय कृषि बहुत हद तक "जीवन निर्वाह—उद्योग की अवस्था" में ही है, अर्थात अपने परिवार के लिए खाद्य सामग्री का उत्पादन हर किसान का पहला काम है, और अगर हमारे पास यह मानने का कोई आधार हो कि पिछली तीन सदियों में बाहरी परिस्थितियां मुख्यत: अपरिवर्तित रही हैं तो हमारा ऐसा सोचना भी गलत न होगा कि इस काल में जनसंख्या और कृषि के पारस्परिक संबंध में कोई विशेष अंतर नहीं आया है ऐसा मानने का कोई कारण नहीं कि मिट्टी और जलवायु संबंधी स्थायी परिस्थितियों में कोई अंतर नहीं आया है, और पिछले अनुच्छेद में हमने देखा कि फसलों और कृषि के तरीकों में भी कोई उल्लेखनीय अंतर नहीं आया है। अब हमें इस बात का पता लगाना है कि क्या खेती करने वाले लोग खुद बदले हैं। ऐसा कोई साक्ष्य उपलब्ध नहीं है जिससे प्रकट होता हो कि अकबर काल के भारतीय किसान और मजदूर आज की अपेक्षा अधिक अथवा कम कार्य कुशल थे। जैसा कि हम आगे के अध्याय में देखेंगे, उनका भोंजन वही था जो आज है, बल्कि संभव है कि उन्हें आज की अपेक्षा खाने को कुछ कम ही मिलता रहा हो। वृद्धि के विकास को उत्तेजन देने वाले जितने तत्व आज सक्रिय हैं, उनसे कुछ कम ही उन दिनों थे। जैसा कि हन आगे देखेंगे, अपने अतिरिक्त प्रयत्न का फल किसानों को मिले; इनकी आशा आज से बहुत कम थी। और किसी प्रत्यक्ष प्रमाण के अभाव में ऐसा मानना उचित जान पड़ता है कि उन दिनों साधारण लोग जितना काम करते थे वह मात्रा और गुण की दृष्टि से आज के लोगों के काम से कोई खास बढ़ चढ़ कर तो नहीं ही था। इसके कुछ ठोस उदाहरण लिए जाए तो मैं कहूंगा कि ऐसा मानने का कोई आधार दिखाई नहीं देता कि हम एक एकड़ जमीन को जोतने या उसमें धान रोपने, अथवा एक एकड़ कपास की निराई करने या एक एकड़ गन्ने के खेत को गोड़ने अथवा एक एकड़ गेहूं की फसल काटने में लगने वाले समय में उन दिनों

की तुलना में आज कोई विशेष अंतर आ गया है। अगर ये बातें मान ली जाएं तो निष्कर्ष यही निकलता है कि भारत के जिन भागों में कृपि प्रणाली में कोई बड़ा परिवर्तन नहीं हुआ है उनमें पिछली तीन सदियों में खेती की जमीन और खेती से जुड़ी ग्रामीण आवादी का अनुपात प्राय: समान है। इस निष्कर्ष का उद्देश्य यह बतलाना नहीं है कि जितनी जमीन में उन दिनों खेती होती थी उतनी ही में आज भी होती है, बल्कि यह दिखाना है कि समान क्षेत्रफल वाली जमीन में खेती करने में जितना समय एक आदमी को तब लगाना पड़ता था उतना ही अब भी लगाना पड़ता है। आज हमें विभिन्न इलाकों में कृषि कार्य के लिए आवश्यक लोगों की संख्या में काफी अंतर दिखाई देते हैं और हमने जो उदाहरण दिये हैं उनसे निष्कर्ष यह निकलता है कि ये अंतर बिना किसी खास परिवर्तन के बराबर कायम रहे हैं। इस सदी के आरंभ में संयुक्त प्रांत के कुछ पश्चिमी जिलों में सौ एकड़ 'साधारण खेती' के लिए 100 से 120 लोगों की जरूरत पड़ती थी, लेकिन उससे और दक्षिण की ओर पड़ने वाले जिलों में इतनी जमीन के लिए 60 से 70 लोगों की जरूरत होती थी। इन अंकों में जो अंतर है उसका कारण परिवेश संबंधी स्थायी विशेपताओं पर विचार करने पर स्वत: स्पस्ट हो जाता है, और हमारा निष्कर्ष यह है कि यह अंतर शायद बहुत मामूली फेर-बदल के साथ बराबर कायम रहा है और अकबर काल में तथा बीच की सदियों में पश्चिमी जिलों में सौ एकड़ जमीन में खेती करने के लिए 100 से 120 और दक्षिणी जिलों में 60 से 70 लोगों की जरूरत होती रही।

अब हम यह कह सकने की स्थिति में हैं कि भारत को कुल मिलाकर देखें तो कृपि प्रणाली में कोई विशेष अंतर नहीं आया है और किसी भी खास प्रदेश में देहाती आबादी में लगभग उसी अनुपात से अंतर आया है जिस अनुपात से खेती की जमीन में आया है। सिद्धांतत: तो इस निष्कर्ष से यह परिणाम भी निकलता है कि जोतों के औसत रकबे में भी बहुत परिवर्तन हुए होंगे। यदि पूरी देहाती आवादी के पास जमीन होती या इसके विपरीत सारी जमीन खेतिहर मजदूरों से काम लेने वाले थोड़े-से बड़े-बड़े काश्तकारों के हाथों में होती तो यह परिणाम सामने आ सकता था लेकिन मैं नहीं समझता कि अकबर के काल में इन दो में से कोई भी चरम स्थिति विद्यमान थी, और ऐसे संकेत मिलते हैं कि यद्यपि भूमिहीन खेतिहर मजदूर अच्छी तादाद में थे, किंतु अधिकांश किसान आज की ही तरह सीमित साधनों वाले लोग थे। पहले हम छोटे किसानों की बात लें। अकबर के प्रशासनिक निर्देशों में ग्राम-प्रधानों का उल्लेख बार बार आया है। मैं समझता हूँ, यह इस बात का संकेत है कि हर गांव में बहुत से किसान होते थे, और दक्षिण भारत के जीवन का जो आंशिक विवरण उपलब्ध है उनसे भी मैं यही निष्कर्ष निकालता हूं जोतों को छोटा मानने का एक और कारण यह है कि उस काल के साहित्य में हमें किसी बड़े पूंजीपति किसान के बारे में कुछ पढ़ने को नहीं मिलता, और अगर ऐसे किसानों का कोई प्रबल वर्ग होता तो साहित्य में उनका उल्लेख अवश्य होता। जहां भी किसी किसान का जिक्र आता है, उसे आज की तरह एक साधारण मनुष्य के रूप में देखते हैं और आमतौर पर उसे नकद राशि का अभाव रहता है। अकबर ने अपने राजस्व अधिकारियों को जरूरतमंद किसानों को कर्ज देने का निर्देश दिया था और उसके निर्देश को हम पूंजी के अभाव का द्योतक मान सकते हैं, यद्यपि उनसे यह निष्कर्ष निकाल सकते कि सरकारी कर्ज से किसानों की जरूरत

भली भांति पूरी हो जाती थी। इसके अलावा हमें जौहर का विवरण भी उपलब्ध है, जिसके अनुसार लाहौर के आस-पास रहने वाले किसान राजस्व अदा करने के लिए जो कर्ज लेते थे उसके बदले अपनी पत्नी और बच्चों तक को महाजनों के यहां गिरवी रख देते थे। इस विवरण से आज जैसी आर्थिक स्थिति का ही संकेत मिलता है, यद्यपि इस तरह की जमानत का चलन अब समाप्त हो चुका है। इसी तरह जब 1614 में एक अंग्रेज सौदागर नील खरीदने के लिए आगरा के पास के गांवों में गया तब जैसा कि वह स्वयं बताता है, उसने देशी परंपरा का अनुसरण करते हुए लोगों को अग्रिम राशियां दे दीं जो बाद में नील की कीमतों में से काटी जाने वाली थीं। लगभग उन्हीं दिनों अहमदाबाद से लिखते हुए एक अन्य सौदागर ने सलाह दी कि लोगों से नील की दैनिक खरीदारी के लिए उन्हें पूंजी दी जानी चाहिए, क्योंकि 'अपनी जरूरतें पूरी करने के लिए छोटे व्यापारियों के हाथों कम दाम पर अपना नील बेचने को मजबूर होना पड़ता है।' इसी प्रकार थाना के पुर्तगाली मिशनरियों को नवधर्मातरित लोगों को अन्न, वस्त्र, बीज, ढोर और हल, बल्कि अपना धंधा करने के लिए आवश्यक सारी पूंजी देनी पड़ी। ये उदाहरण वैसे तो कम ही हैं, लेकिन इनका संबंध विस्तृत क्षेत्रों से है. और मुझे ऐसा कोई अनुच्छेद याद नहीं आ रहा जिससे कोई भिन्न निष्कर्ष निकलता हो। साक्ष्य तो वास्तव में बहुत थोड़े हैं वे छोटी जोतों की प्रमुखता दर्शाते हैं और बड़ी जोतों की आवश्यकताएं पूरी करने के लिए पूंजी से संपन्न बड़े किसानों के बजाय छोटे छोटे जरूरतमंद किसानों के अस्तित्व का संकेत देते हैं।

दूसरी ओर, मुझे यह निश्चित प्रतीत होता है कि आज की ही तरह सोलहवीं सदी में भी ग्रामीण आबादी में भूमिहीन मजदूरों की बहुत बड़ी तादाद थी। यह सच है कि समकालीन साहित्य में मुझे कहीं भी ऐसे किसी वर्ग का उल्लेख नहीं मिला, लेकिन इस मामले में लेखों के मौन का मतलब यह नहीं हो सकता कि कृषि मजदूर थे ही नहीं, इसका अर्थ केवल इतना ही है कि जिन लेखकों की कृतियाँ हमें उपलब्ध हैं उनकी इस विषय में कोई रुचि नहीं थी। भूमि हीन कृषि मजदूरों के अस्तित्व के पक्ष में संक्षेप में यह तर्क दिया जा सकता है, हम जानते हैं कि उन्नीसवीं सदी के आरंभ में भारत में ऐसे मजदूर भरे पड़े थे, जो या तो कृषि दासों की स्थिति में थे या उससे निकल चुके थे। कृषि दास-वर्ग तो अकबर के काल में भी रहा होगा या बाद के काल में उसका अस्तित्व कायम हुआ होगा। दूसरा अनुमान बहुत असंभावित प्रतीत होता है, क्योंकि ऐसी कोई सामाजिक क्रांति हुई होती तो समकालीन इतिहास पर अपने कुछ निशान अवश्य छोड़ जाती, और जब तक इसकी सचाई को सिद्ध करने वाले तथ्य सामने नहीं आते, तब तक हमें यही मानना पड़ेगा कि कृषि दासत्व की प्रथा बहुत पुरानी है और उसका आरंभ अकबर काल से भी बहुत पहले हो चुका होगा। यह मान्यता विश्व के और विशेषतः भारत के इतिहास के हमारे ज्ञान पर आधारित है। यह मान्यता अपने आप में संभव प्रतीत होती है और हमारे पास इससे भिन्न किसी अनुमान के कोई कारण नहीं है।

जिस तथ्य पर यह दलील आधारित है उसके प्रमाण मुख्यतः 'रिपोर्ट आन स्लेवरी' में मिलते हैं, जिसका उल्लेख हम पिछले अध्याय में कर चुके हैं। उस रिपोर्ट में दरअसल स्थिति की पूरी तस्वीर नहीं दी गई है। रिपोर्ट तैयार करने वाले आयोग

के सदस्यों ने मुख्यत: न्यायाधिकारियों से प्राप्त जानकारी को आधार बनाया और कुछ ही क्षेत्रों के संबंध में उन्होंने उन लोगों के कथनों को उद्धृत किया जिन्होंने स्वय इस समस्या का अध्ययन किया था। उनकी जांच का दायरा संपूर्ण ब्रिटिश भारत नहीं था, और जिन क्षेत्रों में उन्होंने जांच की उनके बीच स्पष्ट अंतराल है। आयोग के सदस्य जांच के दौरान नियमित दासत्व और कृषि दासत्व में अतर करके चले और उनकी जांचों का जो परिणाम आया वह यह है कि उन्होंने जिस क्षेत्र को भी देखा उसमें कृषि-दासत्व या उसके चिह्न सर्वत्र दृष्टिगोचर हुए। उदाहरण के लिए, बंगाल संबंधी रिपोर्ट में बताया गया कि कृषि दास आमतौर पर जमीन के साथ बेच दिये जाते थे। ध्यान देने की बात है कि सर विलियम मैकनैटन ने बताया है कि वास्तविक पैतृक संपत्ति संबंधी कानूनों के अधीन वंशानुगत कृषिदास भी आते थे। सर एडवर्ड कोलब्रुक ने कहा कि वंशानुगत कृषिदासों पर भूमिपतियों के दावे बिहार में लगभग समाप्त हो चुके हैं। सदस्यों को 'पश्चिमी क्षेत्रों में' (अर्थात संयुक्त प्रांत के कुछ हिस्सों में) 'इस प्रथा के अस्तित्व का कोई प्रमाण नहीं मिला, लेकिन उनका ख्याल था कि इन क्षेत्रों के ब्रिटिश शासन के अधीन लाए जाने के समय तक इनमें इस तरह की कोई प्रथा प्रचलित रही होगी। नवाब के शासन में किसी भी जायदाद की देखभाल और उससे संबंधित काम काज के लिए उस पर रखे गये लोग बहुत हद तक उस जायदाद से बंधे मजदूर माने जाते थे।' आजमगढ़ जिले में निम्न जातियों के ग्रामवासियों को अब भी भूमिपतियों की तरह तरह की व्यक्तिगत सेवा करनी पड़ती है।' पूर्ववर्ती शासकों के अधीन '' वे कृषि दासों की स्थिति में थे। अब कोई चमार भी अपने जमींदार पर अदालत में मुकदमा चला सकता है, और अंग्रेजों की 'सम्पूर्ण व्यवस्था में जमींदारों को जितनी परेशानी और चिढ़ इस बात से होती थी उतनी और किसी बात से नहीं।' कुमाऊं में कहीं भी स्वतंत्र मजदूर नहीं मिलते थे, लेकिन 'हलवाहों की स्थिति' घरेलू काम-काज करने वाले गुलामों से भिन्न थी। असम में गुलाम मजदूर बहुत ज्यादा थे, लेकिन खेती का काम बेगार में नहीं लिया जाता था। इतना तो उत्तरी भारत के विषय में कहा जा सकता है। मद्रास के संबंध में राजस्व मंडल (बोर्ड आफ रेवेन्यू) ने अपनी रिपोर्ट में बताया कि 'पूरे तमिल प्रदेश और मलाबार तथा कन्नड़ में भी अधिकांश श्रमिक अनादि काल से गुलाम रहे हैं और आज भी वे इसी अवस्था में हैं।' मंडल को मद्रास प्रांत के उत्तर में कृषि दासत्व देखने को नहीं मिला, लेकिन आयोग के सदस्यों के पास उसके अस्तित्व में विश्वास करने के कारण थे। कुर्ग में भी कृषि दासत्व अनादि काल से विद्यमान था। बंबई के संबंध में बहुत कम और असंतोषजनक साक्ष्य एकत्र किये गये, लेकिन उनसे सूरत तथा दक्षिणी मराठा देश में कृषिदासत्व के अस्तित्व का संकेत मिलता था।

मेरे विचार से इन तथ्यों से सिद्ध हो जाता है कि ब्रिटिश शासन की स्थापना के पूर्व तक और इसलिए अकबर के काल में ग्रामीण आबादी में आमतौर पर गुलाम मजदूरों का भी एक वर्ग हुआ करता था। इसकी पुष्टि जिन्सों में मजदूरी देने की प्रथा के चलन से भी होती है। पिछली सदी में इसका चलन बहुत अधिक था और वह आज भी समाप्त नहीं हुई है। इस से युक्तिपूर्वक यह दिखा सकते हैं कि इस प्रथा का विकास उस समय की स्थिति से हुई है जब किसानों को अपने कृषिदासों को सिर्फ खाना कपड़ा देना पड़ता था। इसका और कोई स्पष्टीकरण संभव प्रतीत नहीं होता।

वर्तमान सामाजिक संबंध भी इसी दिशा की ओर संकेत करते हैं, और मैं समझता हूं कि हमारा ऐसा मानना गलत न होगा कि अकबर काल में गांवों में बहुत कुछ आज की ही तरह खुद खेती करने वाले किसान, कारीगर मजदूर और घरेलू नौकर रहते थे, और स्थिति आज से भिन्न केवल इस मायने में थी कि मजदूरों और घरेलू चाकरों को अपने मालिक का चुनाव करने की स्वतंत्रता नहीं थी, बल्कि वे उन किसानों के लिए काम करने को मजबूर थे जिन्हें गांव की रीति परंपरा के अनुसार वे सौंप दिये गये थे। ऊपर हमने जिन वर्गों का उल्लेख किया है उनमें से प्रत्येक का ग्रामीण आबादी में क्या अनुपात था, यह हम निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते। संभव है कि किसान कम और मजदूर ज्यादा रहे हों, लेकिन यह भी उतना ही संभव है कि आज की तुलना में किसानों की संख्या अपेक्षाकृत अधिक रही हो, जो भी हो हमारा यह निष्कर्ष अनुचित नहीं होगा कि किसानों और मजदूरों को साथ मिलाकर देखें तो काम के अनुपात में काम करने वालों की संख्या में बीच की तीन सदियों में कोई विशेष अंतर नहीं आया है।

अब हम जरा यह देखने की कोशिश करें कि ग्रामीण आबादी को अपनी पैदावार के रूप में क्या आमदनी होती थी। यह प्रश्न किसानों और मजदूरों के बीच पैदावार के ठीक वितरण के सवाल से बहुत-कुछ स्वतंत्र है। हमने कुछ तथ्यों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला है कि कृषि की प्रवृत्ति में मनुष्य की भूमिका में बहुत कम परिवर्तन आया है। कुल मिलाकर वह एक से तरीकों से एक-सी फसलें पैदा करता रहा है और इस प्रक्रिया में शायद वह श्रम का विनियोग भी प्रायः समान मात्रा में करता रहा। गरज यह कि अगर ग्रामीण आबादी की प्रतिव्यक्ति औसत आय में कोई खास वृद्धि हुई है तो उसका कारण जमीन की उत्पादन-शक्ति में ढूंढा जाना चाहिए। पिछली तीन सदियों में जमीन के उपजाऊपन में कोई खास फर्क आया है या नहीं, यह ऐसा सवाल है जिस पर सामान्यतः लोग तुरंत अपनी राय जाहिर करने को तैयार हो जाते हैं, लेकिन बहुत-से अन्य प्रश्नों की ही तरह इस प्रश्न पर भी आम राय का आधार यथार्थ चिंतन नहीं है और कुछ बातो को स्पष्ट कर देने के बाद ही हम इस प्रचलित मत को स्वीकार कर सकते हैं कि जमीन के उपजाऊपन में कमी आई है। अगर एक लंबी अवधि को आधार मानकर अनुमान लगाया जाए तो किसी जमीन की औसत उपज पर तीन बातों का प्रभाव पाया जायेगा (1) पूरी अवधि में कृषि अधीन भूमि उपजाऊपन में होने वाला परिवर्तन (2) विभिन्न समयों में कृषि अधीन भूमि की किस्मों में होने वाला परिवर्तन और (3) फसलों तथा खेती के तरीकों में होने वाले परिवर्तन। अन्य देशों की तरह भारत के किसान भी किसी हमदर्द आदमी से हमेशा यही कहते पाए जायेंगे कि उनकी जमीन का उपजाऊपन बहुत कम हो गया है। लेकिन ऐसी बातें वास्तविक स्थिति का प्रमाण नहीं होती, बल्कि ये कहने वालों के मनोवैज्ञानिक रवैये का परिणाम होती हैं, और जब तक लोगों में अतीत को स्वर्ण युग करार देने की प्रवृत्ति रहेगी तब तक वे ऐसी बातें करते ही रहेंगे। लेकिन कृषि उत्पादन के दौर के बारे में हमारा जो ज्ञान है उसमें उन्हें अपनी बात को सच दिखाने का एक झूठा आधार भी मिल सकता है। जब किसी नई जमीन में खेती शुरू की जाती है तो आरंभिक वर्षों में असामान्य रूप से अधिक पैदावार होती है, और उसके बाद उसमें गिरावट आने लगती है और अंत में वह ऐसे स्तर तक पहुंच जाती है जिस पर लग-

भग वरावर कायम रहती है, वशर्तें खेती के तौर तरीकों में कोई फ़र्क न आने पाए। अपनी जमींन के वारे में जिस किसान की धारणा उस वहुत पुरानी स्थिति पर आधारित है जब उसने कुआंरी मिट्टी पर खेती शुरू की थी तो उसका यह कहना सच ही होगा कि उसकी जमीन का उपजाऊपन कम हो गया है, क्योंकि यह तो निश्चित ही है कि किसी न किसी समय भारत की सारी जमीन इसी अवस्था में रही होगी और हम यह स्वीकार कर सकते हैं कि अकवर के शासन-काल के उतरार्ध के वर्षों में जितनी नई जमीन में खेती आरंभ की गई उसकी पैदावार आज की अपेक्षा उन दिनों अधिक रही होगी, वशर्तें कि उस सारी जमीन में बीच के काल में वरावर खेती होती रही हो।' दूसरी ओर इस वात की भी पूरी संभावना है कि उस काल में जो जमीन काफी पहले से जोती वोई जा रही थी, वह समान परिस्थितियों में तव से लेकर आज तक लगभग समान पैदावार देती रही हो, और यह सिद्ध करने के लिए स्पष्ट और ठोस प्रमाण की जरूरत है कि जिस जमीन में काफ़ी पहले खेती शुरु की जा चुकी थी, उसमें से अधिकांश की पैदावार में गिरावट आई है। लेकिन ऐसा कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। इसलिए हमारा यह मानना अनुचित न होगा कि जब जमीन कुआंरी नहीं रह गई, उसके वाद उसके उपजाऊपन में जो कमी आई उसके अलावा सामान्यतया उसकी उत्पादन शक्ति का कोई उल्लेखनीय ह्रास नही हुआ।[2]

आमदनी को प्रभावित करने वाली दूसरी वात के संवंध में स्थिति मूलतः भिन्न है। अकवर के काल से लेकर अव तक भारत के वहुत वड़े भाग में, निःसंदेह, कृषि क्षेत्र का विस्तार हुआ है, और नये-पुराने दोनों प्रकार के कृषि क्षेत्रों को साथ मिला कर देखें तो कृषि क्षेत्र के विस्तार का मतलव आमतौर पर औसत उपज में कमी होता है। कारण स्पष्ट है। सव से अच्छी जमीन साधारणतया सव से पहले आवाद की जाती है और लोग घटिया जमीन में खेती तभी करते है जव अच्छी जमीन उनकी जरूरतों के लिए काफी नहीं पड़ती इसलिए हम यह मान सकते है कि इस कारण से औसत उपज में कमी आई होगी, और इस वात को स्वीकार करने के वाद हम इस कारण के महत्व का एक मोटा अंदाजा पाने की कोशिश कर सकते है। इसके प्रभाव का अनुमान लगाने के लिए भू-राजस्व के निर्धारण के लिए अकवर द्वारा अपनाई गई पद्धति का सहारा लिया जा सकता है। इस पद्धति के अंतर्गत यह मान लिया गया था, 'कि अच्छी, 'साधारण' और 'घटिया' इन तीन किस्मों की जमीन है और तीनों किस्मों के लगभग वरावर क्षेत्र है। अगर हम यह मान लें कि अच्छी किस्म की एक वीघा जमीन में कोई खास फसल 12 मन, साधारण किस्म की जमीन में 9 मन और घटिया किस्म की जमीन में 6 मन पैदा होगी और यह भी मान लें कि हर किस्म की जमीन का क्षेत्रफल वरावर है तो औसत पैदावार 9 मन होगी। अगर कृषि क्षेत्र का 20 प्रतिशत विस्तार सिर्फ घटिया जमीन में ही किया जाता है तो औसत घटकर 85 मन पर आ जायेगा और यदि 33 प्रतिशत विस्तार किया जाता है तो वह घट कर 8.25 मन हो जायेगा और यदि 50 प्रतिशत विस्तार किया जाता है तो वह सिर्फ 8 मन रह जायेगा। पहले अध्याय में हम देख चुके है कि आगरा और लाहौर के वीच के इलाके में कृषि क्षेत्र का साधारण सा विस्तार हुआ होगा ऐसी संभावना है, और यदि यह संभावना सही है तथा यह भी मान लिया जाए, यद्यपि यह मानना निरापद नही होगा—कि जितनी भी नई जमीन में खेती आरंभ की गई

सब घटिया किस्म की ही थी, तो औसत उपज में शायद 10 प्रतिशत कमी आई होगी। लेकिन जहां कृषि क्षेत्र का विस्तार बहुत अधिक हुआ है, जैसे बिहार और संयुक्त प्रांत के पूर्वी इलाकों में–वहां यह मान्यता लागू नहीं हो सकती, क्योंकि परती जमीन के बहुत बड़े-बड़े क्षेत्रों को आबाद करने में तो सभी किस्मों की जमीन की प्राप्ति की संभावना रहेगी और फलत: औसत उपज में आने वाला आनुपातिक ह्रास काफ़ी कम हो जायेगा। यहां जो आंकड़े दिये गये हैं वे सिर्फ उदाहरण के लिए हैं, लेकिन अगर पाठक कृषि संबंधी संभावनाओं के अनुरूप इन आंकड़ों में कमी और वृद्धि करने का कष्ट उठाएं और इस तरह प्राप्त परिणाम के आधार पर सामान्य निष्कर्ष निकाल लें तो वे पाएंगे कि कृषि क्षेत्र विस्तार के प्रतिशत की तुलना में औसत उपज की कमी प्रतिशत बहुत कम है। दूसरे शब्दों में, अपेक्षाकृत घटिया जमीन को कृषि क्षेत्र में लाने का जो परिणाम हो सकता है उसके अतिरंजित रूप में पेश किए जाने की बहुत अधिक गुंजाइश है। इसमें संदेह नहीं कि कृषि क्षेत्र के विस्तार से औसत कमी आती है, लेकिन आमतौर पर उतनी नहीं जितनी कि सतही तौर पर देखने वाले लोग मानना चाहेंगे।

लेकिन तीसरी बात अर्थात फसलों और खेती के तरीकों में होने वाले परिवर्तन का प्रभाव बहुत अधिक हो सकता है। हम एक ही उदाहरण लेकर देखें। मान लीजिए कृषि क्षेत्र में 50 प्रतिशत का विस्तार होता है, लेकिन साथ ही कुल क्षेत्र के एक तिहाई भाग की सिचाई करने योग्य एक नहर प्रणाली भी तैयार कर दी जाती है और मान लीजिए इस कुल क्षेत्र की सिंचाई की पहले कोई व्यवस्था नहीं थी। जैसा कि हम देख चुके हैं, कृषि क्षेत्र के विस्तार के फलस्वरूप तो औसत उपज 9 मन प्रति बीघे से घटकर 8 मन हो जायेगी, लेकिन अतिरिक्त जल-संभरण इस कमी को पूरा ही नहीं करेगा, बल्कि उपज को और भी बढ़ायेगा। इस हालत में औसत बढ़कर 9½ मन तक भी पहुँच जा सकता है। इतना ही नही, नहर के कारण पहले से अच्छी खेती भी होने लग सकती है और फलत: कृषि क्षेत्र के विस्तार के बावजूद औसत में अच्छी खासी वृद्धि हो सकती है। यह उदाहरण देने में मेरा उद्देश्य इस तथ्य को उजागर करना है कि विचाराधीन काल में जमीन का औसत उपज को प्रभावित करने वाली दो परस्पर विरोधी प्रवृत्तियां काम करती रहीं हैं। एक ओर तो कृषि क्षेत्र के विस्तार के फलस्वरूप बड़े क्षेत्रों की औसत उपज में अपेक्षाकृत मामूली सी कमी आई है और दूसरी ओर खेती के तरीकों में होने वाले सुधारों और, सिचाई की व्यवस्था के परिणाम स्वरूप उन क्षेत्रों की उपज का औसत काफी बढ़ा है जिनमें ये सुधार लागू किए गए हैं और सिंचाई का इंतजाम किया गया है। पूरे भारत के लिए बिना किसी तैयारी के कोई अनुमान पेश करते हुए इस तरह का दावा करना बेकार होगा कि औसत उपज बढ़ी है या कम हुई है, लेकिन वह कहना निरापद होगा कि देश के विभिन्न भागों में इन परस्पर विरोधी प्रवृतियों के परिणाम अलग-अलग हुए हैं, और अगले अनुच्छेद में मैं विषय को कुछ और विस्तार दूंगा न कि जिन भागों के संबंध में आवश्यक तथ्य उपलब्ध हैं उनमें कृषि उद्योग की अवस्था की हमें कुछ अधिक निश्चित रूपरेखा ज्ञात हो सके।

कृषि के स्थानीय पहलू

अब हम भारत के कुछ भागों में कृषि की स्थिति की रूपरेखा प्रस्तुत करने

का प्रयत्न करेगें। इस प्रयत्न में आईन-ए-अकवरी में दिये 'वारह सूवों का विवरण' में अपनाये गये क्रम का अनुसरण करना अधिक सुविधाजनक रहेगा। यह सही है कि इन वारह सूवों में सारा भारत नही आ जाता और स्वयं विवरण में अनेक महत्वपूर्ण वातों का उल्लेख नहीं है तथा इसमें अनेक कमियां है। फिर भी इस विपय के क्रमवद्ध सर्वेक्षण की दृष्टि से हमारे लिए जितना अधिक सहायक यह विवरण हो सकता है उतना और कुछ नही। इसमे सवसे पहले उड़ीसा-सहित वंगाल सूवे को लिया गया है. इसके संवंध में अवुल फजल सिर्फ इतना वताता है कि यहां की प्रमुख फसल चावल था और पैदावार वरावर पुष्कल परिमाण में होती थी। इस तरह यह सूचना तो आज को स्थिति से पूरा पूरा मेल खाती है। अन्य स्रोतों से ज्ञात होता है कि गन्ना यहाँ की मुख्य और कीमती फसल थी। यह वात आज भी उतनी ही सच है जितनी तव थी। लेकिन इन तथ्यों के अतिरिक्त हमें और कोई ठोस जानकारी उपलब्ध नहीं है। कृषि क्षेत्र का कोई आंकड़ा उपलब्ध न होने से जनसंख्या का हमारा ज्ञान भी इतना अस्पष्ट है कि उससे कोई मदद नहीं मिल सकती। फिर भी, हम निश्चयपूर्वक इतना मान सकते है कि मक्का और तम्वाकू की जो स्थिति यहां आज है वह अकवर के वाद से होने वाले विकास क्रम का ही परिणाम है लेकिन पटसन की खेती का विस्तार तथा फसल के महत्व की वृद्धि, ये दोनों चीजें इतनी हाल की है कि इनसे संवंधित तथ्यों का पता आसानी से लगाया जा सकता है। जहां तक मुझे मालूम है, किसी भी समकालीन लेखक ने इस रेशे का उल्लेख नहीं किया है लेकिन अकवर काल में शायद यह पैदा किया जाता था, क्योंकि अवुल फजल के अनुसार आधुनिक रंगपुर जिले में एक प्रकार का टाट तैयार किया जाता था। इस टाट का उपयोग कपड़ा वनाने के लिए किया जाता था, यह निष्कर्ष इस तथ्य से निकाला जा मकता है कि उन्नीसवी सदी के आरंभिक वर्षों तक गरीवों का सामान्य परिधान टाट ही था। स्थानीय खपत के लिए पैदा किये जाने वाले इस घटिया दर्जे के रेशे ने किस प्रकार विश्व व्यापार की एक प्रमुख वस्तु का रूप ले लिया, यह इस सूवे के कृपि इतिहास का एक असाधारण तथ्य है, और इसमें किसी प्रकार के संदेह की गुंजाइश नहीं है कि इस परिवर्तन के फलस्वरूप गांवों के प्रति-व्यक्ति औसत उत्पादन में काफी वृद्धि हुई।

विहार की स्थिति में अधिक तीव्र परिवर्तन दिखाई देता है। आईन-ए-अकवरी में दिए गए आंकड़ों के अनुसार आवाद क्षेत्र आज की अपेक्षा वहुत कम, शायद प्रांत के कुल क्षेत्र के पांचवे हिस्से से अधिक नहीं था और ऐसा मानने के पुष्ट आधार है कि जो फसलें पैदा की जाती थीं वे आज की फसलों से ज्यादा कीमती थी। यह सच है कि नील की खेती वहुत कम होती थी और आलू तंवाकू तथा मक्का शायद पैदा नही किए जाते थे लेकिन पोस्ते की विस्तृत खेती होती थी और ऐसा जान पड़ता है कि चावल के अलावा गेहूं, गन्ना और कपास खूव पैदा की जाती थी, फिच का कहना है कि पटना से कपास और उससे भी अधिक शक्कर तथा वहुत वड़ी मात्रा में पोस्ते का निर्यात होता था। 'आईन' में गन्ने की वहुतायत और उसकी वहुत ऊंची किस्मों का उल्लेख है और यद्यपि गेहूं के वारे में उसमें कुछ नहीं कहा गया है, फिर भी मैं मानता हूं कि मुगलों की राजधानी में गेहूं अधिकाशतः देश के इसी हिस्से से आता था। इस वात को किंचित स्पष्ट करने की आवश्यकता है। जहां

तक मुझे मालूम है, बंगाल का भ्रमण करने वाले किसी भी यात्री ने वहां गेहूं की इतनी पैदावर नहीं देखी कि स्थानीय आवश्यकता की पूर्ति के बाद कुछ गेहूं बच जाता रहा हो, लेकिन भारत के अन्य भागों की यात्रा करने वालों ने लिखा है कि यहां बंगाल से गेहूं आता था। मुगल दरबार के बारे में लिखते हुए टामस रो कहता है कि इस देश को गेहूं और चावल की जरूरत "बंगाल" पूरा करता है। लगभग उन्हीं दिनों सूरत के गुमाश्तों ने लिखा, 'हम इस बात से इनकार नही कर सकते कि भारत को गेहूं, चावल और शक्कर बंगाल से मिलता है।' कहने की जरूरत नहीं कि यहां भारत शब्द का प्रयोग पश्चिमी तट के सीमित अर्थ में हुआ है। यह तो संभव है कि इन दिनों बंगाल निर्यात के लिए थोड़ा बहुत गेहूं पैदा करता रहा हो, लेकिन मुझे इस बात की अधिक संभावना नजर आती है कि उपर्युक्त जिन क्षेत्रों में गेहूं के आयात का उल्लेख है वहां बिहार से गेहूं भेजा जा सकता था और यह अन्न नदी मार्ग से पश्चिम में आगरा और पूर्व में बंगाल के बंदरगाहों तक पहुंचाया जाता था। सूरत के गुमाश्तों ने स्वभावतः गेहूं की आपूर्ति के बारे में उसके उत्पादन क्षेत्र के बजाय उस स्थान के संबंध में सुना होगा जहां से उसका समुद्री परिवहन आरंभ होता था, और रो के संबंध में हमें सिर्फ यह मानना चाहिए कि किसी ने उसे मोटे तौर पर बताया होगा कि खाने की ऐसी चीजें बंगाल की ओर से आती हैं। इस बात में संदेह की गुंजाइश नहीं है कि बिहार में पैदा की जाने वाली फसलों का औसत मूल्य यदि आज से अधिक नहीं तो कम नहीं था और प्रति एकड़ औसत उपज आज से काफी ज्यादा थी, क्योंकि बहुत कम क्षेत्र में खेती होने के कारण जमीन का स्तर अवश्य ही औसतन ऊंचा रहा होगा। इसलिए संभावना यही है कि बिहार में प्रति व्यक्ति पैदावार का औसत आज की अपेक्षा ऊंचा रहा होगा, यद्यपि कुल पैदावार आज के मुकाबले बहुत ही कम रही होगी।

इलाहाबाद सूबे में मोटे तौर पर संयुक्त प्रांत के पूर्वी जिले शामिल थे, जो आज घनी आबादी के नमूने हैं। अकबर के समय में यह क्षेत्र निश्चय ही इतना घना आबाद नहीं था। कृषि उत्पाद सिर्फ आज के पांचवे हिस्से और इस संबंध में परिस्थितियां लगभग वैसी ही थी जैसी कि बिहार की, यद्यपि वहां से प्राप्त होने वाले राजस्व के आंकड़े देखें तो मानना होगा कि वहां की खेती बिहार की अपेक्षा कम लाभप्रद थी। 'आईन' से ज्ञात होता है कि कृषि समृद्धि की अवस्था में थी, लेकिन उसमें वहां की खेती की किसी खास विशेषता का संकेत नहीं दिया गया है—सिवाय इसके कि तब वहां ज्वार और बाजरा नहीं पैदा किए जाते थे; वैसे तो इस इलाके में आज भी इनकी खेती कम ही होती है। समृद्धि के ऐसे सामान्य उल्लेखों को हम अधिक महत्व नहीं दे सकते, और मुझे किसी अन्य समकालीन प्रमाण-स्रोत में इस विषय का कोई जिक्र नहीं मिलता। लेकिन यह तो निश्चित है कि इस हिस्से में घटिया मिट्टी वाले जो विस्तृत क्षेत्र हैं उनमें अकबर काल में खेती नहीं होती थी। इन घटिया मिट्टी वाले क्षेत्रों की उपज बहुत कम है और उनमें खेती न किए जाने के फलस्वरूप पैदावार का औसत काफी अधिक पड़ता होगा। गरज यह कि बिहार की तरह यहां की भी औसत पैदावार आज से अधिक रही होगी।

अवध सूबे के बारे में 'आईन' में बहुत कम बताया गया है। इसके संबंध में भी अबुल फजल का कथन है कि खेती समृद्धि की अवस्था में थी, लेकिन उसने सिर्फ

उत्तरी जिलों में पाए जाने वाले अच्छी किस्म के चावल का ही उल्लेख किया है। आज कुएं से सिंचाई इस सूबे के दक्षिणी हिस्से की एक उल्लेखनीय विशेषता है, लेकिन अबुल फजल के विवरण में उसका कोई जिक्र नहीं है और राजस्व के आंकड़ों से पता चलता है कि गेहूं—जैसी रबी की फसलों की अपेक्षा चावल और मोटे अनाज की फसलों का महत्व बहुत अधिक था। इन अत्यंत क्षीण तथ्यों से कोई निश्चित निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता, लेकिन मुझे ऐसा मानना ज्यादा उचित जान पड़ता है कि इस सूबे के जिन हिस्सों में खेती बहुत पहले आरंभ हो चुकी होगी उनकी औसत पैदावार शायद आज से भी कम रही होगी।

आगरा सूबे की सारी जमीन एक-सी नहीं थी, क्योंकि उसमें गंगा के मैदान का कुछ भाग और आधुनिक राजपूताना प्रांत का भी कुछ हिस्सा शामिल था। इसलिए राजपूताना वाले हिस्से को छोड़कर सिर्फ उत्तरी भाग और उससे लगे दिल्ली सूबे दोनों को साथ मिलाकर विचार करना हमारे प्रयोजन के लिए अधिक सुविधाजनक रहेगा। इन क्षेत्रों में जो परिवर्तन हुए हैं उन्हें कृषि क्रांति कहना बहुत अनुचित नहीं होगा। जैसा कि हम देख चुके हैं, अकबर काल में आज की तुलना में लगभग तीन चौथाई जमीन में खेती होती थी, लेकिन लगता है फसलों की किस्में घटिया थीं। अबुल फजल या अन्य लेखकों में से किसी ने भी किसी विशेष उल्लेखनीय फसल के बारे में कुछ नहीं बताया है, और यह देखते हुए कि गेहूं तथा शक्कर का आयात पूर्वी सूबों से किया जाता था, मानना पड़ेगा कि आज जो चीजें यहां के मुख्य निर्यात उत्पाद हैं उनके संबंध में भी तब यह क्षेत्र आत्मनिर्भर नहीं था। इस परिवर्तन का श्रेय मुख्यत: नहर निर्माण को दिया जाना चाहिए। नहरों के कारण ही वह सब संभव हुआ है, जिन पर आज यह क्षेत्र निर्भर है। ऐसा लगता है कि पहले मोटे अनाज, दालें और तिलहन यहां की मुख्य पैदावार थे, लेकिन नहरों के फलस्वरूप आज इस क्षेत्र के उपजाऊपन का कुछ अंदाजा इस तथ्य से लगाया जा सकता है कि यहां अकबर की राजस्व की मांग प्रति बीघा 20 से 30 दाम तक थी,[14] जबकि इलाहाबाद में औसत राजस्व 50 दाम से ऊपर और बिहार में शायद 60 दाम से भी अधिक था। स्मरण रहे कि ये दरें कर-निर्धारण करने वाले अधिकारियों द्वारा कूती गई उपज के मूल्य के अनुपात में थीं, और इस तरह उन्होंने यह माना कि जौनपुर या बनारस के आसपास की एक बीघे जमीन की उपज आगरा और सहारनपुर के बीच की दो बीघे जमीन के बराबर है। जहां तक इस क्षेत्र का संबंध है, इस बात में संदेह की कोई गुंजाइश नहीं है कि अकबर के काल से लेकर आज तक औसत पैदावार में बहुत अधिक वृद्धि हुई है, और यही निष्कर्ष पास के लाहौर सूबे पर भी लागू होगा, हालांकि शायद उस हद तक नहीं।[15]

यहां तक तो अकबर के काल में कृषि की स्थिति का एक मोटा अंदाजा पा सकना संभव है, लेकिन जब हम विस्तृत मैदानी क्षेत्रों से दक्षिण की ओर बढ़ते हैं तो हमारी जानकारी के स्रोतों में कमी आने लगती है। अजमेर के बारे में हम सिर्फ इतना कह सकते हैं कि खेती बहुत पिछड़ी हुई अवस्था में थी और रबी की फसलें शायद ही उगाई जाती थीं; वैसे इस इलाके में संभव है पैदावार के औसत में कोई विशेष अंतर न आया हो। शायद मालवा में भी बहुत कम बदलाव आया क्योंकि यहां की कृषि प्रणाली की पुरातनता कोई भी देख सकता है, और इसके संबंध में अबुल फजल ने जो

चंद बातें कही हैं, वे आज की स्थिति पर भी काफी हद तक लागू होती हैं। बरार सूबा पिछली दो सदियों के दौरान विस्तृत कपास-उत्पादक क्षेत्र बन गया है, लेकिन मुझे ऐसे तथ्य प्राप्त नहीं हुए हैं, जिनके आधार पर अकबर काल में सूबे की औसत पैदावार के बारे में कोई अनुमान लगाया जा सके। दूसरी ओर गुजरात में बहुत अच्छी खेती होती थी, लेकिन इसके संबंध में भी तुलनात्मक अध्ययन के लिए तथ्य उपलब्ध नहीं हैं। विजयनगर और दकन के संबंध में तो कठिनाई और भी बढ़ जाती है। इनके संबंध में जानकारी प्राप्त करने के लिए 'आईन-ए-अकबरी' जैसा कोई साधन सुलभ नहीं है और हम मोटे तौर पर केवल इतना कह सकते हैं कि इनकी मुख्य फसलें तब भी वही थीं जो आज हैं। उदाहरण के लिए, थेवनो ने लिखा है कि दकन में चावल और कपास लगभग सभी जगह पैदा होते थे, और कुछ स्थानों में गन्ने की खेती होती थी। पुर्तगाली विवरणों के अनुसार, विजयनगर के ऊपरी क्षेत्रों में चावल, कपास और ज्वार की पैदावार होती थी तथा कुछ दूसरे अनाज और दालों की भी खेती होती थी, किंतु इनके नामों से लेखकों का परिचय नहीं था। इन विवरणों में तटीय क्षेत्रों में कोको, खजूर और मलाबार में गोल मिर्च का उल्लेख अकसर देखने को मिलता है। इस विशाल क्षेत्र के विषय में हम सिर्फ इतना ही जानते हैं कि खेती के तरीकों और पैदावार में (सिवाय इसके कि मूंगफली जैसी कुछ नई फसलें शामिल कर ली गई हैं) कोई खास फर्क नहीं हुआ है और कहना मुश्किल है कि औसत उपज कम हुई है या बढ़ी है, लेकिन उत्तरी भारत की स्थिति के संबंध में हमें जिस तरह के अंतर देखने को मिले है उनसे इतना तो समझ ही लेना चाहिए कि सभी जगहों में औसत उपज की वृद्धि हुई है या कमी इसके बारे में स्पष्ट रूप से कुछ कहना ठीक नहीं है। उत्तरी भारत के संबंध में हमने देखा कि परस्पर-विरोधी शक्तियों की क्रियाशीलता का परिणाम अलग-अलग क्षेत्रों में अलग-अलग रहा है। बंगाल शायद पहले से अधिक पैदा करता है, और उत्तरी भारत तो अधिक पैदा करता ही है, लेकिन बीच के क्षेत्रों में से यदि सभी नहीं तो अधिकांश की औसत पैदावार में गिरावट आई है इसी तरह अलग-अलग गांवों तथा परगनों की स्थिति में आए परिवर्तन शायद अलग-अलग रहे हैं। अब यह निष्कर्ष निकालना शायद अनुचित नहीं होगा कि दक्षिण में भी कुछ इसी तरह की बातें हुई हैं, और इसके कुछ हिस्से जहां पहले से अधिक समृद्ध हैं वहीं कुछ दूसरे हिस्से तब की तुलना में विपन्न हुए हैं।

इस अध्ययन के अंतिम परिणाम को सुनिश्चित रूप में या गणितीय यथार्थता के साथ प्रस्तुत करना असंभव है। सोलहवीं सदी के अंत में भारत को अपनी जमीन की पैदावार के रूप में कितनी आय होती थी, हमें मालूम नहीं है, और उसके परिमाण के बारे में निश्चयपूर्वक कुछ कहना गलत होगा, लेकिन उपलब्ध तथ्य इतना संकेत देने के लिए पर्याप्त प्रतीत होते है कि देश को कुल मिलाकर देखें तो प्रति व्यक्ति औसत आय आज से बहुत भिन्न नहीं रही होगी। खेती की मुख्य बातों में कोई विशेष परिवर्तन नहीं आया है और उत्पादन के परिमाण को प्रभावित करने वाली प्रवृत्तियां परस्पर विरोधी दिशाओं में काम करती रहीं। एक ओर निस्संदेह जनसंख्या में भारी वृद्धि हुई है, जिसके फलस्वरूप घटिया किस्म की जमीन में भी खेती शुरू करनी पड़ी है और जिसका नतीजा यह हुआ है कि प्रति व्यक्ति औसत पैदावार में कमी आई है, लेकिन दूसरी ओर नई और अधिक लाभकर फसलें दाखिल की गई हैं, सिंचाई की सुविधाएं

वढ़ी हैं और छोटे-छोटे अनेक अनुकूल परिवर्तन आए हैं। इन सब के परिणामस्वरूप देश के वहुत वड़े हिस्से में औसत आय में, उपर्युक्त कमी को पूरा करने के लिए जितना जरूरी था, उससे अधिक वृद्धि हुई है। हम कोई निष्कर्ष नहीं निकाल सकते, लेकिन यह तो स्पष्ट ही है कि कोई वहुत अधिक परिवर्तन नहीं हुआ है। भारत के ग्रामीण लोगों की पैदावार संवंधी औसत आय में पहले की अपेक्षा कुल मिलाकर कुछ वृद्धि हुई है या कमी आई है, इस प्रश्न पर इस विषय के अध्येता मुझ से कुछ भिन्न राय कायम करें तो वह अनुचित नहीं होगा, लेकिन उपलव्ध तथ्यों से यही संकेत मिलता है कि कुल मिलाकर स्थिति में कोई खास परिवर्तन नहीं आया है। एक खास संख्या में किसान और मजदूर मिलकर आज भी लगभग उतना ही पैदा करते हैं जितना अकवर के काल में करते थे, और यदि उस समय भी उत्पादक अपने सारे उत्पाद का उपभोग स्वयं कर लेते थे तो निष्कर्ष यह निकलता है कि उनकी आर्थिक अवस्था में कोई वहुत वड़ा परिवर्तन नहीं आया है। लेकिन अव यहां हमें परिवेश पर विचार करके यह पता लगाना चाहिए कि अन्य पक्षों द्वारा अपना हिस्सा ले लिए जाने के वाद कुल उत्पाद का कितना अनुपात ग्रामीण आवादी के पास रह जाता था।

कृषि को प्रभावित करने वाला परिवेश

यहां तक तो हमने इस काल की कृषि को अपने आप में एक पूर्ण इकाई मान कर उस पर विचार किया। अव हम अपनी दृष्टि परिधि को किंचित विस्तार देते हुए किसानों तथा समाज के अन्य हिस्सों के आपसी संवंध पर विचार करेंगे और यह पता लगाने की कोशिश करेंगे कि सोलहवीं सदी के शहरी लोग और प्रशासन किस हद तक इस उद्योग की सफलता में सहायक या वाधक थे। सोच-समझ कर प्रत्यक्ष रूप से कृषि की उन्नति के लिए अपनाई गई किसी नीति की तलाश हमें नहीं करनी चाहिए, क्योंकि यह तो अभी हाल में आरंभ की गई है। यह प्रवृत्ति मूलतः आधुनिक है। अकवर के काल में किसानों की समस्याओं का अध्ययन करने वाले वैज्ञानिक नहीं थे, उनकी जरूरतों के मुताविक खेती के औजारों के नमूने वनाने वाले कुशल इंजीनियर नहीं थे, और किसानों के उत्पाद के लिए वाजार की व्यवस्था करने तथा उन्हें पूंजी सुलभ कराते रहने की सुविधाएं दिलाने में प्रवृत्त वित्त-विशेषज्ञ नहीं थे। इस तरह के किसी कार्य की गुंजाइश सिर्फ सिंचाई साधनों के निर्माण क्षेत्र में थी, और इस मामले में मैं यह मानूंगा कि सिद्धांततः तो इस कार्य के लाभों को स्वीकार किया जाता था, किंतु व्यवहार में वहुत कम किया जाता था। अकवर ने अपने सूवेदारों को निर्देश दिया था: 'जलाशय, कुओं, सोतों, वगीचों, सराओं और अन्य सार्वजनिक प्रतिष्ठानों के निर्माण में वे चुस्ती से काम लें।' निस्संदेह, इस निर्देश से उसके प्रशासनिक आदर्श का पता चलता है और अवुल फजल ने गोलमोल ढंग से इतना अवश्य कहा है कि 'वहुत से कुएं और तालाव खुदवाए जा रहे हैं', लेकिन तफसील की वातों के संवंध में उसकी चुप्पी का अर्थ यह लगाया जा सकता है कि इसके लिए कोई विशेष संगठन नहीं था और किसी तरह के विस्तृत निर्देश जारी नहीं किए गए थे। हम देख चुके हैं कि साम्राज्य की प्रशासनिक व्यवस्था ऐसी नहीं थी जिसमें इस तरह के कार्यों में अपनी योग्यता और पहल करने की शक्ति का परिचय देने वाले राज्याधिकारी तैयार

किए जा सकते थे, और यह संभव जान पड़ता है कि छिटपुट तौर पर इस तरह के काम किए जाते थे जहां सरकारी खर्च से कुएं और जलाशय बनवाए गए वे सामान्य किसानों की जरूरतों के बजाय आम तौर पर पहले की ही तरह शहरी लोगों और यात्रियों की सुविधा के लिए थे। मुझे ऐसा कोई तथ्य देखने को नहीं मिला है जिससे प्रकट होता हो कि इस मामले में दकन के राज्यों की अवस्था उत्तर भारत से भिन्न थी। सेवेल का कहना है कि दक्षिण में सोलहवीं सदी के पूर्वार्द्ध में सम्राट कृष्णदेव राय राजधानी के आसपास सिंचाई-व्यवस्था के सुधारने में प्रवृत्त रहा, और संभव है कि केंद्रीय सत्ता के पतन के बाद विजय नगर के कुछ सामंतों ने अपनी-अपनी मिल्कियतों के हित की दृष्टि से ऐसी ही नीति का अनुसरण किया हो। मंगलूर के पास ओलाला नामक स्थान को देखने के बाद डेला वेल ने वहां का जो सजीव वर्णन किया है उसमें उसने बताया है कि रानी एक जलाशय निर्माण की देखरेख में व्यस्त थी। भारत के अन्य भागों में भी अलग-अलग व्यक्तियों द्वारा किए जाने वाले ऐसे प्रयत्नों के उदाहरण मिल सकते थे लेकिन देश की जरूरतों को व्यवस्थित ढंग से पूरा करने के लिए अपनाई गई किसी सुनियोजित नीति का कोई निशान नहीं मिलता, और इसी तरह जो कुएं, जलाशय आदि पहले से मौजूद थे उनकी मरम्मत के लिए किसी व्यवस्था का कोई संकेत नहीं मिलता।

इसके बाद हम कृषि पर वाणिज्य के प्रभाव की चर्चा कर सकते हैं। किसान की पहुंच खुले बाजार तक है या नहीं और वह अपनी चीजों के स्तर के अनुरूप कीमतें पाने का भरोसा रख सकता है या नहीं, कि बाजार पर व्यवहारतः किसी ऐसे व्यक्ति या संगठन की इजारेदारी है या नहीं—जिसका मुख्य ध्येय चीजों को सस्ती से सस्ती दरों पर खरीदना है – इन बातों का कृषि पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है। अकबर के समय में किसान किस हद तक बाजार पर निर्भर था, यह बात तनिक भी स्पष्ट नहीं है। कुछ जगहों में वह जिंसों में राजस्व अदा करता था, और जहां ऐसा होता था वहां बाजार का कोई विशेष महत्व नहीं रह जाता था, क्योंकि—जैसा हम आगे देखेंगे—उसे ज्यादा कुछ खर्च करने की जरूरत ही नहीं रहती थी, किंतु कम से कम मुगल साम्राज्य में राजस्व की नकद अदायगी का आम चलन था[16] यद्यपि ठीक-ठीक किस हद तक था यह संदिग्ध है। नकद अदायगी का मतलब कुछ उत्पादन के कम से कम एक-तिहाई हिस्से के लिए बाजार की तलाश थी। लगता है, देश की आंतरिक व्यापार प्रणाली बहुत कुछ आज के ही ढंग पर संगठित थी, लेकिन दो मुख्य अंतर अवश्य थे। एक तो यह था कि परिवहन बहुत व्यवसाध्य और जोखिम से भरा हुआ था, फलतः व्यापारियों को खरीद और बिक्री की कीमतों के बीच ज्यादा फर्क रखना पड़ता था। दूसरा यह था कि निर्यात-गृहों के लिए खरीदारी करने वाले लोग, जिनकी बदौलत आज किसानों की स्थिति इतनी अधिक सुधर गई है, उन दिनों की व्यापारिक दुनिया में अपना अस्तित्व कायम नहीं कर पाए थे।[17] इसलिए किसान को अपने उत्पाद की बिक्री के लिए आज की अपेक्षा कम अनुकूल व्यवस्था पर निर्भर रहना पड़ता था। यह चीज कृषि की प्रगति के मार्ग में सबसे बड़ी बाधाओं में से एक मानी गई है और इसमें संदेह नहीं की यह बाधा सचमुच ऐसी ही है। इस प्रणाली के अंतर्गत कीमत बढ़ने पर सब से अंत में उसका लाभ उठाने वाला किसान होता है, और घटने पर सबसे पहले नुकसान उठाने वाला भी वही होता है, और जितनी ज्यादा और जितनी

तेजी से कीमतों में चढ़ाव-उतार आते हैं, उसकी स्थिति उतनी ही खराब होती जाती है। अकबर काल में बाजार की स्थिति का प्रत्यक्ष अनुमान लगाने के लिए मुझे कोई सामग्री नहीं मिली है, लेकिन मैं समझता हूं यह मानना अनुचित न होगा कि सोलहवीं सदी में उतने उतार-चढ़ाव तो आते ही थे जितने संचार व्यवस्था के विकास के फलस्वरूप देश भर के बाजारों के एकीकरण से पहले उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में आते थे। सर थियोडोर मारिसन ने 'इंडस्ट्रियल आर्गेनाइजेशन आफ एन इंडियन प्रोविंस' (एक भारतीय प्रांत का औद्योगिक संगठन) नामक अपनी पुस्तक के 12वें अध्याय में उस समय की स्थिति का बहुत सटीक वर्णन किया है और उन्होंने जो आंकड़े दिए हैं उनसे उन किसानों की हालत को बहुत अच्छी तरह समझा जा सकता है, जिन्हें अपनी पैदावार बेचनी तो पड़ती थी, मगर जिसके सामने स्थानीय गल्ला व्यापारी द्वारा दी गई कीमतों को स्वीकार करने के अलावा कोई चारा नहीं था।

गरज यह कि आम तौर पर किसान को परिवेश से कोई खास सहायता नहीं मिलती थी। कठिन समय में भी, जब वर्षा न होने के कारण खेती बर्बाद हो जाती थी, उसे किसी प्रकार की सहायता नहीं मिल पाती थी। हमें मालूम है कि सोलहवीं और सत्रहवीं सदियों के दौरान भारत के अधिकतम भाग अकालग्रस्त रहे[18], और इस जानकारी के आधार पर हम विश्वासपूर्वक ऐसा मान सकते हैं कि बीच के काल में जलवायु में कोई विशेष अंतर नहीं आया। लेकिन सोलहवीं सदी में और आधुनिक काल में बार-बार आने वाले दुर्भिक्षों के बीच हम कोई तुलना नहीं कर सकते हैं, क्योंकि आज दुर्भिक्ष शब्द का अर्थ ही बदल गया है। आज दुर्भिक्ष का मतलब ऐसा कठिन समय है जब सहायता के लिए सरकार को सक्रिय होने की जरूरत होती है, लेकिन यदि हम सोलहवीं सदी के समकालीन ऐतिहासिक विवरणों को सही मानें तो हमें दुर्भिक्ष का अर्थ ऐसा कठिन समय लगाना चाहिए, जब क्षुधा पीड़ित मनुष्य को मनुष्य का मांस खाने को मजबूर होना पड़ता था। 1555 के अकाल के संबंध में बदायूंनी ने जो विवरण दिया है उसके अनुसार: 'उसने अपनी आंखों मनुष्य को मनुष्य का मांस भक्षण करते देखा और भूख तथा अभाव से पीड़ित लोगों की मुखाकृतियां इतनी भयानक लगती थीं कि उन्हें देखा नहीं जाता था। वर्षा के अभाव, अकाल बर्बादी तथा दो वर्षों की निरंतर लड़ाइयों के फलस्वरूप पूरा देश वीरान हो गया और जमीन को जोतने बोने वाला कोई किसान नहीं रह गया।' उसी काल के बारे में अबुल फजल ने लिखा: 'स्थिति इतनी खराब हो गई कि मनुष्य मनुष्य का भक्षण करने लगे।' बाद में 1596 के अकाल के बारे में भी यह जानकारी मिलती है कि मनुष्य मनुष्य को खाते थे और सड़कें तथा गलियां लाशों से पट गई थीं। इस अकाल के दौरान अकबर ने राहत देने का प्रयत्न किया, लेकिन उस समय जैसा संगठन था वह शायद शहरों और नगरों के भूखे लोगों को खाना देने से अधिक कुछ नहीं कर पाया। इस तरह जो प्राकृतिक प्रकोप बार-बार होते रहते थे उनके फलस्वरूप कृषि जिस तरह बिखर जाती होगी उसकी आज हम कल्पना भी नहीं कर सकते। इसके अलावा हमें यह भी याद रखना चाहिए कि समकालीन वृत्तलेखों ने सिर्फ आत्यंतिक कष्ट की स्थितियों का ही वर्णन किया है। मौसम की साधारण प्रतिकूलता की स्थिति भी अकसर आती ही रहती होगी। आज अगर ऐसी स्थिति आती है तो उसका मुकाबला करने के लिए तत्परता से राहत-कार्य आरंभ कर दिया जाता है, किन्तु उन दिनों के बारे में अगर

हमें कोई ऐसा विवरण पढ़ने को नहीं मिलता तो उसका कारण यह नहीं है कि ऐसी स्थिति तब आती ही नहीं थी, बल्कि यह कि समकालीन वृत्तलेखों के लिए ऐसी स्थितियां इतनी सामान्य थीं कि उन्होंने उनका उल्लेख करना उपयुक्त नहीं समझा। इस उद्योग की स्थिति के बारे में अपनी धारणा बनाने के पहले हमें इस तथ्य का भी ध्यान रखना चाहिए कि यदाकदा कृषि कर्म प्राकृतिक आपदाओं के कारण एकदम ठप पड़ जाता था और मौसम प्रतिकूल होने के कारण अक्सर फसलों का स्थानीय या आंशिक नुकसान होता ही रहता था। हमें यह भी स्वीकार करके चलना चाहिए कि इस तरह की सभी छोटी-बड़ी विपत्तियों का सामना बिना किसी बाहरी सहायता के किसान को स्वयं करना पड़ता था। हां, राहत के नाम पर राजस्व में कुछ रियायत हासिल करने की उम्मीद वह जरूर रख सकता था।

तो जहां तक सक्रिय सहायता का संबंध है, समाज का शेष भाग कृषि की समृद्धि के लिए बहुत कम, या शायद कुछ भी नहीं करता था। इसके विपरीत पास शहरी लोगों और अधिकारियों के संपर्क में आने से किसान के डरने के खासे कारण मौजूद थे।[19] और खास तौर से जमीन पर उसे उस तरह का हक हासिल नहीं था जो अच्छी खेती की पहली शर्त है। उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में इस बात पर काफी बहस हुई कि किसान को अपनी जोत पर काबिज रहने का कोई कानूनी अधिकार है या नहीं, मगर हमारे लिए महत्व कानूनी स्थिति का नहीं, बल्कि इस बात का है कि व्यवहारतः हालत क्या थी। क्या किसान यह भरोसा रख सकता था कि उसे अपनी जोत से बेदखल नहीं किया जायेगा या बेदखली के प्रसंग क्या इतने अधिक आते थे कि किसान असुरक्षा की भावना से ग्रस्त रहता था? इस संबंध में बहुत कम साक्ष्य उपलब्ध हैं लेकिन मैं समझता हूं एक ऐसा तथ्य है जिससे स्थिति बिलकुल स्पष्ट हो जाती है। जहांगीर ने लिखा है कि अपने शासन के आरंभ में ही उसने यह आदेश जारी किया : 'शाही जमीन के प्रबंधकों और जागीरदारों को रैयतों को जबरदस्ती बेदखल करके उनकी जमीन खुद नहीं जोतनी चाहिए।' यह उन आदेशों की शृंखला में से एक है जो उसने आम लोगों की शिकायतें दूर करने के लिए जारी किए थे। जहांगीर के प्रशासन की हमें जो जानकारी है उसके आधार पर ऐसा मानना ठीक नहीं होगा कि इस आदेश का कोई बहुत अधिक असर हुआ, लेकिन हम इतना तो निश्चयपूर्वक मान सकते है कि यह शिकायत इतनी सच्ची और व्यापक थी कि जनता की निष्ठा और समर्थन दिला सकने वाली नीति के निर्माण में लगे नए बादशाह का ध्यान सहज ही उसकी ओर आकृष्ट हो गया। पाठकों ने लक्ष्य किया होगा कि यह आदेश सब प्रकार की जमीन पर चाहे वह सीधे केंद्रीय प्रबंध में रही हो या जागीर की तरह किसी को दे दी गई हो लागू होता है और इससे हम बेझिझक यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि साधारण किसान को अपनी जोत से बेदखल कर दिए जाने का अंदेसा बराबर रहता था। डी लाएट के विवरण से इस निष्कर्ष की प्रबल पुष्टि होती है। बड़े-बड़े जागीरदारों के बेदखल किए जाने की चर्चा करने के बाद उसका कारण बताते हुए वह कहता है कि आम लोगों को बहुत परेशान किया जाता था और अक्सर उन्हें हर फसल के साथ अपनी जोत बदलने पर मजबूर होना पड़ता था, जिसका कारण कभी तो यह होता था कि प्रशासन ऐसा करने को कहता था और कभी यह कि जागीरदारों को वह जमीन किसी और को देनी होती थी। इस सबके परिणामस्वरूप पूरे देश की कृषि प्रणाली में बेहद शिथिलता आ गई थी। प्रशासनिक केंद्रों से

दूरस्थ गांवों में या जिस जोत में अपनी कोई आकर्षक विशेषता न हो उसके मामलों में तो वेदखली का खतरा अधिक नहीं रहता होगा, लेकिन यदि किसी के मन में मेहनत और पूंजी के वल पर अपनी जोत की उत्पादकता औसत से अधिक वढ़ाने की इच्छा जगती होगी तो तत्काल उसे इस तथ्य का भी ध्यान आ जाता होगा कि उस जोत पर उसका हक तो ऐसे किसी लोभी अधिकारी या जागीरदार की मर्जी पर निर्भर है जो न जाने किस समय अचानक उस क्षेत्र में आ धमके। इस वात का एहसास अपने आप में कृषि के लाभकर विकास के लिए घातक है। इस काल की कृषि प्रगतिशील नहीं थी, ऐसा निष्कर्ष मंडी तथा वर्नियर जैसे परवर्ती काल के यात्रियों के कथनों से निकाला जा सकता है। मंडी का कहना है कि आगरा के आसपास किसानों के साथ वैसा ही व्यवहार किया जाता था 'जैसा ईसाइयों के साथ तुर्क करते हैं' 'वे अपनी मेहनत के वल पर जो कुछ भी प्राप्त करते हैं वह उनसे छीन लिया जाता है और उनके पास मिट्टी की दीवारों और फूस के छप्परों से वने वहुत ही खराव किस्म के घर, जमीन जोतने के लिए कुछ ढोर और दुख दैन्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं रह जाता।' वर्नियर का कहना है कि अधिकारियों और जागीरदारों के अत्याचार के कारण जव तक मजवूरी नहीं होती थी तव तक जमीन शायद ही जोती वोई जाती थी कोई भी आदमी खेतों में पानी पहुंचाने वाले नालों की मरम्मत करने को तैयार नहीं था और न उसमें यह काम करने की सामर्थ्य ही थी, और फलतः पूरे देश में वहुत खराव ढंग से खेती होती थी। दूसरे शब्दों में जमीन के पट्टे की अनिश्चितता के जो भी परिणाम हो सकते थे सव मौजूद थे। यह साक्ष्य केवल मुगल साम्राज्य पर लागू होता है और संभव है कि दकन के राज्यों या विजयनगर में स्थिति कुछ अधिक अनुकूल रही हो, लेकिन इन क्षेत्रों के विषय में इस मुद्दे पर मुझे किसी समकालीन लेखक का कोई कथन उपलब्ध नहीं हुआ है, और मुझे ऐसा कोई कारण नहीं मिला है जिसके आधार पर माना जा सके कि सुरक्षा की दृष्टि से दक्षिण के किसान उत्तर के किसानों से ज्यादा अच्छी स्थिति में थे।

इस प्रकार कुल मिलाकर परिवेश का प्रभाव कृषि की प्रगति के लिए स्पष्ट रूप से प्रतिकूल था। समाज के अन्य वर्गों से किसान को वहुत कम मदद मिलती थी। वाजार के संवंध में उसकी स्थिति वहुत घाटे की थी, और अगर तरक्की के लिए उद्यम करने की कोई प्रवृत्ति रही भी हो तो भी प्रशासन का रूप ऐसा था कि उस प्रवृत्ति को कुंठित कर देता था। अव हम इस पर विचार करेंगे कि किसान की आमदनी में से समाज कितना ले लेता था। इस अध्याय के पहले अनुच्छेदों में हमने देखा कि अकवर की मांग कुल उत्पादन के एक-तिहाई की थी, और दक्षिण में यह अनुपात शायद अवश्य ही ज्यादा था, यद्यपि ठीक-ठीक कितना था, यह नहीं कहा जा सकता। अकवर की मांग अपने आप में वहुत ऊंची थी।[20] चाहे हम उसे हिन्दू धर्मशास्त्रों की दृष्टि से देखें या अकवर के पूर्ववर्ती मुसलमान शासकों द्वारा वसूल किए जाने वाले राजस्व के स्तर को ध्यान में रखकर। हिंदू धर्मशास्त्रों के अनुसार छठे से वारहवें हिस्से तक का राजस्व उचित माना जाता था। मुसलमान शासकों की मांगें एक-दूसरे से काफी भिन्न लेकिन आमतौर पर अकवर की मांगों से कम थीं, और जिस एकमात्र मुसलमान शासक अलाउद्दीन खिलजी ने उपज के आधे हिस्से पर अपना अधिकार वताया उसकी भी मंशा आर्थिक के वजाय प्रशासनिक ही थी, क्योंकि यह उपाय खुल्लमखुल्ला हिंदुओं को कुचलने और उन्हें धन-सम्पत्ति से वंचित करने

के लिए अपनाया गया था जो उनमें अराजभक्ति और विद्रोह का भाव जगाता था।' अकबर के राजस्व निर्धारण के पीछे ऐसी कोई मंशा नहीं थी, लेकिन जो लोग उत्तर भारत में आज की लगान दरों से परिचित हैं उनके सामने यह बात सहज ही स्पष्ट हो जाएगी कि उन दिनों दरें कितनी कड़ी थीं। जिन पाठकों को भारत के इस हिस्से में मौजूदा लगान दरों की जानकारी नहीं है उनके लिए इस का किंचित विस्तार से अध्ययन करना उपयुक्त हो सकता है और ऐसा अध्ययन करते समय उन्हें दो बातें ध्यान में रखनी चाहिए—एक तो यह कि यहां सवाल साम्राज्य की आबादी के बहुत बड़े हिस्से की जीविका का है और दूसरी यह कि जहां अकबर की राजस्व दरें बहुत ऊंची थीं, भारत के शेष भागों में शायद उससे भी कड़ी दरें प्रचलित थीं।

राजस्व भार को सबसे अच्छी तरह समझने का तरीका यह है कि उसका हिसाब मुद्रा में लगाया जाए। रुपए की क्रय-शक्ति का हमने जो अनुमान लगया है और जिसका उपयोग हमने पिछले अध्याय में किया है उसके अनुसार मुगलों की राजधानी के आसपास की स्थिति यह थी कि एक रुपया पाने के लिए किसान को 1910–12 के मुकाबले सात गुना से अधिक अनाज, लगभग ग्यारह गुना तिलहन, शायद सात गुना गुड़ और कदाचित कुछ कम (लेकिन ठीक-ठीक मालूम नहीं कि कितनी) कपास देनी पड़ती थी। इसलिए हम निरापद रूप से कह सकते हैं कि किसान को कम से कम उतनी ही उपज देनी पड़ती थी जितनी प्रथम विश्वयुद्ध से ठीक पहले के वर्षों में 7 रुपयों के लिए देनी पड़ती थी। और यह बात काफी हद तक निश्चित है कि कोई क्षेत्र राजधानी से जितना ही दूर होता होगा उनकी उपज की कीमत उतनी ही कम होती होगी यानी 1910–12 के मूल्य स्तर से उसकी कीमत का अंतर उतना ही अधिक होता जाता होगा। गरज यह कि यदि हम तुलनात्मक प्रयोजनों के लिए यह मानकर चलें कि अकबर काल में रुपये की क्रय शक्ति 1910–12 के मुकाबले सात गुनी थी, तो किसान पर पड़ने वाले औसत राजस्व भार को समझ सकेंगे। इलाहाबाद, आगरा और दिल्ली, इन तीन सूबों में अबकर की राजस्व दरों का औसत लेकर जब हम ऊपर कूते गए रुपए के मूल्य को ध्यान में रखते हुए हिसाब लगाते हैं तो पाते हैं कि प्रति एकड़[21] राज्य की जो मांग थी वह 1910-12 के रुपए में नीचे दी जा रही तालिका के अनुसार थी :

आधुनिक मुद्रा में कूती गई अकबर की प्रति
एकड़ राजस्व मांग

फसल	रुपए	फसल	रुपए
गेहूं	17.00 से 20.00	अलसी	8.05 से 10.25
जौ	11.05 से 13.05	सरसों	9.00 से 10.75
चना	10.05 से 12.20	पोस्त	36.25 से 42.00
ज्वार	9.00 से 10.05	गन्ना (साधारण)	36.05 से 42.25
बाजरा	7.25 से 8.05	कपास	26.00 से 30.00
मंडुआ	7.05 से 87.75	नील	43.75 से 50.75
सावां	3.75 से 4.05		

ध्यान रहे कि ये दरें साल भर के लिए नहीं बल्कि एक-एक फसल के लिए हैं। उदाहरण के लिए किसान को सावां जैसे घटिया किस्म के मोटे अनाज के लिए

प्रति एकड़ 4 रुपए अदा करने पड़ते थे, लेकिन उसके बाद यदि उसने उसमें चने की फसल लगा दी तो उसे वर्ष के उत्तरार्द्ध में 10 या 12 रुपए और अदा करना पड़ता था। कहने की जरूरत नहीं कि इन आंकड़ों के अनुसार लगान की मांग की आज कल्पना भी नहीं की जा सकती। हो सकता है कि किसी बहुत ही उपजाऊ और साधन-संपन्न गांव से कोई जमींदार कानून की धाराओं की अवहेलना करके कुछ समय तक इस दर से लगान वसूल कर ले, लेकिन यहां जो दरें दी गई हैं, वे अपवादों तक सीमित नहीं हैं, बल्कि उत्तर भारत के एक बहुत बड़े भाग की औसत राजस्व दरें हैं, और आज का कोई भी बंदोबस्त अधिकारी ऐसे आंकड़ों के आधार पर राजस्व निर्धारण की बात क्षण भर के लिए भी नहीं सोच सकता।

राजस्व की आज की मांग और अकबर कालीन मांग के बीच के अंतर को एक और तरीके से स्पष्ट किया जा सकता है। वह तरीका यह है कि हम यह जानने की कोशिश करें कि देश के विभिन्न भागों में आज जो फसलें उगाई जा रही हैं उन पर यदि अकबर की दरों से राजस्व का अनुमान लगाया जाए तो कैसी तसवीर उभरती है। इस तरह का हिसाब इतना लंबा हो जाएगा कि पूरी तफसील के साथ उसे पेश नहीं किया जा सकता, लेकिन उदाहरण के रूप में हम मेरठ प्रभाग के चार जिलों में 1915–16 में पैदा की गई फसलों के परिणाम को ले सकते हैं। इन जिलों के राजस्व को लेकर अकबर काल में अपनाए गए ढंग पर कूतते हुए[22] जहां भी कोई संदिग्ध मुद्दा सामने आया उसे मैंने किसानों के पक्ष में मान लिया है, जिससे इस काल्पनिक राजस्व राशि में भारी कमी आ गई है, फिर भी मैंने पाया कि मुगल बादशाह प्रति एकड़ आबादी जमीन पर औसतन जितने राजस्व की मांग करता वह वर्तमान औसत लगान दर की अपेक्षा बहुत अधिक है, जो नीचे दी जा रही तालिका से स्पष्ट हो जाएगा :

जिला	अकबर के राजस्व का अतिरिक्त प्रतिशत
सहारनपुर	112
मुजफ्फरनगर	99
बुलन्दशहर	86
मेरठ	88
चारों जिले	96

ये ऊंचे प्रतिशत किसी स्थानीय कारण के परिणाम नहीं थे, इसका प्रमाण यह है कि अवध सूबे के उन्नाव जिले का अतिरिक्त प्रतिशत 97 है, और उससे भी पूर्व की ओर जाने पर गाजीपुर जिले का अतिरिक्त प्रतिशत 128 और जौनपुर का 193 आता है। इन हिसाबों के आधार पर हम कह सकते हैं कि जहां राजस्व निर्धारण की विनियमन प्रणाली लागू थी वहां अकबर की राजस्व की मांग आज के जमींदारों की लगान की मांग की तुलना में कम से कम दोगुनी तो अवश्य थी। अकबर के विनियमों से इस संभावना का संकेत अवश्य मिलता है कि छोटे अमलों से सांठ-गांठ करके इस दर में कमी की जा सकती थी, लेकिन अगर ऐसा किया भी जाता रहा हो तो निश्चपूर्वक यह नहीं कहा जा सकता कि इससे किसानों को कोई बड़ी बचत होती होगी। अगर ये छोटे अमले आज के छोटे कर्मचारियों से भिन्न नहीं थे तो निश्चय ही जाल-फरेब करके राजस्व में जितनी कमी की जाती होगी लगभग वह

सारी राशि ये खुद हड़प लेते होंगे और किसान को उस बचत में से बस उतना ही देते होंगे जितना पाकर वह यह समझता कि उसका ऐसे फरेब में शामिल होना निरर्थक नहीं गया।

इन हिसाबों में उन महसूलों को शामिल नहीं किया है जो किसान को कानून के अधीन या कानूनी मर्यादा के बाहर आज अदा करने पड़ते हैं। इन महसूलों की राशि का ठीक अनुमान नहीं लगाया जा सकता, लेकिन ऐसा मानना अनुचित न होगा कि पहले इस तरह के जो महसूल लिए जाते थे वे आज के महसूलों की राशि के औसतन आसपास ही होंगे। हमें अकबर द्वारा लगाए कम से कम एक आम महसूल की तो जानकारी है ही, वह है दहसरी—जो प्रति एकड़ आबाद जमीन पर लगभग 25 पौंड अनाज के हिसाब से वसूल की जाती थी। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य स्थानीय महसूल भी हमारी जानकारी में हैं—जैसे कि आगरे का किला बनवाने के लिए आसपास के क्षेत्रों पर लगाया गया महसूल। फसलों का लेखा-जोखा तैयार करने से संबंधित नियमों को पढ़ने पर मुझे ऐसा लगा है कि फसल दर फसल जमीन की पैमाइश पर लगे सरकारी अमलों का खर्च चलाने के लिए भी किसानों पर महसूल लगे हुए थे।[23] कम से कम इतना तो निश्चित है कि उनका 'खाना खर्चा गांव वाले ही चलाते थे,' जैसा कि आज भी इस तरह के कर्मचारी गांव वालों से आशा रखते हैं। जहां जमीन जागीर में दी गई थी, वहां कानूनी मर्यादा के बाहर ज्यादा महसूल लगाए जाते थे, विशेषकर अकबर के जागीरदारी प्रथा को नियंत्रित करने के प्रयत्नों की विफलता के बाद से। हाकिंस का जागीरदारी संबंधी ज्ञान उसके निजी अनुभवों पर आधारित है, क्योंकि वह खुद जागीरदार था, हालांकि इस रूप में वह असफल ही रहा। अपने साथी जागीरदारों का वर्णन करते हुए वह कहता है कि जागीर खोने से पहले उससे अधिक से अधिक लाभ उठाने के लिए वे गरीबों को 'चूसते हैं' इसी तरह अपने सिंहासना-रोहण के समय जहांगीर ने जो आदेश जारी किए और जिनका हवाला हम पहले दे चुके हैं उनमें 'अपने लाभ के लिए हर जिले और हर सूबे में जागीदारों द्वारा प्रजा पर डाले गए' तरह-तरह के बोझों का उल्लेख हुआ है। किसानों द्वारा अदा की जानेवाली रकमें हम ठीक-ठीक नहीं बता सकते, लेकिन हम बहुत हद तक निश्चयपूर्वक यह मान सकते हैं कि निर्धारित दरों से कूते गए राजस्व की राशियों से वे काफी अधिक थीं और यह असंभव नहीं कि कभी-कभी वेंडी लाएट के बताए अनुपात तक अर्थात उपज के 'तीन चौथाई भाग' तक भी पहुंच जाती होंगी।

जो इलाके जमींदारों के प्रशासन के अधीन थे उनमें जमीन जोतने वाले किसानों से कितना वसूल किया जाता था, इसके संबंध में हमें कोई सीधी जानकारी सुलभ नहीं है। लेकिन हम अनुमान के आधार पर यह कह सकते हैं कि जो किसान जागीदारों के इलाकों में थे उनकी अपेक्षा अन्य किसानों की हालत कुछ अच्छी थी। जागीर के इलाके के लिए जागीरदार आमतौर पर बाहरी आदमी हुआ करता था और उसे सिर्फ अपनी थैली भरने की फिक्र रहती थी। जमींदार अपने इलाके का स्थायी बाशिंदा होता था और कुछ मामलों में वह वंशानुगत स्थिति और गोत्रीय संबंधों के सूत्र से किसानों से बंधा होता था। इसके अलावा गाढ़े वक्त में—और ऐसे वक्त अवसर आते रहते थे—जमींदार को किसानों का समर्थन लेना पड़ता

था—जैसे कि तब जब वह केंद्रीय सत्ता से विद्रोह करता था या विद्रोह करने पर मजबूर कर दिया जाता था। इसलिए यह संभव है कि साधारणतया जमींदार किसानों के साथ अपेक्षाकृत अच्छा व्यवहार करते रहे हों। इस अनुमान की पुष्टि आधी सदी बाद बर्नियर द्वारा लिपिबद्ध किए तथ्यों से होती है। उसने लिखा है कि 'बहुत से किसान ऐसे घृणित अत्याचारों से पीड़ित होकर अपना देश छोड़ने को मजबूर हो जाते हैं,' और कभी-कभी वे किसी राजा के क्षेत्र में चले जाते हैं, क्योंकि वहां उन्हें कम अत्याचार सहना पड़ता है और ज्यादा सुविधाएं मिलती हैं। बर्नियर ने यह भी लिखा है कि इस तरह किसानों को खो बैठने का भय सूबेदारों के अत्याचारों पर अंकुश का काम करता था, और यद्यपि यह संभव है कि शाहजहां के शासन की अपेक्षा अकबर के शासन में अत्याचार कम होते रहे हों, फिर भी हम यह मान सकते हैं कि कम से कम कुछ जमींदारों की जमींदारियां अत्याचार पीड़ित किसानों के लिए शरण स्थलों का काम करती थीं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मुगल साम्राज्य में जिन किसानों पर विनियमन प्रणाली के अधीन करारोपण किया जाता था उन्हें अपनी कुल आय का उससे बहुत अधिक हिस्सा राजस्व के रूप में देना पड़ता था जितना कि आज के किसानों को लगान के तौर पर देना पड़ता है। जिन सूबों में करारोपण की अन्य प्रणालियां प्रचलित थीं उनमें से सिंध के बारे में हमें मालूम है कि किसान अपनी उपज का एक तिहाई भाग जिंसों में अदा करते थे और अजमेर में, जहां प्रशासन की गिरफ्त बहुत ढीली थी, उन्हें उससे आधा देना पड़ता था। बंगाल, बरार और खानदेश की स्थिति स्पष्ट नहीं है। ये प्रदेश मुगल सामाज्य में हाल में ही शामिल किए गए थे, और पुरानी राजस्व निर्धारण पद्धति को कायम रखने का कारण या तो यह रहा होगा कि परिवर्तन के फलस्वरूप राजस्व में कमी आती या यह कि राजस्व में तुरंत वृद्धि करना राजनीतिक दृष्टि से खतरनाक होता, मेरा अनुमान है कि इन प्रदेशों में राजस्व भार विनियमन प्रणाली वाले क्षेत्रों की अपेक्षा बहुत कम तो नहीं लेकिन कम जरूर रहा होगा, लेकिन मुझे इस विषय पर कोई साक्ष्य प्राप्त नहीं हुआ है। जहां तक भारत के अन्य भागों का संबंध है, हम देख चुके हैं कि ऐसा मानना निराधार नहीं है कि कुल उत्पादन के अंश के रूप में देखा जाए तो राजस्व की मांग उत्तर की अपेक्षा दक्षिण में अधिक थी और इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि दकन और विजयनगर के किसान मुगल साम्राज्य के किसानों से भी बेहतर स्थिति में थे। इस प्रकार हमारे इस विवेचन का जो अंतिम परिणाम सामने आता है वह यह है कि संपूर्ण भारत की ग्रामीण आबादी को मिलाकर देखा जाए तो यद्यपि प्रति व्यक्ति औसत उत्पादन आज से शायद बहुत भिन्न नहीं रहा होगा, लेकिन जितना हिस्सा किसान के पास रह जाता था वह औसत आज से बहुत कम था। 'औसत' किसान के हाथ में कुल आय तो लगभग उसी परिमाण में आती थी जिस परिमाण में आज आती है, लेकिन उसके अपने इस्तेमाल के लिए उसके पास आज की तुलना में बहुत कम रह जाता था।

गांवों का जीवन

खेती की स्थिति के बारे में हम जिन निष्कर्षों पर पहुंचे हैं उनकी चर्चा हम फिर

आगे के अध्यायों में करेंगे लेकिन यहां इसका विवेचन समाप्त करने के पूर्व, इस उद्योग में लगे लोगों के जीवन के बारे में जो कुछ जानकारी प्राप्त है, उसे हम यहां सुविन्यस्त रूप से प्रस्तुत कर सकते हैं। गांव का साधारण मजदूर शायद प्रायः उतनी ही अच्छी या बुरी स्थिति में था जितनी अच्छी या बुरी स्थिति में वह आज है। जहां तक मुझे मालूम है, उसको जीवनयापन के लिए क्या कुछ और कितना कुछ मिलता था, इसके संबंध में किसी भी समकालीन लेखक ने कोई प्रत्यक्ष जानकारी नहीं दी है, लेकिन इतना हम निरापद रूप से मान सकते हैं कि अर्धदास के रूप में जीवित रहने के लिए जितना जरूरी था उसमें थोड़ा ही अधिक उसे मिलता था। मौसम प्रतिकूल हो जाने पर खेती की दशा आज की तुलना में बहुत खराब हो जाती थी। आज तो अगर घर पर करने को कुछ नहीं हो तो वह राहत-योजनाओं में काम पाने का पूरा भरोसा रख सकता है, लेकिन सोलहवीं सदी में, बल्कि उन्नीसवीं सदी के भी कई आरंभिक वर्षों तक, ऐसा कठिन समय आने पर उसके सामने दो ही रास्ते होते थे—या तो वह घर पर ही रह कर निश्चित मौत मरे या कहीं बाहर निकल जाए अथवा जंगल में चला जाए और वहां भूखों मरने की संभावना का सामना करे। उसके सामने अपनी स्थिति सुधारने और दुनिया में अपने लिए कोई ठीक जगह बनाने का कोई अवसर था या नहीं, इसकी जानकारी देने वाला कोई प्रत्यक्ष साक्ष्य उपलब्ध नहीं है। अर्धदास होने के नाते उसे काम की तलाश में अपना गांव छोड़ कर जाने की स्वतंत्रता नहीं थी, और हम यह मान सकते हैं कि उसके मालिक उसे जाने की इजाजत तभी देते जब उसके गांव में श्रमिकों की संख्या गांव की जरूरतों को देखते हुए ज्यादा होती। सामान्य श्रमिकों की मांग आज की अपेक्षा निश्चय ही बहुत कम थी। आज की तरह रेलमार्ग या कल कारखाने नहीं थे और सिवाय नगरों और बंदरगाहों के, और कहीं भी ऐसी किसी चीज के होने का संकेत नहीं मिलता जिसे किसी भी अर्थ में श्रम का बाजार कहा जा सके। मैं ऐसा मानना चाहूंगा कि गांव छोड़ने की कठिनाई और गांव छोड़ देने पर भी अन्यत्र काम पा सकने की अनिश्चितता, ये दोनों बातें एक स्थान छोड़ कर दूसरे को जाने की मजदूरों की प्रवृत्ति के लिए बाधक थीं, और आज के खेतिहर मजदूरों की गतिहीनता के मूल पूर्ववर्ती सदियों में समाहित हैं, किसी भी व्यक्ति को जब तक अपने गांव में भोजन मिलता रहता था, तब तक उसे गांव छोड़ बाहर निकलने का प्रलोभन देने वाली कोई चीज नहीं थी।

लेकिन इस बात की पूरी संभावना है कि कोई मजदूर तरक्की करके काश्तकार की स्थिति में पहुंचने की उम्मीद रख सकता था, और आधुनिक खेतिहर मजदूरों की आकांक्षाओं की ही तरह उनकी आकांक्षाएं भी सदियों के अनुभव की बुनियाद पर खड़ी हैं 'रिपोर्ट आन स्लेवरी' में, जिसका हवाला हम पहले दे चुके हैं, इस बात का प्रमाण मिलता है कि कभी कभी अर्धदास मजदूरों को भी जमीन रखने की छूट दे दी जाती थी। जब उनके श्रम की आवश्यकता अन्यत्र नहीं रहती थी तब वे अपनी जमीन को जोत-बो सकते थे। और आज लोगों का आम रुख जैसा है वैसा ही यदि तीन सदी पूर्व भी रहा हो तो मैं नहीं समझता कि कम से कम उत्तर भारत या मध्य भारत का कोई गांव किसी व्यक्ति को धीरे धीरे अपनी जोत बढ़ाने से रोकता होगा, बशर्ते कि उस गांव में जमीन की कमी न हो और श्रम पर्याप्त परिमाण में सुलभ होता रहा हो। भारत के सभी भागों में तो नहीं लेकिन कुछ भागों में खेती के लायक

जमीन परती पड़ी हुई थी, जिससे मजदूरों के काश्तकार बनने का मार्ग प्रशस्त हुआ होगा, और शायद ऐसा माना जा सकता है कि खेती के लिए उन्हें जिस पूंजी की जरूरत थी उसे ये मितव्ययी लोग चन्द अनुकूल मौसमों के दौरान धीरे धीरे जुटा लेते होंगे। इसलिए यह संभव है कि विशेष रूप से उद्यमी मजदूरों के लिए अपने जीवन को किसी हद तक संवारने का अवसर विद्यमान था, यद्यपि इस विषय को उजागर करने वाले किसी प्रत्यक्ष साक्ष्य की जानकारी मुझे नहीं है। लेकिन साधारण मजदूर का रुख आज की ही तरह शायद यह था कि उसके भाग्य में वैसा ही रहना लिखा है, जैसा वह है और इसलिए छुटकारे की कोशिश बेकार है।

जमीन को सचमुच जोतने बोने वाले काश्तकार के संबंध में हम देख चुके हैं कि आम तौर पर उसकी स्थिति आज की अपेक्षा बहुत खराब होती थी। कम से कम इतना तो निश्चित है कि कपड़े, सामान्य सुविधाओं और विलासिता पर खर्च करने को जितना पैसा आज एक औसत किसान के पास है उतना उसके पास नहीं था और देश के कुछ हिस्सों में तो शायद उसे भोजन की भी कमी पड़ती होगी। समय प्रतिकूल होने पर उसकी स्थिति बेहतर नहीं होती थी। प्राकृतिक विपत्तियों का दौर झेल लेने के लिए गांवों को किसी प्रकार की योजनाबद्ध सहायता देने का प्रयत्न किया जाता रहा हो, इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता। इसी प्रकार विपत्ति का दौर समाप्त होने पर गांवों के पुनर्वास के लिए कोई कोशिश की जाती रही हो, इसका भी कोई सबूत नहीं मिलता। निदान खाद्य सामग्री का भंडार चुक जाने पर दर-दर भटकने या जंगलों की शरण लेने, और जैसा कि हम देख चुके हैं, अंत में अपने बच्चों तक को बेच देने के अलावा उन लोगों के सामने कोई चारा नहीं होता था। और सिर्फ अकाल ही एक विपदा नहीं जो उन्हें झेलनी पड़ती थी। युद्ध और विद्रोह भी ग्रामीण जीवन को अस्त व्यस्त कर दे सकते थे और कभी कभी राज्याधिकारियों के अत्याचारों से तंग आकर स्वयं किसान भी बगावत कर सकते थे, लेकिन किसान के जीवन के सिर्फ धुंधले पक्ष को ही देखना भूल होगी। अकालों तथा अन्य विपत्तियों के बीच पड़ने वाले अंतराल के समय में कोई मितव्ययी किसान, जो राजस्व अधि-कारियों से निबटने की कला में पारंगत हो, धीरे धीरे अपनी स्थिति सुधार सकता था और इतनी अधिक जोत बढ़ा ले सकता था, जिससे उसे आराम से जिंदगी बिताने लायक आमदनी होने लगे। दूसरी ओर कठिन समय में साहसी लोग अपेक्षाकृत कम प्रतिकूल परिवेश वाले स्थानों पर जाकर बस सकते थे या बर्नियर के शब्दों में शहरों या छावनियों में जाकर जीवन का अधिक सहनीय रास्ता अपनाने की कोशिश कर सकते थे, लेकिन सभी अनुकूल बातों के लिए गुंजाइश छोड़ देने के बाद भी मुझे तो सबसे संभावित निष्कर्ष यही जान पड़ता है कि साधारण किसान की स्थिति आज की तुलना में बहुत खराब थी, क्योंकि अपनी आय का अधिकतर भाग उसे अपने निठल्ले साझीदारों को देना पड़ता था और उसका भविष्य इतना अनिश्चित और असुरक्षित होता था कि अपने उद्योग की स्थिति सुधारने के लिए कुछ करने को वह हिम्मत ही नहीं जुटा पाता था।

जमींदारों की स्थिति के बारे में कुछ अधिक कहना संभव नहीं है। जो जमींदार दरबार में पहुंच कर कोई मनसब आदि प्राप्त कर लेते थे, वे तो शायद शेष दरबारियों और अधिकारियों की ही तरह रहते थे। जो जमींदार अपनी जमींदारियों

की चौहद्दियों में ही रहते थे, उनके जीवन की कोई झलक हमें किसी स्रोत से नहीं मिलती, और हम केवल अनुमान के आधार पर ही कह सकते हैं कि वे शायद परवर्ती जमींदारों की ही तरह रहते थे, जो नए विचारों को संदेह की दृष्टि से देखते हैं और अपनी ग्रामीण परंपराओं को बड़ी तत्परता से कायम रखते हैं; हालांकि ये विशेषताएं बीसवीं सदी के जमींदारों पर उतनी लागू नहीं होती, जितनी उन्नीसवीं सदी के जमींदारों पर। शायद उनमें से कुछ लोग किसानों को सहायता और सहारा देकर एक महत्वपूर्ण आर्थिक दायित्व का भी निर्वाह करते थे, लेकिन कुछ अन्य लोग तो विशुद्ध रूप से परोपजीवी ही थे। यह कहना संभव नहीं है कि इन दोनों तरह के जमींदारों में प्रमुखना किन की थी, और उनके आम रवैये के बारे में हमें सिर्फ इतना ज्ञात है कि वह अधिकारी वर्ग को बेहद नापसंद था।

चौथे अध्याय के प्रमाण-स्रोत

अनुच्छेद 1—आईन के तीसरे भाग (अनुवाद की दूसरी जिल्द में) उत्तरी भारत की राजस्व प्रणाली के संबंध में पर्याप्त मात्रा में जानकारी दी गई है। जनाब यूसुफ अली और प्रस्तुत लेखक ने जर्नल रा० ए० सो० जनवरी, 1918 में प्रकाशित एक शोध निबंध में इस जानकारी की चर्चा की है, और पाठ में जो विवरण दिया गया है जो उस शोध-निबन्ध पर आधारित है वह कुछ महत्वपूर्ण तफसीलों की दृष्टि से भारतीय इतिहास की प्रचलित पुस्तकों में दी गई जानकारी से भिन्न है। दक्षिण की स्थिति के संबंध में प्रत्यक्ष साक्ष्य बहुत कम उपलब्ध हैं, और वहां के बारे में सेवेल, 373, 379 और बारबोसा 289, 296, जैसे लेखकों द्वारा किए गए प्रासंगिक उल्लेखों का ही भरोसा करके चलना होगा। डी लाएट का उद्धरण पृ० 125 से लिया गया है, जमीन को आबाद न करने के जुर्माने के बारे में जो उद्धरण दिया गया है वह इंगलिश फैकटरीज, 1630-33, पृष्ठ 233 से लिया गया है।

अनुच्छेद 2—खेती के तरीकों से संबंधित कथन यत्र तत्र बिखरे पड़े हैं और उनमें आमतौर पर पूरी बातें नहीं कही गई हैं। उत्तर भारत के बारे में अधिकांश जानकारी का स्रोत 'आईन' (भाग-3 और 12 सूबों का विवरण') है, बाबर के कथन पृष्ठ 484 से आरंभ होते हैं, और फिच की उक्तियां परकास में दिए गए उसके यात्रा विवरण में बिखरी पड़ी हैं। टेरी के लिए देखिए परकास 2, ix, 1468 और आगे। दकन में खेती की स्थिति के लिए देखिए गार्सिया दा ओर्टा, 308 और उसकी तुलना कीजिए 'इंपीरियल गजेटियर,' xi 308 से। उत्तरी भारत की फसलें और 'राजस्व दरें' 'आईन', अनुवाद ii, 70-114 में दी गई है, और दक्षिण के संबंध में इनकी जानकारी मुख्यत: गार्सिया दा ओर्टा और सेवेल से संकलित की गई हैं। मक्के आदि की खेती से संबंधित जानकारी के लिए देखिए डी कैंडोल में दिया गया विभिन्न फसलों का विवरण ईंधन के रूप में गोबर के इस्तेमाल का उल्लेख डी लाएट, 116 और मंडी ii 71 में है।

उत्तरी भारत में सिंचाई की स्थिति से संबंधित कथन परकास 1 iv, 431 519 और बाबर 486 में मिलेंगे। नहरों के इतिहास के लिए देखिए 'इंपीरियल गजेटियर', iii 316 और उससे आगे और मार्च, 1833 के जर्नल ए० सो० बं० में प्रकाशित मेजर कालविन का एक शोध निबंध। कुओं और जलाशयों का उल्लेख

सेवेल, थेवनो तथा अन्य ग्रंथों में, जो उद्धृत नहीं किए गए हैं, यत्र तत्र हुआ है।

अनुच्छेद 3 : इसके आरंभिक भाग में दिए गए तथ्य 'आईन' से या दक्षिण के संबंध में सेवेल और हे जैसे प्रमाण स्रोतों से लिए गए हैं, लेकिन हमारी दलील इन लेखकों द्वारा तथ्यों के संबंध में कही गई बातों के बजाय उनके प्रति इनके रुख पर आधारित है। साधनों की स्वल्पता के उदाहरण 'आईन', अनुवाद, ii 44, इलियट, 'हिस्ट्री', v 138, 'लेटर्स रिसीव्ड' ii, 103, 104, मेफियस, 'ट्रांजैक्शंस' 36 में देखे जा सकते हैं। कृषिदासत्व से संबंधित तथ्य 'स्लेवरी रिपोर्ट' से लिए गए हैं और जो लोग स्थिति का ठीक ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं, उन्हें पूरी रिपोर्ट पढ़नी चाहिए पाठ में जो उद्धरण किए गए हैं वे पृष्ठ 38, 39, 93, 97, 113, 149 157 से लिए गए हैं। कृषिदासों की कानूनी स्थिति से संबंधित सूत्र वाक्य मैकनाटेन के 'प्रिंसिपुल्स' पृ० 130 से लिए गए हैं।

अनुच्छेद 4 : मैंने अबुल फजल के दिए आंकड़ों की पहले अध्याय में की गई पड़ताल के परिणामों का उपयोग किया है। तथ्यों की अधिकांश विवृतियां '12 सूबों का विवरण', 'आईन', अनुवाद जिल्द ii से ली गई है। बंगाल के लिए देखिए पृष्ठ 121-23 (इंपीरियल गजेटियर, iii पृ० 204 भी) बिहार के लिए देखिए पृ० 151 (परकास II, X, 1736 में फिच, रो i 218, लेटर्स रिसीवड, iv 320 भी), इलाहाबाद के लिए देखिए पृ० 158, अवध के लिए पृ० 171, आगरा के लिए पृ० 179, दिल्ली के लिए पृ० 278, लाहौर के लिए पृ० 312, अजमेर के लिए 267, मालवा के लिए 195, बरार के लिए पृ० 229, गुजरात के लिए पृ० 239, दक्षिण भारत के लिए देखिए (उदाहरण के लिए) थेवनों, 219, 240 और सेवेल 237।

अनुच्छेद 5 : सिंचाई के साधनों के अबुल फजल द्वारा किए गए उल्लेख, 'आईन', अनुवाद I, 222 और II 38 में देखे जा सकते हैं। दक्षिण भारत में सिंचाई की व्यवस्था के लिए देखिए सेवेल 162 और डेला वील, ii 338। अन्य लेखकों के अलावा मंडी ने भी लिखा है (ii 84) कि जलाशयों आदि की मरम्मत शायद ही कभी होती थी। अकाल के संबंध में जो उद्धरण दिए गए हैं वे इलियट, 'हिस्ट्री', v 490 और vi 21, 193 से लिए गए हैं। इस विषय के अन्य उल्लेख अध्याय vii पृ० 4 पर देखे जा सकते हैं। राजस्व की माफी से संबंधित अकबर के आदेशों के लिए देखिए 'आईन', अनुवाद, ii पृ० 45।

जबरदस्ती बेदखली पर रोक लगाने वाला जहांगीर का आदेश 'तुजुक', I 9 में मिलता है, इस विषय पर डी लाएट का मंतव्य पृ० 125 पर है, जागीरदारों के अत्याचार का उल्लेख थेवनो 145 और बर्नियर, 226 में है। मंडी से लिया गया उद्धरण ii, पृ० 73 पर है। अलाउद्दीन की राजस्व नीति का विवेचन इलियट, 'हिस्ट्री', iii 182 में किया गया है।

रुपए की क्रय शक्ति के लिए अक्तूबर, 1918 के जर्नल रा० ए० सो० के अंक के पृष्ठ 375 और उसके आगे प्रकाशित प्रस्तुत लेखक का शोध निबंध देखिए। यहां लगाए गए हिसाब में प्रयुक्त राजस्व दरें 'आईन', अनुवाद, ii पृ० 91 और आगे से ली गई है, आधुनिक आंकड़े संयुक्त प्रांत के 1915-16 के वर्ष से संबंधित 'सीजन ऐंड क्राप रिपोर्ट' तथा 'रेवेन्यू ऐडमिनिस्ट्रेशन रिपोर्ट' से लिए गए हैं। महसूल के लिए देखिए 'आईन', अनुवाद, I 275, बदायूंनी, ii 78; परकास, 1 iii, 221, में हाकिंस

और तुजुक, I 71 किसानों के देशांतरण के लिए देखिए बर्नियर, 205, 231। सिंध और अजमेर में वसूल किए जाने वाले राजस्व की दरें 'आईन', अनुवाद में ii 338 और 267 में दी गई है।

संदर्भ

1. उत्तर भारत मे रैयत शब्द के अर्थ में जो परिवर्तन हुआ है उस मे इस प्रक्रिया की झलक देखी जा सकती है। अकबर-कालीन साहित्य मे इस शब्द का अर्थ मुख्यत: प्रजा है। आज इसका अर्थ आम तौर पर पट्टेदार होता है, लेकिन आधुनिक जमीदार आज भी कभी कभी पुरानी मान्यता के प्रभाव मे अपने पट्टेदारो को अपनी प्रजा मानते हैं और उनके साथ वैसा ही व्यवहार करते हैं।
2. पाठ मे जो अक दिए गए है वे निकटतम हैं। वास्तविक सूचियो में दरें और जीतलो मे दी गई हैं। जीतल रुपये का निकटतम हजारवा भाग था। इस सबध मे कुछ शका है कि हरेक किसान से सूची मे दी गई दरो मे ही वसूली की जानी थी या ये दरें राजस्व उपगाहने वालो के मार्ग दर्शन के लिए थीं, लेकिन यह प्रश्न व्यावहारिक दृष्टि से कोई खास महत्व नहीं रखता, क्योकि यह बात काफी हद तक निश्चित है कि मागी जाने वाली रकमे मानक दरो के बिलकुल बराबर नहीं तो लगभग बराबर तो होती ही थीं। बीघा जमीन के पैमाइश की इकाई था जो आधे एकड से कुछ अधिक होता था।
3. टेरी ने ऐसा विवरण देने की कोशिश की, लेकिन परिणाम निराशाजनक ही रहा। उसने देश को बहुत कम देखा था–सिर्फ सूरत और माडू के बीच के क्षेत्र की उसे जानकारी थी। उसकी बातो मे से बहुत-सी तो काफी दिलचस्प है, लेकिन उन्हें विस्तृत क्षेत्रो पर लागू नहीं किया जा सकता, और वह बहुत-सी ऐसी चीजो को या तो लिपिबद्ध नही कर पाया था या शायद देख ही नही पाया था, जो उसके द्वारा देखे गए छोटे से क्षेत्र की स्थिति को ठीक से समझने के लिए अनिवार्य है।
4. परिशिष्ट 'क' मे मैंने 'आईन' मे दी गई सूचियो के आधार पर एक समेकित सूचि दी है और साथ ही समकालीन विवरणो के आधार पर तैयार की गई दक्षिण भारत की फसलो की भी एक सूची है।
5. अकबर के मूल्य निर्धारको ने बाजरे को जो नीचा दर्जा दिया था उसकी हमे उम्मीद न थी। संभवत: मूल्य मे कुछ फर्क होने के कारण ऐसा हुआ हो।
6. टेरी (परकास II, IX, 1469) कहता है वे अपनी जमीन पाद-हलो से जोतते है इस काल के इंग्लैंड के पाद-हल बहुत कुछ भारतीय हलो जैसे रहे होंगे, जो मुख्यत. लकडी का बना होता है और जिसमे न पहिया होता है और न ढला हुआ फल लेकिन मुझे इसका कोई इतना स्पष्ट वर्णन नही देखने को मिला, जिसके आधार पर कह सकू कि दोनो मे कोई बडा अंतर था या नही।
7. 1 'साधारण खेती' से यह तात्पर्य उस क्षेत्र से है जिसमे लगातार कई अनुकूल वर्षों तक औसतन खेती की जाती रही हो।
8. यहा यह बता देना शायद वांछनीय होगा कि 'आय' शब्द से तात्पर्य नकद राशि से नहीं, बल्कि पैदा की जाने वाली वस्तुओ से है।
9. 'आरंभिक वर्षों' से तात्पर्य शुरु के एक दो वर्षों से नहीं है, क्योकि इस अवधि मे तो जमीन को तैयार करने की कठिनाइयो के कारण पैदावर कम होती है। हमारा तात्पर्य इन कठिनाइयों के दूर हो जाने के बाद के चद वर्षों से है। अकबर की कराधान व्यवस्था में इन प्रारंभिक कठिनाइयो के लिए गुजाइश रखी गई थी। जब नई जमीन को तोडा जाता था, उस वर्ष उस पर नाममात्र को मालगुजारी ली जाती थी और पूरी मालगुजारी पाचवें वर्ष से ली जाने लगती थी ('आइन' अनुवाद II, 68)।
10. जो जमीन ढलवा हो कि वर्षा आदि प्राकृतिक कारणो से क्रमश: क्षरित होती रहे वह इस कथन का अपवाद होगी, क्योकि उसकी उत्पादन-शक्ति में तो बराबर कमी आती ही रहेगी। किंतु पाठ मे जो सामान्य दलील दी गई है उस पर इस अपवाद का कोई असर नहीं पडेगा, क्योकि एक स्थान की जमीन के क्षरण से जो क्षति होगी उसकी पूर्ति दूसरे स्थान की जमीन से हो

जाएगी और एक ओर जहां हर साल बहुत अच्छी मिट्टी काफी परिणाम में बहकर समुद्र में चली जाती है वहीं दूसरी ओर ऊंची सतहों से बहुत-सी अच्छी मिट्टी बह कर खेतों में पहुंचती रहती है। जब जमीन का कटाव इतना अधिक होता है कि वह खेती करने लायक ही न रह जाए तो उसका परिणाम उसी हद तक देश के शेष भाग की औसत पैदावार की वृद्धि के रूप में प्रकट होता है, यद्यपि देश की कुल आमदनी में कमी आ जाती है।

11. बिहार में नील की खेती का इतना अधिक विकास अभी हाल में हुआ है, देखिए इंपीरियल गजेटियर iii 70।

12. कोई आधी सदी बाद बर्नियर ने लिखा (पृष्ठ 437) कि बंगाल के पास अपने उपभोग के लिए और जहाजों पर काम करने वाले लोगों को खिलाने के लिए काफी गेहूं हुआ करता था, लेकिन उसने ऐसी कोई बात नहीं लिखी जिससे प्रकट होता हो कि उसके पास निर्यात के लिए अतिरिक्त गेहूं भी था।

13. बंगला शब्द के गोलमोल अर्थों में प्रयोग किए जाने का एक उदाहरण हाकिंस का वह विवरण है जिसमें उसने पटना को 'बंगाल की सीमा पर स्थित' नगर बताया है। (परकास, 1 तीन, 221)। कुछ वर्ष बाद इस नगर का वर्णन बंगाल के सब से प्रमुख व्यापारिक शहर के रूप में किया गया है (इंगलिश फेक्टरीज 1616-21, पृ० 212)।

14. 'द एग्रिकल्चरल स्टेटिस्टिक्स आफ अकबर्स इम्पायर' शीर्षक अपने शोध प्रबंध में जिसका उल्लेख अध्याय 1 के प्रमाण श्रोतों में किया गया है—जैसे कि मैंने बताया है इन दरों में कुछ हेरफेर किया गया है; ताकि इस संबंध में होने वाली कुछ स्पष्ट भूलों को दूर किया जा सके। सीधे इन आंकड़ों के आधार पर निकाली गई दरों से तो पूर्वी क्षेत्रों की औसत पैदावार और भी अधिक माननी पड़ेगी।

15. सहसा यह विश्वास नहीं होता कि इस क्षेत्र में इतना बड़ा परिवर्तन हुआ है लेकिन मध्यवर्ती इतिहास पर दृष्टि डालने से स्थिति स्पष्ट हो जाती है, 18वीं सदी की राजनीतिक उथल-पुथल के दौरान दिल्ली के आसपास के इलाकों में पुरानी कृषि प्रणाली मिट गई और ब्रिटिश शासन की स्थापना के बाद यहां 1794 के आसपास की खेती की एक नई शुरुआत की स्थिति का बहुत ही सजीव वर्णन ट्विनिंग की 'ट्रैवेल्स आफ इंडिया' में किया गया है।

16. 'आईन' में प्राप्त 'बारह सूबों का विवरण' के अनुसार बंगाल में राजस्व सिक्कों में अदा किया जाता था। (ii, 122) और बिहार में किसान जर अदा करता था (ii, 151) जिसका मतलब भी मेरी समझ से नकद अदायगी ही है। अजमेर में नकद अदायगी का बहुत कम चलन था (ii, 267); अन्य सूबों के संबंध में इस विषय का कोई उल्लेख नहीं मिलता। किंतु हमें यह याद रखना चाहिए कि स्थानीय अधिकारियों को उगाही का हिसाब निश्चित दरों से नकदी में देना पड़ता था, और यह संभव प्रतीत नहीं होता कि अगर उत्पाद की बिक्री पर होने वाले घाटे को पूरा करने की जिम्मेदारी भी किसानों पर ही न रही हो तो स्थानीय अधिकारी उन्हें जिंसों में लगान अदा करने के लिए प्रोत्साहन देते रहे हों।

17. सीधे किसानों से चीजें नहीं खरीदी जाती रही हों। ऐसी बात नहीं थी। 1614 में हम निकोलस विदिंगटन को आगरा के निकट ईस्ट इंडिया कम्पनी के लिए नील की खरीदारी करते देखते हैं, लेकिन जैसा कि हम आगे देखेंगे, यूरोप को निर्यात के लिए नील लगभग एकामात्र कृषि उत्पादन था जिसकी कोई मांग थी, और ऐसी खरीदारी का संबंध बहुत थोड़े से किसानों से था। निर्यात के लिए अन्न, तिलहन और कपास आदि की सीधी खरीदारी बहुत हाल में शुरू हुई है।

18. मि० लवडे कृत 'हिस्ट्री ऐंड इकनामिक्स आफ इंडियन फेमींस (1914) के परिशिष्ट 'ए' में उन अकालों की सूची दी गई है जिनके लिखित विवरण उपलब्ध हैं।

19. इस उद्योग से जुड़े आम जोखिमों के उदाहरण के रूप में टैवर्नियर के इस कथन (पृ० 197) को लिया जा सकता है कि दिल्ली में राज्य के अधिकांश हाथियों को पेड़ों के पत्ते, ईख या मोटे अनाजों के पौधे चराने के लिए हर रोज बाहर ले जाया जाता था, जिससे किसानों को बहुत नुकसान होता था। दुर्भाग्य की बात है कि परिवहन के काम आने वाले राज्य के पशुओं को मुफ्त का चारा खिलाने की परंपरा देश के इस और कई अन्य हिस्सों में आज भी कायम है।

20. उत्तर भारत से जिनका ठीक परिचय नहीं है उन पाठकों को बता देना शायद वांछनीय है कि लगान और राजस्व में अंतर है। आज काश्तकार लगान अदा करता है। और लगान में मिली राशि में से जमींदार राजस्व अदा करता है। अकबर के अधीन आम तौर पर जमींदार नहीं हुआ करते थे और किसान राज्य को सीधे राजस्व दिया करते थे। इसलिए उन दिनों के और आज के राजस्व का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए लगान की तुलना राजस्व से करना स्पष्टतः भूल होगी, लेकिन यहां हमारा सरोकार राज्य को क्या मिलता था, इससे नहीं बल्कि किसान क्या अदा करता था, इस बात से है। इसलिए हमें अकबर के राजस्व की तुलना आधुनिक जमींदारों द्वारा लिए जाने वाले लगान से करना है। जैसा कि हम देखेंगे, अकबर का राजस्व आधुनिक लगान का प्राय दोगुना था और इस तरह वह आधुनिक राजस्व से, जो लगान का प्राय आधा है, चौगुना था।
21. अकबर के साम्राज्य में बीघा ठीक ठीक कितना बड़ा था, यह मालूम नहीं है, लेकिन वह शायद 0.538 और 0.625 एकड़ के बीच था। पाठ में फसल के सामने छोटे बड़े दो आंकड़े दिए गए हैं। ये बीघे के इन न्यूनतम और अधिकतम दो अनुमानों पर आधारित है। संभव है कि वास्तविक मांग पाठ में दिए गए आंकड़ों के बीच की कोई राशि रही हो, क्योंकि बीघे का आकार अलग-अलग स्थानों में प्रचलित अलग-अलग पैमाने के कारण बदलता रहता था। लेकिन शायद वह न्यूनतम की अपेक्षा अधिकतम अंक के ज्यादा निकट पड़ता था। इस प्रश्न की चर्चा 'द एग्रिकल्चरल स्टैटिस्टिक्स आफ अकबर्स इंपायर' शीर्षक शोध निबंध में की गई है, जिसका उल्लेख हमें पहले अध्याय के प्रमाण स्रोतों की सूची में कर आए हैं।
22. यह हिसाब सर्वथा यथार्थ नहीं माना जा सकता क्योंकि अकबर काल के बाद से जो नई फसलें इन इलाकों में उगाई जाने लगी हैं उनकी अकबर कालीन दरें हमें ज्ञात नहीं है। जहां ऐसा प्रसंग आया है वहां मैंने अपेक्षाकृत सस्ती फसल की दर ले ली है, जैसे कि मक्के की दर लगभग ज्वार की दर के बराबर रखी गई है। मैंने अकबर की कपास संबंधी राजस्व दर को छोड़ दिया है, क्योंकि संभव है कि इस फसल की किस्म में अब गिरावट आ गई हो। कपास की दर मैंने गेहूं से कुछ कम रखी है। जहां एक ही फसल की किस्मों के भेद के कारण दरों मे अंतर देखा (जैसे कि चावल और गन्ने की दरों में) वहां मैंने निचली दर को ही लेकर चलना निरापद माना है।
23. आईन-ए-अकबरी के तीसरे भाग में जब्त और जरीब (कूतने और नापने के कामों) में लगे अधिकारियों को दिए जाने वाले जबीताना और जरीवाना नाम के दो शुल्कों का उल्लेख हुआ है। संभव है कि ये शुल्क खजाने से दिए जाते रहे हों, लेकिन मैं समझता हूं कि उससे बहुत अधिक संभावना इस बात की है कि ये शुल्क प्रजा से लिए जाते रहे हों। जरीवाना शब्द संयुक्त प्रांत के कुछ हिस्सों में अब भी प्रचलित है, लेकिन उसका अर्थ बदल गया है। किसान अब उसका प्रयोग अधिकारियों द्वारा लगाए गए जुर्माने के अर्थ में करता है और इस शब्द को चाहे सायास दो अर्थ दिए गए हों, या अनजाने ही इसके दो अर्थ हो गए हों मुझे तो दो-अर्थी होने से यही लगता है कि किसानों के लिए जरीवाना का अर्थ अब भी राज्यधिकारियों द्वारा मनमाने तौर पर वसूल की जाने वाली रकम है और कानूनन लगाए गए जुर्माने का भी अर्थ वह यही मानता है।

5

गैर कृषि-उत्पादन

सामान्य स्थिति

आज भी आम तौर पर आंतरिक उत्पादन की अपेक्षा विदेश व्यापार का अध्ययन करना अधिक सुगम है, और आश्चर्य नहीं कि सोलहवीं सदी के भारत के लिए भी यह उतना ही सच है। कारण, हमारी अधिकांश जानकारी के स्रोत वे समकालीन लेखक हैं जिनका सरोकार मुख्यत: व्यापार से था और इसलिए उन्होंने उत्पादन का उल्लेख उसी हद तक किया है, जिस हद तक उसका संबंध निर्यात की जाने वाली वस्तुओं की आपूर्ति से था। फलत: औद्योगिक स्थिति का ऐसा कोई तत्कालीन विवरण हमें उपलब्ध नहीं है जिसे पूर्ण या संतोषजनक माना जा सके। 'आईना-ए-अकबरी' में 12 सूबों का जो वर्णन किया गया है उसमें खनिज और औद्योगिक उत्पादन की भी चर्चा की गई है, लेकिन उससे मिलने वाली जानकारी किसी भी तरह पूर्ण नहीं मानी जा सकती। कुछ आधुनिक लेखकों की तरह अबुल फजल ने भी आम जनता के उपभोग की वस्तुओं के बजाय विरल और असामान्य कोटि के उत्पादनों की ओर अधिक ध्यान दिया है। इसी प्रकार यूरोपीय लेखकों द्वारा भी देश के प्रमुख उत्पादनों के नजरअंदाज कर दिए जाने की पूरी संभावना थी, क्योंकि उनकी दिलचस्पी कुछ ऐसी वस्तुओं में थी जिन्हें खर्चीले परिवहन के बावजूद योरप में लाभ-कर ढंग से खपाया जा सकता था। फलत: विभिन्न प्रकार के उत्पादनों के सापेक्ष महत्व का सही अंदाजा लगा पाना उतना आसान नहीं है। आगे के अनुच्छेदों में मैंने मुख्यत: उन्हीं वस्तुओं पर विचार करने की कोशिश की है जो परिमाण की दृष्टि से महत्वपूर्ण थीं, क्योंकि उनका उत्पादन पर्याप्त मात्रा में होने से ही था तो वे जन-साधारण के उपभोग के काम आ सकती थीं या निर्यात व्यापार का आधार बन सकती थीं। इस बात को ध्यान में रखते हुए मैंने आंतरिक उपभोग और विदेश व्यापार के संबंध में उपलब्ध जानकारी का बेझिझक उपयोग किया है।

कुल मिलाकर देखें तो कहा जा सकता है कि उस काल में भारत लगभग आत्मनिर्भर था और गिनती के धातुओं तथा कच्चे माल के अलावा आबादी के एक छोटे हिस्से के उपभोग के लिए आवश्यक विलास सामग्री का ही आयात करता था। आत्मनिर्भरता के लाभों को कुछ लोग इतना अधिक महत्व देते हैं कि आरंभ में ही यह बता देना वांछनीय है कि इस शब्द का प्रयोग मैं मात्र एक आर्थिक वास्तविकता की अभिव्यक्ति के लिए कर रहा हूं. इसका अर्थ यह न लगाया जाए कि मैं इस वास्तविकता को अच्छा या बुरा मानता हूं, मसलन आम लोग देश में ही पैदा किया गया अन्न खाते थे और देश में ही तैयार किया कपड़ा पहनते थे; इसका अर्थ यह नहीं लगाया जा सकता कि उन्हें खाने को पर्याप्त अन्न या पहनने ओढ़ने के लिए कपड़े सुलभ थे।

आज के अपने कपड़े के लिए दुनिया के दूसरे हिस्सों पर पहले की अपेक्षा अधिक निर्भर हैं यह परिवर्तन अच्छा भी हो सकता है और बुरा भी और कभी-कभी यह कहना संभव नहीं होता कि असलियत क्या है बहरहाल यह चर्चा मेरे वर्तमान प्रयोजन की परिधि के बाहर है, क्योंकि अभी तो मेरा उद्देश्य सिर्फ यह बताना है कि आत्म-निर्भर शब्द किस सीमा तक लागू होता है। इस प्रयोजन के लिए हम उपभोग की वस्तुओं का वर्गीकरण मोटे तौर पर इस प्रकार कर सकते हैं--खाद्य-सामग्री, कपड़ा, धातु निर्मित वस्तुएं, और विलासिता तथा प्रदर्शन की वस्तुएं। उत्पादन के लिए आवश्यक वस्तुओं का वर्गीकरण कच्चे माल और औजारों या मशीनों के रूप में किया जा सकता था। साधारण लोगों की जरूरत का सारा अन्न और दूसरे भोज्य पदार्थ देश में पैदा किए जाते थे यद्यपि हमेशा इतनी मात्रा में नहीं कि, उनकी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति होती रही हो। खाने पीने की चीजों में सिर्फ फल, मसाले और मद्य का आयात किया जाता था।[1] इसी तरह शतप्रतिशत साधारण कपड़े देश में ही बनते थे। लेकिन रेशमी कपड़े, मखमल और चौड़ा, कपड़ा ये सब बाहर से मंगाए जाते थे। दूसरी ओर देश में धातुओं की बेशक बहुत कमी थी, और यद्यपि धातु निर्मित सभी वस्तुएं देश में ही तैयार की जाती थीं, कच्चे माल का बहुत बड़ा हिस्सा आयात किया जाता था। जहां तक विलासिता और तड़क-भड़क की वस्तुओं का संबंध है, उनके उत्पादन में भारत के बहुत से कारीगर लगे हुए थे, फिर भी नएपन के मोह के कारण विदेशों से आई नए नमूने की चीजें तो एक बार यहां खप ही जाती थीं, यद्यपि जैसा कि स्वाभाविक था, ऐसी चीजों की बड़े पैमाने पर और लगातार खपत नहीं होती थी।[2] उत्पादन के लिए आवश्यक उपादानों में इन दिनों मशीनों की आवश्यकता नहीं थी, और भारत में जो औजार इस्तेमाल किए जाते थे वे शायद देश में ही बनाए जाते थे। आयात किए जाने वाले कच्चे माल में कच्चा रेशम, हाथी का दांत, मूंगे, कछुए के खोपड़े, अम्बर आदि शामिल थे। सोना, चांदी, रांगा, जस्ता और पारा तथा देश के कुछ हिस्सों में तांबा, आदि धातुओं का भी आयात किया जाता था। इनके अलावा कुछ खनिज भी बाहर से मंगाए जाते थे—जैसे बोक्सार और गंधक। इनको छोड़कर देश में जो भी उद्योग थे उन सबके लिए कच्चा माल देश में ही उपलब्ध था। आगे के विभागों में मैंने एक तो कृषि उत्पादन के अलावा शेष प्राकृतिक संसाधनों के उपयोजन अर्थात मानवीय उपयोग के लायक बनाए जाने की प्रक्रिया तथा दूसरे, सभी प्रकार की उप-भोक्ता वस्तुओं के उत्पादन से संबंधित समस्त उपलब्ध जानकारी को सिलसिलेवार प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है।

जंगल और मछलीगाह

हम देख चुके हैं कि उन दिनों भारत के सभी हिस्सों में तो नहीं लेकिन ज्यादातर भागों में परती जमीन का अनुपात आज की अपेक्षा अधिक था, और बड़ी भूल की संभावना के बिना यह मान सकते हैं कि इन परती जमीनों पर किसी न किसी प्रकार का जंगल हुआ करता था। तत्कालीन साहित्य से ऐसा कोई संकेत नहीं मिलता कि पिछली सदी के दौरान जंगलों के परिरक्षण और उनके वैज्ञानिक उपयोजन (एक्सप्लायटेशन) के जो तरीके ईजाद किए गए हैं, उस तरह का कोई तरीका उन दिनों भी इस्तेमाल किया जाता था। जंगलों के उपयोजन पर केवल इतना प्रतिबंध था कि उसके

लिए केंद्रीय या स्थानीय शासन को कुछ शुल्क देना पड़ता था। इसलिए यदि हम आज के भारत के उन जंगलों की अवस्था की अपनी जानकारी का सहारा लें जिनके उपयोजन आदि का सरकारी तौर पर नियमन नहीं किया जा रहा है, तो हम अकबर के काल में जंगलों की स्थिति का मोटा अंदाजा पा सकते हैं। लेकिन आज की स्थिति की जानकारी का ब्यौरा देते हुए हमें दोनों कालों के परिवहन के साधनों के अंतर के लिए गुंजाइश रखनी पड़ेगी। जिन जंगलों तक पहुंचा ही नहीं जा सकता था उनसे आमदनी होने का प्रश्न ही नहीं उठता और आज की तुलना में उन दिनों ऐसे जंगल काफी रहे होंगे। लेकिन जो जंगल शहरों और गांवों की पहुंच के भीतर थे उनसे लोगों को लकड़ी, ईंधन और छोटे-मोटे उत्पाद प्राप्त होते रहते थे। जंगलों से ये चीजें किस मात्रा में प्राप्त की जाती थीं, यह जनसंख्या के घनत्व पर निर्भर था। किसी विशेष प्रकार के उत्पाद के बाजार में अपना एक स्थान बना लेने के बारे में हमें जो जानकारी मिलती है वह इस दृष्टिकोण से मेल खाती है। उदाहरण के लिए बंगाल के बांस, जिनकी जहाज बनाने में बहुत जरूरत होती थी, देश के जलमार्गों से सस्ते में चाहे जहां ले जाए जा सकते थे। इसी तरह पश्चिमी घाट का सागौन समुद्र तटीय क्षेत्रों के लिए, जहां बड़े बड़े जहाज बनाए जाते थे, सहज सुलभ था। यह कहना ज्यादा सही होगा कि तटीय प्रदेशों के उन स्थानों में जहाज बनाने का काम किया जाता था जहां उपयुक्त किस्म की लकड़ी पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध थी।

जब हम जंगलों के उत्पाद से देश को होने वाली आय का अंदाजा लगाने की कोशिश करते हैं तो देखते हैं कि वह अलग-अलग दिशाओं में काम करने वाली विभिन्न प्रवृत्तियों का परिणाम थी। चूंकि जंगल ज्यादा थे और खेत कम, इसलिए हम निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि गांवों के लोग आज की अपेक्षा कहीं अधिक जंगल के उत्पाद का स्वतंत्रतापूर्वक उपयोग करते थे और यह कहना शायद अनुचित न होगा कि इस दृष्टि से आज की तुलना में उन दिनों के लोग ज्यादा अच्छी स्थिति में थे। दूसरी ओर, नगरों और कस्बों के लोगों को ये सुविधाएं शायद आज से अधिक मात्रा में उपलब्ध नहीं थी, क्योंकि जंगल भले ही आज की तुलना में अधिक निकट रहे हों, लेकिन परिवहन के साधन उन दिनों बेहद खराब थे। इसके अलावा, ऐसा भी नहीं था कि संगठित उपयोजन (इक्सप्लायटशन) द्वारा दूरस्थ जंगलों से चीजें प्राप्त करके सुलभ कराई जाती रही हों। लेकिन यदि गांव वालों को जंगलों से ये लाभ थे तो दूसरी ओर जंगली जानवर उनकी फसलों को बहुत नुकसान भी पहुंचाते होंगे, जिस किसान को जंगल के उत्पादन से मनचाहा लाभ उठाने की सुविधा थी, ऐसे हर किसान के खेतों को इस तरह के नुकसान का खतरा बराबर बना रहता था, और जिन पाठकों को व्यावहारिक अनुभव है वे शायद इस राय से सहमत होंगे कि कुल मिलाकर स्थिति न लाभ की थी और न नुकसान की। इसलिए कृषि उत्पादन की ही तरह इस मामले में भी निश्चयपूर्वक यह नहीं कह सकते कि अकबर काल में आज की अपेक्षा औसत आय ज्यादा थी या कम, लेकिन हम यह बात विश्वासपूर्वक कह सकते हैं कि संपूर्ण देश को ध्यान में रखकर देखें तो वह बहुत कुछ आज की तरह थी।

मछलीगाहों की आमदनी के बारे में भी हम लगभग ऐसे ही निष्कर्ष पर पहुंच सकते हैं। 'आईन-ए-अक्बरी' से मालूम होता है कि बंगाल, उड़ीसा और सिंध के लोगों के भोजन में मछली का मुख्य स्थान था, और विभिन्न यात्रियों ने लिखा है कि दक्षिण

में इसका उपयोग आम था। कभी कभी उसे सुखाकर उसमें नमक लगा दिया जाता था, ताकि जहाजों पर काम करने वाले लोग अपने खाने के लिए उसे रख सकें। सिंध में मछली का तेल बनाया जाता था, और जब 1666 में थेवनो सूरत पहुंचा तब उसने पाया कि गुजरात में मछली की खाद का इस्तेमाल खूब होता था। मोटे तौर पर कहा जा सकता है कि उन दिनों भी मछलीगाहों की व्यवस्था बहुत कुछ आज के ही ढंग पर की जाती थी। लोगों की यह आम शिकायत शायद निराधार न हो कि मांग की तुलना में नदियों का मछली उत्पादन कम हो गया है, और यह कमी किस हद तक हुई है, यह इस बात पर निर्भर है कि जिन लोगों तक इस चीज को पहुंचाया जा सकता है उनकी संख्या कितनी है, यह भी संभव है कि समुद्रतट के मछलीगाहों से प्राप्त होने वाली मछली की मात्रा में भी कमी आई हो, यद्यपि उनकी उत्पादन-क्षमता प्राय: अनंत है। लेकिन यदि हम इस बात को ध्यान में रखें कि मछली खाने वाले लोगों की संख्या—अर्थात जिनके लिए मछली सिर्फ स्वाद की चीज नहीं बल्कि आहार का मुख्य अंग है कुल आबादी का एक अत्यल्प अंश भर है, तो यह बात बहुत असंभव प्रतीत होती है कि भले ही मछलीगाहों के उत्पादन में कमी आई हो—पूरी आबादी की औसत आमदनी पर उसका कोई विशेष प्रतिकूल प्रभाव पड़ा होगा।

दक्षिण भारत के मुक्ता केंद्रों के बारे में भी हमें यहां दो शब्द कह देना उचित है, जो भारत के इस भाग का भ्रमण करने वाले हर विदेशी यात्री का ध्यान स्वाभाविक रूप से आकृष्ट करते थे। मुक्ता केंद्रों की स्थिति समय समय पर बदलती रहती थी। कुछ वर्ष यह हिंद महासागर के भारतीय जलक्षेत्र में स्थित था तो कुछ वर्ष लंका तट पर, लेकिन यह जहां भी होता था वहां लोग बहुत बड़ी संख्या में एकत्र हो जाते थे। एक मिशनरी के अनुसार तो वहां साठ हजार लोग थे। जो विवरण हमें उपलब्ध है उनके आधार पर कहा जा सकता है कि आज की ही तरह उन दिनों भी यह उद्योग दरों के चढ़ाव उतार से बहुत अधिक प्रभावित होता रहता था। बेशक, उच्च वर्गो के लोगों के बीच मोतियों की बहुत मांग थी, लेकिन इस मांग की पूर्ति पर भारतीय जल क्षेत्र का एकाधिकार रहा हो, ऐसी बात नहीं थी। इसका आयात अनेक स्थानों से—खासकर फारस की खाड़ी से—होता था, और इस उद्योग से हासिल होने वाली आमदनी इसमें कार्यरत लोगों के लिए तो महत्वपूर्ण थी; लेकिन उस आमदनी को इतना नहीं माना जा सकता है कि पूरे देश की आबादी की आमदनी में उससे कोई खास फर्क पड़ता रहा हो।

खानें और खनिज पदार्थ

पिछले अनुच्छेद में यह बात साफ हो गई होगी कि इस काल में भारत में मछलीगाहों और मुक्ता केंद्रों तथा जंगलों के उत्पादनों की सीधी जानकारी देने वाले अभिलेख हमें बहुत कम मात्रा में उपलब्ध हैं। लेकिन खनिजों के संबंध में कुछ अधिक विस्तृत जानकारी उपलब्ध है, प्रतीत होता है कि 'आईन-ए-अकबरी' के संकलनकर्ता ने इसे काफी महत्वपूर्ण विषय माना था। पहले हम बहुमूल्य धातुओं को लें। सोने का उत्पादन, लगता है, नगण्य था। दक्षिण का भ्रमण करने वाले विदेशी यात्री इस विषय पर मौन हैं। इससे माना जा सकता है कि मैसूर के स्वर्ण क्षेत्रों का उपयोजन (एक्सप्लायटेशन) अभी आरंभ नहीं हुआ था। अबुल फजल इस धातु के बारे

में सिर्फ इतना बताता है कि उत्तरी भारत की कुछ नदियों की रेत को धोकर यह धातु निकाली जाती थी। चांदी भी बहुत नगण्य मात्रा में मिलती थी। अबुल फजल बतलाता है कि आगरा सूबे में चांदी की एक खान जरूर थी, लेकिन उसके उत्पादन से उसका खुदाई पर होने वाला खर्च भी नहीं निकल पाता था। इस प्रकार की कोई जानकारी आज हमें नहीं है और इसके अलावा इस संबंध में जो कुछ एक अस्पष्ट सी बातें कही गई हैं उनका आशय यह निकलता है कि यह धातु नदी-तलों की रेत को धोकर निकाली जाती थी और कुमाऊं के पहाड़ों को खोद कर प्राप्त की जाती थी। लेकिन कुमाऊं ऐसा क्षेत्र है, जिसके बारे में मुगल प्रशासन को कोई निश्चित जानकारी रही हो, ऐसा नहीं माना जा सकता।

भारत में मुख्य रूप से जिन अन्य धातुओं का उपभोग होता था वे थीं—पारा, टिन, रांगा, जस्ता, तांबा और लोहा। इनमें से पहले चार का तो मुख्यतः आयात होता था[3], यद्यपि राजपूताना में कुछ रांगा और जस्ता मिलते थे। दक्षिणी भारत को तांबा विदेशों से मिलता था, लेकिन उत्तर भारत स्थानीय खानों से निकाले गए तांबे पर निर्भर था। लोहे के लिए प्रायः पूरे देश को अपनी ही खानों पर निर्भर रहना पड़ता था। तांबे और लोहे के उत्पादन की स्थिति का ठीक अंदाजा लगाने के लिए इस बात को ध्यान में रखना जरूरी है कि भारत में ये पदार्थ धातु अवस्था में नहीं मिलते, और कच्चे तांबे या लोहे को धातु में परिवर्तित करने के लिए बहुत बड़ी मात्रा में ईंधन की आवश्यकता होती है। ईंधन की सुलभता इस उद्योग की स्थिति को प्रभावित करने वाली एक बहुत महत्वपूर्ण चीज है। इस काल में भारत में खानों से कोयला नहीं निकाला जाता था। लोहे और तांबे का उत्पादन उसी हद तक सीमित था जिस हद तक कच्चे लोहे या तांबे के भंडारों के पास ईंधन के लिए लकड़ी सुलभ थी। उत्पादन पर ईंधन की दुर्लभता के कारण जो रोक लगती है उसका व्यावहारिक रूप देश के कई भागों में पिछली सदी में देखने को मिली, जब अपेक्षाकृत बड़े पैमाने पर लोहे के उत्पादन का प्रयत्न किया गया। आरंभ में उद्योग ने कुछ प्रगति की, लेकिन शीघ्र ही स्थानीय तौर पर ईंधन मिलना बंद हो गया और ईंधन के परिवहन पर होने वाले भारी खर्च के फलस्वरूप यह उद्योग धीरे धीरे अलाभकार बन गया। इन प्रयत्नों के मामले में जिस बिंदु पर आकर लाभ समाप्त हो जाता था वह इस बात से तय होता था कि खुले बाजार में आयात किया गया लोहा किस भाव बिकता था। फलतः इस काल में सीमांत लाभ की समाप्ति की स्थिति पूर्ववर्ती काल की अपेक्षा, जब आयात व्यय अधिक था, जल्दी आ जाती थी। लेकिन यह सीमांत स्थिति आर्थिक दुनिया का एक ऐसा कठोर तथ्य था जिसका ख्याल उत्पादकों को करना ही पड़ता था। अगर वे बड़े पैमाने पर प्रयत्न करते रहे हों तो ईंधन की सुलभता जल्दी ही समाप्त हो जाती होगी, और ऐसी हालत में इस काम को तब तक के लिए बंद कर देना पड़ता होगा जब तक कि वहां फिर नए वृक्ष उगकर इतने बड़े न हो जाएं कि ईंधन को तरह उनका उपयोग किया जा सके। दूसरी ओर यदि वे अपने प्रयत्न को साल-दर-साल ईंधन की सुलभता की सीमा तक मर्यादित रखते होंगे तो मानना होगा कि यह प्रयत्न अत्यंत छोटे पैमाने पर किया जाता होगा। लोहा तैयार करने की पुरानी क्रिया तथा पिछली सदी में इस उद्योग का जिस हद तक अस्तित्व था उसके उपलब्ध विवरणों को देखने से मुझे लगता है कि इन सीमाओं के प्रभाव को उत्पादकों ने सचमुच महसूस

किया । उद्योग बड़े पैमाने पर संगठित नहीं था । इसके वजाय अलग अलग लोग जहां कच्ची धातु और ईंधन सुलभ था वहां छोटी छोटी भट्ठियां स्थापित करते थे और इन दो में से किसी भी वस्तु की सुलभता के समाप्त होते ही वे अपनी अपनी भट्ठियां उखाड़ लेते थे।[4] जहां कच्ची धातु की सुलभता समाप्त हो जाती थी वहां से तो ये अपना काम स्थायी तौर पर उठा लेते थे, लेकिन जहां कच्ची धातु पर्याप्त मात्रा में सुलभ रहती थी उस स्थान को ये तब तक के लिए त्याग देते थे जब तक कि नया जंगल न उग जाता था।[5] इस प्रकार यह उद्योग केंद्रीकृत न होकर विकेंद्रित था, आधुनिक मापदंड से देखने पर ढीला-ढाला और पूंजी के विनियोग की दृष्टि से तो सर्वथा अनुपयुक्त था। फिर भी कुल मिलाकर यह देश के उत्पादन की एक महत्वपूर्ण कड़ी था ।

तांबे के संबंध में, जैसा कि पहले ही संकेत किया जा चुका है, हमें उत्तर और दक्षिण भारत के बीच भेद करना होगा। मुझे इस बात का कोई लिखित प्रमाण नहीं मिला है इस काल में इस धातु का उत्पादन बंबई, मद्रास या हैदराबाद में कहीं होता रहा हो । इसके अलावा इन क्षेत्रों में तांबा तैयार करने की पुरानी क्रिया (वर्किंग्स) के प्रमाणों की भी बहुत अधिक जानकारी मुझे नहीं मिली है। दूसरी ओर पूर्वी और पश्चिमी तटों पर इस धातु के आयात के जो अनेक उल्लेख मिलते हैं उनसे प्रकट होता है कि इसका व्यापार खूब जमा हुआ था—यहां तक कि तांबे के सिक्के ढालने के लिए भी चीन से मंगवाई धातु पर निर्भर रहना पड़ता था। किंतु उत्तर भारत में जल-मार्ग से इसके आयात का कोई उल्लेख मुझे नहीं मिला है, न यह बंगाल की खाड़ी के रास्ते मंगवाया जाता था और न फारस की खाड़ी के रास्ते। तांबे और चांदी के सिक्कों की पारस्परिक विनिमय दरों में फर्क आते रहने का जो विवरण टैवर्नियर ने *दिया है उससे ऐसा संकेत मिलता है कि उसके काल में तांबा समुद्र-तटों के वजाय* मुख्यतः दिल्ली और आगरा के पास मिलता था। पुरानी क्रिया के चिह्नों के रूप में उपलब्ध साक्ष्यों के अलावा अबुल फजल के अनेक कथनों से प्रकट होता है कि उत्तर भारत के विभिन्न हिस्सों में तांबे की अनेक खानें थीं। उसने जिन स्रोतों का उल्लेख किया है वे हैं हिमालय पर्वत माला और आधुनिक राजपूताना के कुछ इलाके। देश के इन हिस्सों में पुरानी क्रिया के अनेक चिह्न विद्यमान हैं। इसके अलावा छोटा नागपुर और बुंदेलखंड में भी ऐसे निशान बड़े पैमाने पर मिलते हैं और आश्चर्य नहीं कि अकबर काल में यह धातु इन स्रोतों से भी प्राप्त होती रही हो, क्योंकि इन क्षेत्रों का अबुल फजल ने जो विवरण दिया है वह स्पष्टतः अपूर्ण जानकारी पर आधारित है और इस मामले में उसके मौन को हम कोई निर्णायक प्रमाण नहीं मान सकते। फिर भी, ऐसा लगता है कि उक्त काल में इस धातु का मुख्य स्रोत राजपूताना ही था।

तांबे के उत्पादन के परिणाम की हमें कोई निश्चित जानकारी नहीं है, लेकिन हम इतना जानते हैं कि यह धातु बहुत कीमती थी। अकबरी सिक्के में एक मन तांबे के लिए 1044 दाम दिए जाते थे। इस दर से देखें तो एक पौंड तांबे के लिए किसान को 84 पौंड गेहूं देना पड़ता होगा, लेकिन 1910-12 में एक पौंड तांबे का दाम सिर्फ लगभग 16 पौंड गेहूं था। इस प्रकार जिसकी आय का स्रोत कृषि उत्पादन था उसे तांबे की बनी वस्तुओं के लिए आज के मुकाबले कम से कम

पांच गुनी कीमत चुकानी पड़ती थी। हम यह निश्चित तौर पर मान सकते हैं कि यह कीमत इतनी ज्यादा थी कि इस धातु के उपयोग पर सहज ही एक प्रतिबंध लग जाता था, और उत्तर भारत के निम्न वर्गों के लोगों के बीच इसकी कोई विशेष मांग नहीं थी ; फलतः इसका उत्पादन बहुत कम होता था। हम यह बात भी निश्चयपूर्वक मान सकते हैं कि दक्षिण में भी उत्तर की अपेक्षा इसकी कीमत कोई खास कम न थी, अगर कम होती तो इस धातु का आयात करने वाले लोग अपना माल पश्चिमी तट की बजाय कैंबे में उतारते, जो उन दिनों की परिस्थितियों में काफी व्यावहारिक था। इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि कुल मिलाकर सोलहवीं सदी में तांबे और पीतल की चीजें अधिकांश लोगों के लिए पारंपरिक आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन न होकर व्ययसाध्य विलासिता की चीजें थीं।

लोहे का उत्पादन तांबे की अपेक्षा बहुत अधिक क्षेत्रों में फैला हुआ था और मैं मानता हूं कि इसका उत्पादन भी तांबे की तुलना में बहुत अधिक परिमाण में होता होगा। इस बात का कोई साक्ष्य नहीं मिलता कि भारत का कोई बहुत बड़ा हिस्सा इस धातु के आयात पर निर्भर रहा हो[6]। कच्चा लोहा देश के विभिन्न भागों में मिलता है और नदियों द्वारा लाई गई मिट्टी से बने मैदानी इलाकों को छोड़ कर देश के लगभग हर हिस्से में पूर्ववर्ती काल में लोहा तैयार करने की क्रिया के चिह्न मिलते हैं। दक्षिण भारत से छोटे पैमाने पर ही सही, लोहे का नियमित निर्यात होता था। उत्तर के संबंध में अबुल फजल का यह साक्ष्य उपलब्ध है कि बंगाल, इलाहाबाद, आगरा, बरार, गुजरात, दिल्ली और कश्मीर के सूबों में लोहे का उत्पादन होता था। उत्पादन का स्तर अक्सर बहुत ऊंचा होता था, और कम से कम दक्षिण में कारीगरों को इस्पात बनाने के तरीके मालूम थे और मेरा ख्याल है, पश्चिमी तट से निर्यात भी इस्पात का ही होता होगा। उत्पादन के परिमाण के संबंध में हम मोटा अंदाजा ही लगा सकते हैं। इस धातु के अनेक आधुनिक उपयोगों से लोग, बेशक, अनभिज्ञ थे। अकबरकालीन भारत में लोहे के पुलों, लोहे के धारीदार चद्दरों की छतों, तार के बाड़ों, लोहे के बक्सों और ऐसी ही दूसरी चीजों का निर्माण और उपयोग होता होगा, ऐसी आशा तो हमें नहीं ही करनी चाहिए। अकबर कालीन भारतीय भवन-निर्माण में लोहे के उपयोग का नितांत अभाव था, और मैं मानता हूं कि इस धातु का उपयोग मुख्यतः औजार शस्त्रास्त्र और कील, नाल, पेच आदि छोटी छोटी चीजें बनाने में ही किया जाता था। उत्तर भारत में इनमें से कुछ चीजों की कीमतों के बारे में अबुल फजल से थोड़ी बहुत जानकारी मिलती है, लेकिन अधिकांश मामलों में कोई संतोषजनक तुलनात्मक अध्ययन कर पाना कठिन है। उदाहरण के लिए, घोड़े के चारों पैरों की नालों की कीमत 10 दाम थी, लेकिन यह नहीं बताया गया है कि इन नालों में कितनी धातु का उपयोग होता था। कील या पेंच जैसी चीजों को लें तो मानना पड़ेगा कि उसकी कारीगरी उसके मूल्य निर्धारण में एक महत्वपूर्ण किंतु अनिर्णायक भूमिका अदा करती थी। जिस एकमात्र चीज के संबंध में तुलना संभव है वह है रोधक कील पिकेट-पेग। एक सेर रोधक कीलों की कीमत 3 दाम थी। इसका मतलब यह हुआ कि शाही दरबार में एक पौंड लोहे का मूल्य दस पौंड गेहूं था। लेकिन 1914 में यह कीमत तीन पौंड से कुछ ही ज्यादा थी। इस दृष्टि से देखें तो पाते हैं कि अकबर काल के

किसानों को अपने औजारों के लिए जरूरी लोहे के लिए आज के किसानों की तुलना में तिगुनी कीमत चुकानी पड़ती थी। अबुल फजल ने जो आंकड़े दिए हैं उनसे यह सामान्य निष्कर्ष निकलता है कि लोहा महंगा था, हालांकि इतना नहीं जितना कि तांबा था, और हमें इस धातु को विलासिता की कोटि में आने वाली वस्तु तो नहीं लेकिन आवश्यकता की श्रेणी में आने वाली ऐसी वस्तु अवश्य मानना चाहिए जिसके उपयोग में काफी मितव्ययिता बरतने की जरूरत थी।

धातुओं के अतिरिक्त दूसरे खनिजों में सबसे अधिक महत्वपूर्ण स्थान इस काल में नमक और हीरे का था। पहले हम हीरे को लें—इसलिए नहीं कि यह ज्यादा कीमती चीज है बल्कि इसलिए कि इसके उत्पादन के तरीकों के बारे में हमें जो जानकारी है वह खनिज उद्योग के बारे में ऊपर कही गई बातों को किसी हद तक पूरी करती है और इससे हमें रोजगार (इंप्लायमेंट) की अवस्था का भी थोड़ा अंदाजा मिलता है। कच्ची धातुओं की तरह हीरे भी भारत में भूमि तल के निकट ही मिलते है लेकिन कच्चे हीरे को तैयार करने में किसी प्रकार के ईंधन की आवश्यकता नहीं होती और फलतः इस उद्योग पर वे सीमाएं या रोक नहीं लगाते जो तांबे और लोहे के संबंध में लागू होते हैं। स्वभावतः हम देखते है कि हीरे की खानों में श्रमिकों का बहुत बड़ा जमाव हुआ करता था और हम यह मान सकते है कि वहां जिस प्रकार के संगठन की झांकी मिलती है वह इस काल के सबसे अच्छे औद्योगिक संगठन का नमूना है। टैवर्नियर ने जो, स्वयं एक बहुत कुशल जौहरी था, इस संगठन का वर्णन बहुत विस्तार से किया है। स्वभावतः इस विषय में उसकी बड़ी रुचि थी, और यद्यपि उसके विवरण का संबंध सत्रहवीं सदी के मध्य और उसके आगे के वर्षों से है, फिर भी हम ऐसा मान सकते हैं कि इसकी मुख्य विशेषताएं तो कम से कम उस काल से चली आ रही थीं जिस काल पर हम विचार कर रहे हैं। इस काल में दक्कन में हीरे के दो क्षेत्र थे। इनमें से एक में तो रेतीली मिट्टी में हीरे मिलते थे। इस मिट्टी से हीरा निकालने के लिए सिर्फ मिट्टी को छानने और परोरने की जरूरत पड़ती थी। दूसरे क्षेत्र में मिट्टी के लौंदे में से हीरा निकाला जाता था। पहले लौंदे को धोना पड़ता था और फिर ऊपर बताई गई क्रियाएं करनी पड़ती थीं। स्पष्ट ही इसमें अधिक श्रम की आवश्यकता पड़ती होगी, इसलिए यह समकालीन औद्योगिक प्रणाली का अधिक उपयोगी उदाहरण पेश करता है। टैवर्नियर के वर्णन के अनुसार बड़े पैमाने के संगठन जैसी कोई चीज नहीं थी। व्यापारी लगभग आधे एकड़ क्षेत्र को चुन लेता था और उस पर काम करने के लिए मजदूरों को लगा देता था, जिनकी संख्या कभी कभी तीन सौ तक भी पहुंच जा सकती थी।[8] सतह की मिट्टी को पुरुष खोदते थे और स्त्रियां तथा बच्चे उसे एक चार-दीवारी के अंदर इकट्ठा कर देते थे। वहां मिट्टी के बरतन में भरकर लाए गए पानी से उसे भिगो दिया जाता था। भिगोने से बने पतले कीचड़ को सुराखों से बहा दिया जाता था। इसके बाद जो रेत बच रहती थी उसे ओसा लिया जाता था। ओसाने से रेत के मोटे खुरदरे कण वहीं के वहीं जमीन पर गिर जाते थे और तब उन्हें लकड़ी से पीटा जाता था। अंत में हाथ से हीरे बीन लिए जाते थे। जिसे काम के भारतीय तरीकों का अनुभव है वह इस पूरी क्रिया की कल्पना आसानी से कर सकता है। टैवर्नियर के अनुसार हीरा-क्षेत्रों में साठ हजार

मजदूरों की भीड़ थी। हो सकता है, इसमें कुछ अतिशयोक्ति हो। जो भी हो, इतना तो निश्चित है कि इतने सारे मजदूर एक ही संगठन में नहीं थे। ये अनेक छोटी छोटी इकाइयों में काम करते थे और ये इकाइयां एक दूसरे से सर्वथा स्वतंत्र थीं। मजदूरी की दर टैवर्नियर को बहुत कम जान पड़ी। कुशल कारीगर को भी साल भर में सिर्फ तीन पगोडे मिलते थे। फलतः चोरी का लोभ इतना प्रबल था कि फी पचास मजदूरों पर 12 से 15 तक चौकीदार रखे जाते थे। पिछले अध्याय में हमने पगोडे के मूल्य का जो अनुमान लगाया गया है यदि उसी को मान कर चलें तो पाएंगे कि मजदूरी दर प्रतिमास एक रुपये से भी कम थी। स्पष्ट है कि इससे मजदूर किसी तरह अपना निर्वाह भर कर पाता होता। लेकिन अत्यंत बहुमूल्य पत्थरों की खोज करने वालों को बोनस भी दिया जाता था। शायद ऐसे ही शुभ संयोग या चोरी की आशा में मजदूर हीरे के क्षेत्रों में खिंचे चले आते थे। मजदूरी तो कम थी ही. लेकिन जाहिर है कि कुल मिलाकर काफी बड़ी रकमें मजदूरों में बंटती थीं और चूंकि टैवर्नियर के समय में इस क्षेत्र में लगभग एक सदी पूर्व से काम हो रहा था इसलिए हम यही निष्कर्ष निकालेंगे कि इस उद्योग से लागत खर्च तो मजे में निकल ही आता था, हालांकि (जैसा कि सट्टे की संभावना से युक्त सभी उद्योगों में होता है) मुनाफा बहुत कम था। अगर हम मजदूरी पर आने वाले खर्च को आधार मान लें और दूसरे खर्चों, रायल्टी तथा लाभ, के लिए पूरी गुंजाइश रखें तो हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचेंगे कि जब इस उद्योग में अधिक से अधिक मजदूर लगे रहते थे तब भी सभी स्रोतों के कुल वार्षिक उत्पादन का मूल्य उस समय की मुद्रा में बीस लाख रुपये से ज्यादा नहीं होता होगा। यह अधिकतम संख्या है और हो सकता है कि यह रकम वास्तविक रकम से कुछ ज्यादा भी हो। लेकिन जो भी हो, इस उद्योग का सिर्फ स्थानीय महत्व ही नहीं था, और जिन परिस्थितियों में यह उद्योग चलाया जाता था उनसे जिस आर्थिक स्थिति का संकेत मिलता है वह किसी भी तरह से आज की स्थिति से भिन्न नहीं थी। मतलब यह कि आबादी घनी थी और जीवन स्तर निम्न था, जिस उद्योग में ऐसा काम होता हो जिसे करना लोग जानते हों, उसकी ओर वे बहुत बड़ी संख्या में खिंचे चले आते थे, वहां काम करते हुए बहुत मामूली से नियमित पारिश्रमिक से संतुष्ट रहते थे, और इस आय में वे भाग्य से ही किसी वृद्धि की आशा रख सकते थे।

टैवर्नियर ने हीरों के जिस तीसरे स्रोत का वर्णन किया है वह उपर्युक्त दोनों से कम महत्व का था। यह स्रोत छोटा नागपुर की एक नदी का रेतीला तल था। वहां के लोग हर साल जनवरी अथवा फरवरी महीने के बाद रेत में इन रत्नों को ढूंढते थे, क्योंकि इन दिनों नदी में पानी कम होता था और खरीफ की फसलें कट चुकी होती थीं। इस प्रकार यह काम बेकारी के दिनों के रोजगार की श्रेणी में आता था और फलतः कुछ महीने बाद ही इसे बंद कर देना पड़ता था, क्योंकि वर्षा ऋतु के आरंभ हो जाने पर स्पष्ट ही इसे करना संभव नहीं रह जाता होगा। दक्षिण के स्थायी हीरा क्षेत्रों की तुलना में यहां बहुत कम हीरे मिल पाते थे, लेकिन संयोगवश कोई कीमती रत्न हाथ लग जाने की आशा निःसंदेह इतनी प्रबल होती थी कि यहां भी हीरे की तलाश करने वाले लोग काफी बड़ी तादाद में आ पहुंचते थे। टैवर्नियर के अनुसार तो इनकी संख्या 8,000 थी।

इस काल में नमक के उत्पादन का काफी महत्व था और जहां तक मैं जानता हूं देश की जरूरत पूरी करने के लिए किसी खास बड़े पैमाने पर इसका आयात नहीं होता था। उसके स्रोत वही थे जिनसे हम आज भी भली भांति परिचित हैं। अर्थात सांभर झील, पंजाब की खानें और समुद्र का जल। आंतरिक व्यापार बड़े पैमाने पर होता था, ऐसा जान पड़ता है। धातुओं की ही तरह इसके उत्पादन की मात्रा की भी हमें कोई सीधी जानकारी नहीं है, लेकिन कीमतों की तुलना से हम उसके परिमाण का एक मोटा अंदाजा लगा सकते हैं। खाद्यान्नों की दृष्टि से देखें तो पाते हैं कि 1914 के उत्तर भारत की तुलना में अकबरी दरबार के पास के इलाकों में नमक सवा दो गुना अधिक महंगा था, और चूंकि दरबार आम तौर पर आवश्यक वस्तुओं की आपूर्ति के मुख्य स्रोतों के आस पास ही स्थित होता था, इसलिए हम ऐसा निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि पूरे देश में औसत कीमत इससे कुछ ज्यादा ही थी। बीसवीं सदी के अनुभव से प्रकट होता है कि कीमत घटने से उपभोग में काफी वृद्धि होती है। और इसलिए यह संभव है कि अकबर काल में नमक के अपेक्षाकृत महंगा होने का मतलब यह हो कि उन दिनों नमक का प्रति व्यक्ति औसत उपभोग आज की अपेक्षा बहुत कम था। इस विषय में मतभेद हो सकता है कि आधुनिक काल में नमक के अपेक्षाकृत अधिक उपभोग का कारण अधिक मात्रा में उसका आयात किया जाना है या नहीं, लेकिन इसमें संदेह नहीं कि अकबर काल में इसका प्रति व्यक्ति औसत उत्पादन आज की अपेक्षा बहुत ज्यादा नहीं रहा होगा, बल्कि संभव है, कम ही रहा हो।

अब हम नमक की ही कोटि में आने वाले अन्य खनिजों को लें। शोरे का उत्पादन अवश्य होता था, लेकिन तब उसका महत्व बहुत कम था। इसे असली अहमियत तो बाद में मिली जब यूरोप को इसका निर्यात होने लगा। सोहागा, फिटकरी और गेरू जैसे अन्य खनिजों का उत्पादन छोटे पैमाने पर लेकिन इस दृष्टि से काफी होता था कि थोड़ी बहुत मात्रा में इनका आयात हो जाने से देश की औद्योगिक आवश्यकताएं पूरी हो जाती थीं। निम्नतर कोटि के खनिजों की बात लें तो इमारती पत्थर जहां कहीं भी मिलते थे, स्थानीय उपयोग के लिए उन्हें तोड़कर निकाला जाता था, लेकिन उन दिनों परिवहन की जो स्थिति थी उसके फलस्वरूप ऐसे पत्थरों के बड़े बाजार नहीं विकसित हो पाए होंगे। पत्थरों को दूर तक ढोने का मुझे एक उदाहरण मिला है। हम देखते हैं कि बेसीन के पत्थरों का उपभोग गोआ में होता था, जहां ये समुद्री मार्ग से ले जाए जाते थे। कहना न होगा कि सड़कों और रेलमार्गों के लिए पत्थरों के टुकड़ों का इस्तेमाल तो आधुनिक युग में होने लगा है।

अब हम अकबर के काल के खनिज उत्पाद और आज के खनिज उत्पाद के बीच मोटे ढंग से तुलना करने की कोशिश कर सकते हैं। जिन खनिजों के उत्पाद में कमी आई जान पड़ती है वे हैं—हीरा, लोहा, तांबा और कुछ कम महत्व के खनिज, जैसे रांगा, जस्ता, सोहागा और गेरू। हीरे के संबंध में मैंने कमी का जो अंदाजा लगाया है वह प्रतिवर्ष उत्पादित हीरे के अधिकतम मूल्य—अर्थात उस समय की मुद्रा में बीस लाख रुपए—को आधार मान कर लगाया है। उस काल में जहां हीरे का उत्पादन होता था वहां रुपए की क्रय शक्ति का हमें ठीक अंदाजा नहीं है, लेकिन अकबर के दरबार की अपेक्षा तो वह निश्चय ही कम थी। इसी तरह, इस मद में

आई अधिकतम कमी आधुनिक मुद्रा में एक करोड़ रुपए से बहुत कम मानी जानी चाहिए। अन्य खनिजों के संबंध में परिमाण का कोई अंदाजा लगा पाना संभव नहीं जान पड़ता, लेकिन हम देख चुके हैं कि तांबा एक विरल धातु था, और उसकी कीमत तो बहुत अधिक थी, फिर भी इसके आधुनिक उपभोग की मात्रा से तुलना करें तो मानना होगा कि उन दिनों इसका उत्पादन बहुत कम मात्रा में होता था। पिछले कुछ वर्षों में लोहे के उत्पादन का कितना विस्तार हुआ है उसको देखते हुए इसके संबंध में कोई तुलना करना बहुत कठिन है। संभव है, मौजूदा उत्पादन यदि अकबर काल के उत्पादन के बराबर न हो तो कम से कम उसके निकट तक पहुंच चुका हो, लेकिन यदि हम 1912 को आधार वर्ष मानें तो यह स्वीकार करना होगा कि इसके उत्पादन में बहुत कमी आई। लेकिन यदि इन खनिजों के उत्पादन में कमी आई तो दूसरी ओर अनेक सर्वथा नए खनिजों का भी उत्पादन होने लगा— जैसे कोयला, सोना, मैंगनीज और अन्य बहुत से छोटे-मोटे खनिज। प्रथम विश्वयुद्ध के पूर्व इन नए उत्पादों का कुल वार्षिक मूल्य 75 लाख पौंड तक पहुंच गया[9]। इसके अलावा गेरू से उत्पाद में वृद्धि हुई है और पत्थरों को तोड़ कर निकालने का काम खूब आगे बढ़ा है। हीरे के संबंध में जितनी कमी का अनुमान लगाया गया है उसे यदि 75 लाख पौंड में से निकाल दें और दूसरी मदों में आई छोटी मोटी कमियों को इसी तरह की बढ़ोत्तरी से संतुलित कर दें, तो कुल मिलाकर जितनी राशि शेष रह जाती है उसके मुकाबले अकबर काल में तांबे का जितना उत्पादन होता था और लोहे का जो अतिरिक्त उत्पादन होता था वह नगण्य जान पड़ता है; और पिछली तीन सदियों में जनसंख्या में जो वृद्धि हुई है उसके लिए गुंजाइश रखते हुए, यह निष्कर्ष निर्विवाद प्रतीत होता है कि खनिज उत्पादों से होने वाली प्रति व्यक्ति औसत मौजूदा आय अपने आप में कम होते हुए भी अकबर काल की तुलना में बहुत अधिक है।

कृषि संबंधित शिल्पकार्य

समकालीन वृत्तों और विवरणों के सतही अध्ययन से मन पर ऐसी छाप पड़ सकती है कि सोलहवीं सदी के अंतिम वर्षों में भारत में तरह तरह की वस्तुओं का निर्माण व्यापक रूप से होता था। कुछ दृष्टियों से यह धारणा भ्रामक है। यात्रियों ने जिन मार्गों से यात्रा की उनकी संख्या अपेक्षाकृत बहुत कम है और देश में ऐसे बड़े बड़े क्षेत्र हैं जिनके बारे में हमें कोई विवरण उपलब्ध नहीं है इसलिए हम तर्क संगत रीति से सिर्फ यही निष्कर्ष निकाल सकते हैं, कि उद्योगों का विकास परिवहन के कतिपय मुख्य मार्गों के इर्दगिर्द हुआ था, जैसे कि गंगा और सिंध के समानांतर चलने वाले क्षेत्रों में या आगरा से लाहौर अथवा पश्चिमी तट को जाने वाली सड़कों के आसपास। विश्लेषण करने पर ज्ञात होता है कि इन मार्गों पर उद्योगों का विकास कस्बों और नगरों में ही हुआ, जिनकी संख्या बहुत कम थी, और अहमदाबाद या लाहौर जैसे केंद्रों की औद्योगिक कारगुजारियों का जो बार बार वर्णन किया गया है उससे उन क्षेत्रों को जितने बड़े वे वास्तव में थे उससे बड़ा मान लेने का खतरा है। भूलों और भ्रमों के इन स्रोतों के लिए पूरी गुंजाइश छोड़ते हुए भी मुझे इसमें कोई शक नहीं जान पड़ता कि औद्योगिक दृष्टि से पश्चिमी यूरोप की तुलना में भारत की जो स्थिति आज है उससे ज्यादा अच्छी हालत अकबर

काल में थी और यात्रियों ने बार बार प्रशस्ति के स्वर में जो कुछ कहा है उसे उस हद तक सही माना जा सकता है जिस हद तक उसकी पुष्टि उन्हीं के कथनों में प्रस्तुत तथ्यों से होती है। लेकिन प्रस्तुत अध्ययन के लिए राष्ट्रों के बीच भारत की तुलनात्मक औद्योगिक स्थिति का कोई विशेष महत्व नहीं है, और इसके उल्लेख के पीछे मेरा मंतव्य सिर्फ उस अंतर को स्पष्ट कर देना है जिसे अक्सर नजर अंदाज कर दिया जाता है। पश्चिमी देशों की तुलना में भारत तब के मुकाबले आज बहुत पिछड़ गया है, इस तथ्य की स्वीकृति एक बात है, लेकिन यह कहना बिलकुल दूसरी बात है कि आज उसे उद्योगों से जो आय होती है वह अकबर कालीन आय से कम है, क्योंकि संभव है कि देश को विभिन्न उपयोगी वस्तुएं जिस परिमाण में तब उपलब्ध थी उससे बहुत अधिक परिमाण में आज उपलब्ध हों, लेकिन अन्य देशों ने उसकी तुलना में बहुत अधिक प्रगति कर ली हो। पिछली तीन सदियों के दौरान आबादी के अनुपात में देश की औद्योगिक आय का ह्रास हुआ है या वृद्धि यह ऐसा प्रश्न है जिसका उत्तर बिना तैयारी के नहीं दिया जा सकता, लेकिन उस काल में जो औद्योगिक प्रवृत्तियां चल रही थी उनके संबंध में उपलब्ध साक्ष्यों पर विचार करके हम इस प्रश्न का एक सामान्य सा उत्तर देने की कोशिश कर सकते है। इस प्रयोजन से इन प्रवृत्तियों का किसी न किसी प्रकार का वर्गीकरण करना आवश्यक है, इसलिए मैं इन्हें निम्नलिखित वर्गो में विभाजित करके इन पर विचार करूंगा कृषि उत्पादकों से बनाई जाने वाली वस्तुएं, आमतौर पर सभी दस्तकारियां, जहाज निर्माण तथा परिवहन के अन्य साधनों का निर्माण और अंत में विभिन्न वस्त्र उद्योग, जो वास्तव में सब से अधिक महत्वपूर्ण है।

पहले वर्ग में वे सभी उद्योग आते है जिनके जरिए कृषि उत्पादनों को उपभोग के योग्य बनाया जाता है। कुल मिलाकर ये उद्योग बहुत महत्वपूर्ण है, क्योंकि इनके माध्यम से जमीन से पैदा होने वाले बहुत से कच्चे माल का रूपांतरण किया जाता है चाहे वे अनाज हो या तिलहन, शक्कर हो या रेशे, औषध और मदिरा हो अथवा रंगने के पदार्थ, किंतु हमारे प्रस्तुत प्रयोजन की दृष्टि से यह बड़े दुर्भाग्य की बात है कि आज की ही तरह अकबर काल में भी अन्य प्रकार के कच्चे माल के सहारे काम करने वाले कारीगरों के उत्पादनों की तुलना में इन वस्तुओं के निर्माण की ओर लेखकों और वृत्तकारों का ध्यान बहुत कम गया।

सबसे पहले हम अनाजों के उपयोग को लें। मैं समझता हूं, यह मानना सर्वथा निरापद होगा कि सोलहवीं सदी में पिसाई का कोई संगठित उद्योग नहीं था। मुझे इस तरह का कोई संकेत नहीं मिला है और मै समझता हूं कि आज की ही तरह का उन दिनों भी आटा आदि तैयार करने का काम घर में ही किया जाता था। संभव है कि सूरत तथा अन्य बंदरगाहों में जहाजों के रसद के लिए कुछ अनाज पीसा जाता हो और इसी तरह देश के अदरूनी शहरों में यात्रियों और आगंतुकों की जरूरतें पूरी करने के लिए पिसाई का कुछ काम होता रहा हो, लेकिन अगर इस उद्योग का किसी हद तक केंद्रीयकरण हुआ भी रहा हो तो उसका संगठन बहुत ही प्रारंभिक और अपरिस्कृत ढंग का रहा होगा, जिसके तहत शायद कुछ स्त्रियां किसी अनाज व्यापारी के नियंत्रण में घरेलू चक्कियों में ही अनाज पीसा करती होंगी। इसी प्रकार जहां तक शकर का संबंध है अधिकांश कच्चे माल से गुड़ आदि किसान खुद बनाते होंगे[10]। लेकिन भारत के कुछ भागों में आधुनिक अर्थो में शकर का उत्पादन होता था। बंगाल इस उद्योग का मुख्य केंद्र था,

ग्रौर जैसा कि हम पहले ही देख चुके हैं, यह उत्पादन तटीय मार्ग से होकर मलावार तक ग्रौर गंगा नदी के रास्ते मुगलों की राजधानी तक ले जाया जाता था। मुझे शकर वनाने के तरीके का कोई उल्लेख कहीं देखने को नहीं मिला है, लेकिन उसके लिए चूर्ण शकर संज्ञा का उपभोग हुग्रा है, जिसका मतलव शायद यह है कि वह उसी प्रकार का दानेदार शकर था जिसका उपभोग उत्तर भारत में ग्राज भी खूव होता है। इस तरह का शकर काफी मात्रा में ग्रहमदावाद में भी सुलभ था लेकिन शकर की वह किस्म, जिसे मिश्री कहते थे, मुख्यतः लाहौर के ग्रासपास मिलती थी, हालांकि उसका उत्पादन कई ग्रौर शहरों में भी होता था दोनों किस्मों के शकरों की कीमतों में भारी ग्रंतर था। ग्रवुल फजल ने दरवार में एक मन चूर्ण शकर का मूल्य 128 दाम ग्रौर एक मन मिश्री की कीमत 220 दाम वताया है। हम यह मान सकते हैं कि मानक किस्म का उत्पाद चूर्ण शकर ही था ग्रौर मिश्री विशेष प्रकार का उत्पाद था। लेकिन ग्राजकल की कीमतों को ध्यान में रखकर देखने से पता लगता है कि घटिया किस्म का शकर भी महंगा था, क्योंकि क्रय-शक्ति में ग्राए परिवर्तन के लिए गुंजाइश रखते हुए भी उपर्युक्त दर प्रति मन 25 से 30 रुपये तक वैठेगी ग्रौर इस दर पर तो निश्चिय ही यह ग्रपेक्षाकृत निर्धन लोगों की पहुंच के वाहर की चीज होगी। इस प्रकार हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि ग्रकवर काल में सफेद शकर विलासिता की वस्तुग्रों की कोटि में ग्राता था ग्रौर इसका उत्पादन ग्राज की ग्रपेक्षा वहुत कम होता था, तथा निर्धनतर वर्गों के लोगों ग्रौर हलवाइयों को गुड़ पर ही निर्भर रहना पड़ता था[11]।

तेल पेरने का काम शायद वहुत ही पुराने तरीकों से किया जाता था, जो भारत में ग्राज भी देखे जा सकते हैं, लेकिन इसकी प्रक्रिया का कोई विवरण मुझे नहीं मिला है। मेरा ग्रनुमान है कि यह उन उद्योगों में से हैं जिनका ग्रकवर काल के वाद से पतन हुग्रा है। उस काल में इस उद्योग की तरक्की का कारण शायद यह था कि लोगों को खनिज तेलों की जानकारी नहीं थी। लेकिन इस उद्योग में परिवर्तन जिस हद तक ग्राया है, इसका संकेत देने वाले तथ्य उपलव्ध नहीं हैं। इसी तरह व्यापारिक स्तर पर कपास की ग्रोटाई के संवंध में भी कुछ कहना संभव नहीं है। शायद ग्रोटाई ग्रौर कताई ये दोनों काम कपास पैदा करने वाला किसान ग्रौर उसका परिवार ही करता था, लेकिन ग्राधी सदी वाद थेवनो के एक कथन से संकेत मिलता है कि कुछ स्थानों में इस काम का विशेषीकरण ग्रारंभ हो गया था। उसका कहना है कि ग्रहमदावाद के निकट उसकी मुलाकात मजदूरों की एक टोली से हुई। उन लोगों का कोई स्थाई घरवार नहीं था, वल्कि ये गांव गांव घूमकर कपास की ग्रोटाई ग्रौर सफाई या ग्रौर भी जो काम मिलता था, करते थे। हम यह मान सकते हैं कि सत्रहवीं सदी में उस ग्रावश्यकता का ग्रनुभव किया जाने लगा था, जिसकी पूर्ति ग्रव सभी प्रमुख कपास उत्पादक क्षेत्रों में ग्रोटाई के कारखाने लगा कर की जा रही है। यहां इस उद्योग के विस्तार की चर्चा करने की जरूरत नहीं है, क्योंकि इस पर हम वस्त्र उद्योग के सिलसिले में विचार करेंगे।

तंवाकू शिल्प ग्रकवर कालीन भारत में शायद ही ग्रारंभ हुग्रा हो। ग्रकवर के राजस्व ग्रधिकारियों को इस पौधे की कोई जानकारी नहीं थी, जिससे प्रकट होता है कि इसकी कोई उल्लेखनीय पैदावार नहीं थी। ऐसा माना जाता है कि तंवाकू का ग्रायात भारत में पुर्तगालियों ने किया ग्रौर सवसे पहले इसकी खेती गुजरात में ग्रारंभ हुई, जहां 1613 में इसके पत्ते सुलभ थे, लेकिन तंवाकू से कोई उपभोग सामग्री तैयार करने

की क्रिया का लोगों को ज्ञान नहीं था। वरार और मालवा में अफीम बनाने की कला पुराने जमाने से प्रतिष्ठित थी। बिआना उत्तर भारत का प्रमुख नील उत्पादक केंद्र था और यहां नील बनाने के जो तरीके प्रचलित थे उनका वर्णन विलियम फिंच ने किया है। ये तरीके मूलतः वही थे जिनका इस्तेमाल आधुनिक काल में इस उद्योग की चरमोत्कर्ष की अवस्था में किया जाता है हालांकि संगठन और तफसील के मामले में अनेक परिवर्तन हुए हैं[12]।

यहां मदिरा उत्पादन के संबंध में भी दो शब्द कहना चाहिए। मुगल बादशाह इस उद्योग को प्रश्रय देने के पक्ष में नहीं थे। अकबर ने कोतवालों को हुक्म दिया कि लोगों के घरेलू जीवन में दखल दिए बिना जहां तक इस पर बंदिश लगाई जा सकती है लगाई जाए, और जहांगीर ने तो, जो स्वयं बहुत बड़ा शराबी था, इसका बिलकुल निषेध ही कर दिया, किंतु निषेध के इस आदेश के पीछे शायद पूरी गंभीरता नहीं थी और इतना तो निश्चित है कि इसका पालन नहीं किया जाता था।[13] यूरोपिय यात्रियों के विवरणों में आसव से तैयार की गई शराब का उल्लेख बार बार हुआ है, जिससे प्रकट होता है कि ये चीजें देश में हर जगह आसानी से मिल जाती थीं। दक्षिण में मुख्यतः ताड़ के पेड़ की कोंपलों से और उत्तर में महुआ तथा छोआ से शराब बनाई जाती थी। इस तरह इन क्षेत्रों में शराब बनाने के लिए उन्हीं चीजों का इस्तेमाल किया जाता था जितना उपयोग आज किया जाता है, और हम ऐसा मान सकते हैं कि शराब बनाने की क्रियाएं वे ही थीं जिन्हें आज आबकारी प्रशासन की देखरेख में बदलने की कोशिश की जा रही है।

इस वर्ग के उद्योगों को कुल मिला कर देखें तो मैं समझता हूं ऐसा मानने का कोई कारण नहीं है कि जनसंख्या के अनुपात में इनसे होने वाली उन दिनों की आय और आज की आय में विशेष अंतर है। तंबाकू नहीं बनाई जाती थी और न ही सफेद शकर, लेकिन तेल शायद अधिक बड़े परिमाण में पैदा किया जाता था और यह संभव है कि आज के कड़े प्रतिबंधों और भारी आबकारी शुल्कों की स्थिति में मादक पदार्थों तथा मदिरा का जितना उपयोग होता है उसकी अपेक्षा उन दिनों अधिक होता रहा होगा। इसमें कोई शक नहीं कि उन्नीसवीं सदी में अकबर काल की अपेक्षा अधिक नील तैयार किया जाता था, लेकिन प्रथम विश्वयुद्ध के ठीक पहले के वर्षों में इसका उत्पादन बहुत कम हो गया था और संभव है कि इन वर्षों में यह उद्योग सोलहवीं सदी की अपेक्षा सीमित हो गया हो। यदि हम ह्रास और वृद्धि का हिसाब लगा कर संतुलन निकालने की कोशिश करें तो शायद इसी निष्कर्ष पर पहुंचेंगे कि कुल मिलाकर आज की अपेक्षा अकबर कालीन भारत की स्थिति या तो किंचित बेहतर थी या बहुत थोड़ी बदतर थी लेकिन जो जानकारी उपलब्ध है उसके आधार पर मुझे ऐसा मानने का कोई कारण दिखाई नहीं देता कि मध्यवर्ती काल में कोई भारी परिवर्तन आया है।

ग्राम दस्तकारियां

अब हम दूसरे वर्ग के उत्पादनों अर्थात वस्त्र उद्योग को छोड़कर बाकी सभी दस्तकारियों पर विचार करेंगे। इस संबंध में यात्रियों के विवरणों से जो धारणा बनती है वह यह है कि विविधता और कौशल—विशेषकर नकल के मामले में—प्रचुर मात्रा में विद्यमान थी, यद्यपि इन उद्योगों का कोई विशेष आर्थिक महत्व नहीं था। जौहरियों,

रजतकारों, इत्र आदि बनाने वालों तथा हाथी के दांत, मोतियों और सीपियों तथा कछुए की हड्डी से तरह तरह की सुन्दर वस्तुएं बनाने वाले जिन कारीगरों का विशेष उल्लेख हुआ है वे बहुत थोड़े से लोगों की जरूरतें पूरी करते थे, जिनमें शासक वर्ग के शाहखर्च लोग और घटती बढ़ती संख्या में कुछ विदेशी शामिल थे। इन कारीगरों द्वारा तैयार की गई चीजें काफी आकर्षक और कभी कभी कलात्मक भी हुआ करती थीं,[14] लेकिन उनके उद्योग का परिमाण कोई बहुत बड़ा नहीं था, और उनकी बनाई चीजों की जो कीमतें होती थीं उनका अधिकांश कारीगरों की कला और श्रम के बजाय उन्हें बनाने में प्रयोग की गई सामग्री पर होने वाले लागत के कारण होता था।

जिन उत्पादनों की खपत ज्यादा थी उन पर किंचित विस्तार से विचार करने की जरूरत है। पहले हम धातु उद्योगों को लें। हम देख चुके हैं कि तांबे और तांबे के मिश्रण से बनी चीजें विलासिता की सामग्री की कोटि में आती होंगी, क्योंकि इस धातु की कीमत इतनी ऊंची थी कि इसका उपयोग आम लोगों की सामर्थ्य के बाहर की बात थी, और लोगों के जीवन स्तर से संबंधित साक्ष्यों के आधार पर (जिनका विवेचन हम आगे के) अध्याय में करेंगे प्रकट होता है कि निर्धनतर वर्गों के लोगों के घरों में इस तरह की चीजों का सचमुच विरल उपयोग ही होता था। साधारण घरों में पानी के लिए छोटा सा लोटा तो हो सकता था, लेकिन इस तरह की धातु के बड़े बर्तन या थालियां रखने की औकात इनमें नहीं थी। इसलिए यदि इस उद्योग के विषय में हमें कोई जानकारी नहीं मिलती तो यह आश्चर्य की बात नहीं है। निश्चय ही आबादी के अनुपात में यह उद्योग आज की अपेक्षा बहुत छोटा रहा होगा। लोटा उद्योग की स्थिति बहुत कुछ इस धातु की ऊंची कीमत से प्रभावित थी। लोहे की छोटी छोटी चीजों का तो आम उपयोग होता था, लेकिन बड़ी चीजों का लगभग कोई इस्तेमाल नहीं होता था और जान पड़ता है कि आबादी के अनुपात में इस धातु से भी आज की तुलना में कम चीजें ही बनाई जाती थीं। इस धातु की अच्छी खासी खपत तलवार और दूसरे शस्त्रास्त्र बनाने वाले कारीगरों के यहां होती थी, क्योंकि उन दिनों बहुत से लोग अपने पास हथियार रखते थे और इसमें कोई संदेह नहीं कि अकबर काल के बाद से गैरसरकारी तौर पर इन हथियारों के निर्माण में कमी आई है, किंतु इस कमी के मुकाबले हम यह भी देखते हैं कि आजकल राजकीय कारखानों में भारी पैमाने पर शस्त्रास्त्र बनाए जा रहे हैं और इनका निर्माण निश्चय ही अकबर के कारखानों में बनाए जाने वाले हथियारों की अपेक्षा बहुत अधिक मात्रा में होता है। इसके अलावा देश भर में स्थापित लोहे के अनेक ढलाई कारखानों में जो भारी सामान बनता है उसको ध्यान में रख कर सोचें तो यह सम्भव प्रतीत होता है कि कुल मिलाकर सोलहवीं शताब्दी के मुकाबले आज इस उद्योग से बहुत अधिक आय होती है।

जहां तक मैं समझता हूं, धातु उद्योगों की तरह काष्ठ उद्योग के विकास में कच्चे माल का मूल्य बाधक नहीं था। परिवहन की कठिनाइयों के फलस्वरूप विशेष प्रकार की लकड़ियों की सुलभता शायद सीमित रही होगी, लेकिन संभव है कि बहुत से क्षेत्रों के परती पड़े रहने के कारण घर बनाने या खेती

के उपादान तैयार करने के लिए जरूरी लकड़ी आज की अपेक्षा ज्यादा आसानी से मिल जाती होगी। इस उद्योग की अपेक्षाकृत अधिक बड़ी शाखाओं में से जहाजों और परिवहन के अन्य साधनों के निर्माण पर तो मैं आगे के अनुच्छेद में विचार करूंगा, लेकिन फर्नीचर तथा बढ़ईगीरी से संबंधित वस्तुओं के निर्माण की चर्चा इसी अनुच्छेद में करनी है। अब देश में मध्यवर्ग ने अपना एक विशिष्ट स्थान बना लिया है और उच्च वर्गों की तरह बहुत हद तक पश्चिमी तौर-तरीकों को अपना लिया है। इस तथ्य को देखते हुए निःसंदेह आबादी के अनुपात में आज फर्नीचर आदि जितने बड़े परिमाण में बनाए जाते हैं उतने बड़े परिमाण में उन दिनों नहीं बनाए जाते होंगे। शासकों के महलों तक में बहुत थोड़े से फर्नीचर देखने को मिलते थे और सिवाय पुर्तगालियों या तटवर्ती मुसलमान व्यापारियों के दूसरे लोगों के घरों में कुर्सी या मेज के उपयोग का कोई उल्लेख मुझे नहीं मिला। लकड़ी के भारी सामान में चारपाई, संदूक और तिपाई, लगभग इन तीन चीजों की गिनती की जा सकती है। इनके अलावा शृंगारदान जैसी छोटी छोटी चीजों की भी अच्छी मांग थी। पुर्तगालियों को अपनी जरूरत की लकड़ी की चीजें कैंबे की खाड़ी के बंदरगाहों से मिल जाती थीं, और पाइरार्ड ने लिखा है कि अच्छी रोगन की हुई चारपाइयों और जड़ाऊ आलमारियों तथा ऐसी दूसरी चीजों का आयात गोआ में किया जाता था। पश्चिमी तट के मुसलमान व्यापारियों के घरों में फर्नीचर का उतना अभाव नहीं रहता था जितना भारत के अन्य भागों के लोगों के घरों में, क्योंकि बारबोसा का कहना है कि सूरत के निकट रांदेर नामक स्थान में इन लोगों के घर फर्नीचर से सजे थे। और उनका रख रखाव बहुत अच्छी तरह किया जाता था। लेकिन इन अपवादों को छोड़कर आमतौर पर फर्नीचर का उपयोग देश में नहीं के बराबर होता था। इस तरह मोटे तौर पर हम यह कह सकते हैं कि काष्ठ उद्योग कच्चे माल की कमी के कारण नहीं, बल्कि मांग के अभाव के कारण बहुत सीमित था।

इस काल के संबंध में जो साक्ष्य उपलब्ध हैं उनमें चमड़े की चीजों का उल्लेख बहुत कम हुआ है और हम अप्रत्यक्ष स्रोतों के सहारे इस विषय की जानकारी प्राप्त करने की कोशिश कर सकते हैं। स्पष्ट है कि चमड़े का भारी निर्यात और चमड़े की चीजों का आयात आधुनिक युग में होने लगा है और अकबर काल में भारत इन चीजों के मामले में कुल मिलाकर आत्मनिर्भर था। इस काल के बाद से जैसी परिस्थितियां रही हैं उनमें, हो सकता है, चमड़े और खालों की सुलभता मोटे तौर पर कृषक आबादी के अनुपात में घटती बढ़ती रही हो, और इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि चमड़ा उद्योग आज की अपेक्षा अधिक उत्पादक रहा होगा, क्योंकि एक ओर तो निर्यात न होने के कारण कच्चा माल प्रचुर मात्रा में उपलब्ध था और दूसरी ओर इस तरह की चीजों की जरूरत पूरी करने के लिए आयात का सहारा नहीं लिया जाता था। लेकिन इस दलील का औचित्य तभी हो सकता है जब हम मान लें कि जितना कच्चा चमड़ा सुलभ था उस सब से चमड़े की चीजें बनाई जाती थी। किंतु यदि मांग के अभाव में चमड़े के अधिकतर

भाग का उपयोग न हो पाता रहा हो तो यह मानना पड़ेगा कि जनसंख्या के अनुपात में इस तरह की चीजों का उत्पादन आज की अपेक्षा शायद कम होता होगा, और मैं ऐसा मानने के पक्ष में हूं कि वस्तुस्थिति शायद यही थी। आजकल देश में जितने चमड़े का इस्तेमाल होता है उसमें से अधिकांश जूते, मशक और जीन तथा साज बनाने के काम आता है। इन मुख्य उत्पादों की तुलना में बाकी उत्पादों का स्थान गौण है, और मेरे सामने ऐसा कोई महत्वपूर्ण मामला नहीं आया है जिसमें अकबर काल के बाद चमड़े का उद्योग बंद हो गया हो। इसलिए अगर देश के सभी कच्चे माल का इस्तेमाल किया जाता रहा हो तो इसका मतलब यह होगा कि उपर्युक्त चीजों में से कुछ का या सभी का आज की अपेक्षा बहुत अधिक उपभोग होता होगा, लेकिन मुझे ऐसा कोई संकेत नहीं मिला है जिससे माना जा सके कि वास्तव में स्थिति ऐसी थी। विदेशी प्रेक्षकों ने आम लोगों के जूते पहनने का उल्लेख विरल प्रसंगों में ही किया है। इस संबंध में उन लोगों के विवरण के रूप में जो साक्ष्य मिलते हैं उनकी चर्चा हम आगे के अध्याय में करेंगे, लेकिन ये साक्ष्य हमें जिस निष्कर्ष पर ले जाते हैं। उसका उल्लेख यहां किया जा सकता है। वह निष्कर्ष यह है कि जूते सम्भवत: आज की अपेक्षा कम पहने जाते थे।[15] यह मानने का भी कोई कारण नहीं है कि मशकों के सहारे सिंचाई का चलन आज से ज्यादा था। देश के कुछ हिस्सों में तो मशकों का उपयोग आज की तुलना में निश्चय ही बहुत कम होता था। इस तरह कुल मिलाकर इस प्रयोजन के लिए भी कम चमड़े की ही जरूरत पड़ती थी। जहां तक साज और जीन का संबंध है 'आईन-ए-अकबरी' में शाही अस्तबल में इस्तेमाल की जाने वाली चीजों का विशद विवरण दिया गया है, और ध्यातव्य है कि इस विवरण में चमड़े का उल्लेख अति विरल है। जीन मुख्यत: कपड़े के बनाए जाते थे और लगाम आदि रस्सी के बनाए जाते थे। गाड़ी खींचने के काम में घोड़े का इस्तेमाल बहुत कम किया जाता था और उस समय के प्रमुख परिवहन पशु बैल के साज में तो आज भी चमड़े का प्रयोग बहुत कम होता है। इसलिए यदि हम यह मान भी लें—हालांकि ऐसा मानने का कोई निश्चित आधार नहीं है—कि उन दिनों आज की अपेक्षा जानवरों का ज्यादा इस्तेमाल किया जाता था तब भी यह सिद्ध नहीं होता कि उनके साज सामान में चमड़े का प्रयोग ज्यादा होता था। वास्तव में इन चीजों का इस्तेमाल मुख्यत: उन्नीसवीं सदी से होने लगा है। इस प्रकार उन दिनों जनसंख्या के अनुपात में चमड़े की चीजों की खपत की गुंजाइश आज की अपेक्षा बहुत कम थी और ऐसी चीजों का कोई उल्लेखनीय निर्यात भी नहीं होता था। अत: मुझे यह निष्कर्ष उचित जान पड़ता है कि कुल मिलाकर यह उद्योग आज की तुलना में कम विस्तृत था और आज अगर कच्चे माल का निर्यात हो रहा है तो उसका कारण यह नहीं है कि एक प्राचीन उद्योग नष्ट हो गया है, बल्कि यह है कि जो वस्तु पहले बिना इस्तेमाल के बर्बाद हो जाती थी उसका अब ठीक उपयोग होने लगा है।

इस काल में कागज का उपयोग पूरे दक्षिण भारत में धीरे धीरे आरंभ

हो रहा था। देश के इस हिस्से का भ्रमण करने वाले पहले के यात्रियों ने लक्ष्य किया था कि सारा लेखन कार्य ताड़ के पत्तों पर होता था और यहां तक कि 1625 में भी जब डेला वेल ने नमूने की एक पांडुलिपि प्राप्त की तो वह उसके लिए ताड़ के पत्तों पर ही लिखी गई। पाइरार्ड का कहना है कि गोआ स्थित पुर्तगाली अपनी जरूरत के कागज का आयात यूरोप, चीन और कैबे के बंदरगाहों से करते थे, कैंबे के कागज का स्रोत क्या था, इसके संबंध में मुझे कोई निश्चित जानकारी नही मिली है। लेकिन मैं समझता हूं यह मान लेने में कोई हर्ज नही है कि उत्तर भारत के विभिन्न भागों में हाथ से कागज बनाया जाता था और यह विधि आज भी सर्वथा समाप्त नही हुई है। लेकिन कागज का उपयोग बहुत अल्प प्रमाण में होता था। शिक्षा का बहुत कम प्रसार था और जितना कुछ प्रसार था वह मुख्यतः प्राथमिक तक ही सीमित था। शिक्षा का तरीका शायद वही था जिसका अवशेष आज भी देखा जा सकता है और इस तरीके से शिक्षा देने में कागज का उपयोग बहुत कम करना पड़ता है। मिशनरियों ने 16वीं सदी में कुछ स्थानों में मुद्रण कला का प्रचार किया था, लेकिन उन दिनों धर्मेतर प्रयोजनों के लिए इसका उपयोग नहीं किया जाता था। सरकारी कार्यालयों में कागज का उपयोग होता था और हिसाब किताब के लिए व्यापारी भी उसका इस्तेमाल करते थे। इसके अलावा विद्वज्जन तथा सुलेखक पाडुलिपियां तैयार करने मे भी कागज का उपयोग करते थे, लेकिन छपी हुई पुस्तकें, अखबार, परिपत्र या पर्चे नहीं हुआ करते थे और पत्र बहुत कम लिखे जाते थे। इन तथ्यों के आधार पर हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचते है कि लिखने पढने की सामग्री का उत्पादन बहुत कम होता था।

जान पड़ता है, कुम्हारों के उद्योग की स्थिति वही थी जो आज है। वे आम लोगों के लिए मुख्यतः अपरिष्कृत ढंग के मिट्टी के बर्तन बनाते थे लेकिन संभव है, कुछ स्थानों में ज्यादा अच्छे किस्म के बर्तन भी बनाए जाते रहे हों। मुसलमान चीनी मिट्टी के बर्तनों का उपयोग खूब करते थे, लेकिन इन बर्तनों का आयात चीन से किया जाता था और ये पूर्वी देशों के साथ होने वाले व्यापार की महत्वपूर्ण वस्तुओं में से थे। यदि आबादी का अधिकतर भाग धातु के बर्तनों का उपयोग नहीं करता था तो मिट्टी के बर्तनो की खपत निश्चय ही अपेक्षाकृत अधिक होती होगी और कुम्हार आज की तुलना में ज्यादा व्यस्त रहते होंगे। कम से कम उत्तर भारत के संबंध में तो इस निष्कर्ष की पुष्टि इसी बात से हो जाती है कि आज इस जाति के लोग भारी संख्या में खेती के काम में लगे हुए है। अन्य भारतीय उद्योगों की तरह ही यह उद्योग भी पनप नहीं सका है और इसका ह्रास इस कारण हुआ कि उपभोक्ताओं को अपनी जरूरतें पूरी करने के इससे बेहतर साधन मिल गए।

वास्तु शिल्प या गृह निर्माण उद्योग की ओर ध्यान देने पर हम पाते हैं कि ईंट और पत्थर आज की अपेक्षा शायद कम व्ययसाध्य थे। आम लोग अपने घर कीचड़ या सरकंडे से बनाते थे और फूस की छत डालते थे या कभी कभी खपड़ों की भी। मध्यम वर्ग के लोगों की संख्या नगण्य थी और, जैसा कि हम देख चुके है, व्यापारी वर्ग के लोग तड़क भड़क पसंद नहीं करते थे। दूसरी

और कम से कम उत्तर भारत में उच्चवर्ग के लोग महलों की अपेक्षा तम्बुओं में ज्यादा रहते थे। आज के स्तर से देखें तो रिहायशी घर बनाने में ईंट, पत्थर और लकड़ी का उपयोग बहुत कम होता था। औद्योगिक प्रयोजनों से इमारतें नहीं बनवाई जाती थीं और मुझे ऐसा मानने का भी कोई आधार नहीं मिला है कि इस कमी को सार्वजनिक निर्माण के किसी बहुत बड़े कार्यक्रम द्वारा पूरा किया जाता था। वास्तव में इमारतें बनवाने का काम अत्यधिक अनियमित ढंग से चलता था। कभी कभी बहुत बड़ा निर्माण कार्य भी आरंभ कर दिया जा सकता था और उसमें विपुल मात्रा में निर्माण सामग्री की खपत हो सकती थी। लेकिन इस उद्योग का वैसा कोई संगठित रूप नहीं था जैसा आज है और जिसके बल पर राज्य, स्थानीय प्रशासन और रेल विभाग देश के हर भाग में क्रमिक निर्माण कार्य को चालू रखते हैं, और इसमें तो संदेह की कोई गुंजाइश ही नहीं है कि कभी-कभार निर्माण कार्य में सरगर्मी आ जाने पर पूर्ववर्तीकाल के अव्यवस्थित तरीकों से जितनी इमारतें बन सकती थीं, आज उससे बहुत अधिक इमारतें कुछ वर्षों के योजनाबद्ध प्रयत्न से बन सकती है। इसके अलावा उन दिनों निर्माण कार्य में जो समय लगता था उसका भी ध्यान रखना होगा। उदाहरण के लिए, इलाहाबाद का किला और राजमहल आधुनिक मापदंड से भी एक बहुत बड़ा निर्माण कार्य था, लेकिन यह काम आधी सदी या इससे भी अधिक समय तक चलता रहा, और इस प्रकार निर्माण सामग्री की औसत वार्षिक खपत आज की, तुलना में बहुत कम होती होगी। इसलिए यदि हम एक ओर कपड़े के आधुनिक कारखानों को रखें और दूसरी ओर उस काल के अलंकृत मकबरों को तो निष्कर्ष यही निकलेगा कि जनसंख्या के अनुपात में निर्माण प्रवृत्ति की काफी वृद्धि हुई है। हम इस बात पर भले खेद प्रकट करें कि बहुत सी आधुनिक इमारतों में सुरुचि और कलात्मक कौशल के दर्शन नहीं होते हैं, लेकिन हमें यह मानना होगा कि ये आर्थिक दृष्टि से अकबर कालीन इमारतों की अपेक्षा अधिक उपयोगी हैं।

इस प्रकार, जहां तक इस वर्ग के उद्योगों का संबंध है, यह बात काफी हद तक निश्चित सी जान पड़ती है कि जनसंख्या के अनुपात में पण्य द्रव्य से संबंधित आय की पर्याप्त वृद्धि हुई है। शायद मिट्टी के बर्तनों के निर्माण में कमी आई है, शस्त्रास्त्र उद्योग का भी कदाचित कुछ ह्रास हुआ हो और संभव है (यद्यपि इस संबंध में कोई निश्चित जानकारी उपलब्ध नहीं है), कलात्मक दस्तकारी में भी उत्पादन की दृष्टि से कुछ गिरावट आई हो, लेकिन दूसरी ओर हम देख चुके हैं और यह मानने का ठोस आधार विद्यमान है कि जन-संख्या के अनुपात में पीतल तथा तांबे की वस्तुओं, शस्त्रास्त्रों के अलावा लोहे की चीजों, लकड़ी की बनी वस्तुओं, कागज और लेखन सामग्री और शायद गरीबों की झोपड़ियों को छोड़ कर शेष सब तरह के घरों और इमारतों के निर्माण में उल्लेखनीय वृद्धि हुई है और चमड़े की चीजें बनाने में अवनति की अपेक्षा उन्नति हुई हो, इसकी अधिक सम्भावना है। जब हम अकबर काल के उत्पादों और आधुनिक उत्पादों की सूचियों पर दृष्टि डालते हैं तो इसमें कोई संदेह नहीं रह जाता कि संतुलन आधुनिक काल के पक्ष में जाता है, और ध्यातव्य है

कि जो परिवर्तन आए हैं उनमे निरपवाद रूप से आर्थिक दक्षता की वृद्धि हुई है, क्योंकि पहले की अपेक्षा अधिक मात्रा में बनाई जाने वाली प्रायः सभी वस्तुएं या तो ज्यादा टिकाऊ हैं या ऐसी हैं जिनका उपयोग उत्पादन कार्य में किया जा सकता है।

परिवहन साधनों का उत्पादन

अब हम परिवहन साधनों के उत्पादन की चर्चा करेंगे। इनमें माल ढोने वाले साधन भी शामिल हैं और यात्री ढोने वाले भी। चूंकि पिछली तीन सदियों के दौरान धीरे धीरे जल परिवहन का स्थान थल परिवहन लेता चला गया है, इसलिए इन दोनों प्रकार के परिवहन के साधनों पर एक ही अनुच्छेद के अंतर्गत विचार करना अधिक सुविधाजनक रहेगा। यह बात निश्चित तौर पर मान ली जा सकती है कि अकबर काल में, जनसंख्या के अनुपात में, थल मार्गो पर चलने वाली गाडियों का आज की अपेक्षा कम महत्व था। हम एक पिछले अनुच्छेद में देख चुके हैं कि गोलकुंडा के दक्षिण में पड़ने वाले क्षेत्र में पहियेदार परिवहन साधनों का उपयोग नहीं होता था, और गोलकुंडा से उत्तर की सड़कों के जो वर्णन उपलब्ध हैं उनसे प्रकट होता है कि परिवहन के ऐसे साधनों का उपयोग संभव तो था, पर मार्ग में अनेक कठिनाइयां थीं। समतल प्रदेशों में बैल गाड़ियों का उपयोग हो सकता था। लेकिन नदियों और ऊंची कठिन ढलानों के कारण बहुत बाधा उपस्थित होती थी। फलतः भारी सामान की ढुलाई अधिकांशतः भारवाही जानवरों के जरिए होती थी और द्रव्य तथा नील जैसे बहुमूल्य पदार्थों की ढुलाई के लिए गाड़ियों का उपयोग किया जाता था, क्योंकि इन वस्तुओं को बराबर लादना-उतारना निरापद नहीं था। मनुष्यों के परिवहन के लिए देश में यत्र तत्र धीमी गति से चलने वाली छोटी बैल गाड़ियां सुलभ थी, लेकिन ये माल के परिवहन का अधिक प्रचलित साधन थीं। गाड़ी खींचने और बोझा ढोने के लिए घोड़े या खच्चर का इस्तेमाल बहुत कम किया जाता था[16] और आज के मध्य वित्त लोगों के सुपरिचित परिवहन साधन इक्के और घोड़ा गाड़ियां अकबर काल के बाद चलन में आईं। इक्के का विकास भारतीय नमूने के आधार पर हुआ और घोड़ागाड़ी का यूरोपीय नमूने के आधार पर। इस तरह यह संभव प्रतीत होता है कि जनसंख्या के अनुपात में सड़कों पर चलने वाले परिवहन साधनों की संख्या पहले की अपेक्षा आज अधिक है, और यदि हम विभिन्न रेलवे संस्थानों को भी शामिल कर लें, जिनमें प्रथम विश्वयुद्ध से पहले के वर्षों में एक लाख से अधिक लोग निर्माण और संचालन कार्यों में लगे हुए थे, तो मानना होगा कि इस उद्योग की जबरदस्त वृद्धि हुई है। इस विवरण को पूरा करने के लिए हमें रेल मार्गों और पक्की सड़कों के निर्माण को भी ध्यान में रखना होगा। सोलहवीं सदी में इस तरह की कोई चीज नहीं थी। इस प्रकार परिवर्तन साधनों के निर्माण के उद्योग में एक बहुत बड़ा नया उद्योग भी जुड़ गया है। इसके मुकाबले यदि थोड़ी बहुत कमी आई है तो सिर्फ जहाजों और नावों के निर्माण में।

जहां तक अंतर्देशीय जल परिवहन का संबंध है, इसमें कोई संदेह नहीं कि इसका ह्रास हुआ है। बंगाल के जलमार्गों के संबंध में हमें कोई आंकड़े नहीं

मिले हैं। संभव है, पटसन के व्यापार के विकास के फलस्वरूप परवर्ती काल में भी वहां की उतनी ही नावें चलती रही हैं जितनी सोलहवीं सदी में चलती थीं, बल्कि यह भी सम्भव है कि उनकी संख्या में वृद्धि हुई हो। लेकिन गंगा सिंधु तथा उनकी सहायक और शाखा नदियों में आज की अपेक्षा बहुत अधिक नौकाओं का उपयोग होता होगा। फिच ने आगरा से बंगाल की यात्रा 180 नौकाओं के बेड़े के साथ की थी। यमुना में इतनी नौकाएं हुआ करती थीं कि उन पर चढ़ कर अकबर का पूरा शिविर पार उतर सकता था, और लाहौर तथा मुल्तान के जो विवरण हमें उपलब्ध हैं उनसे प्रकट होता है कि सिंधु तथा उसकी सहायक और शाखा नदियों में भी इसी तरह प्रचुर संख्या में नौकाएं सुलभ रहती थीं। नावें काफी बड़ी होती थीं लाहौर में 60[17] टन की या इससे भी बड़ी नावें हुआ करती थीं। लाहौर और इलाहाबाद में समुद्र तटीय व्यापार के उपयक्त बड़ी बड़ी नावें बनाई जाती थीं। यमुना में चलने वाली कुछ नावें सौ सौ टन की थीं, और गंगा में तो चार-पांच सौ टन की नावें भी चलती थीं। स्पष्ट है कि इन साधनों के जरिए विपुल मात्रा में माल की ढुलाई हो सकती थी। लेकिन कुल कितनी नावें उपयोग में थीं या प्रतिवर्ष कितनी नावें बनाई जाती थीं, इसका मोटा अंदाजा लगाना भी संभव नहीं जान पड़ता। अगर हम किसी खास बेड़े के आकार के आधार पर कोई निष्कर्ष निकालना चाहें, तो वह तब तक सही नहीं हो सकता जब तक हमें यह मालूम न हो कि ऐसे बेड़े कितने समय का अंतराल देकर चला करते थे। जलमार्गों में डाकुओं का बहुत खतरा रहता था और इसलिए व्यापारी बहुत बड़ा दल बनाकर यात्रा आरंभ करने के लिए एक दूसरे की प्रतीक्षा करते रहते थे। थल यात्रा के संबंध में तो निश्चित तौर पर स्थिति यही थी। इन सभी बातों को ध्यान में रखते हुए मुझे लगता है कि जितने बड़े बेड़े का उल्लेख फिच ने किया है उतने बड़े बेड़े अक्सर देखने में नहीं आते होंगे। हम तो बस इतना ही कह सकते हैं कि उत्तर भारत में आज की अपेक्षा बहुत अधिक नावें बनती थीं और आज इनमें जो कमी आ गई है उसे पूरा करते हैं थल परिवहन के वे साधन जो देश भर में उन दिनों की तुलना में बहुत ज्यादा परिमाण में बनाए जा रहे हैं। इस बात का ध्यान रखते हुए कि जल मार्गों की केवल तीन महत्वपूर्ण प्रणालियां थीं और भारत का अधिकतर भाग उनके प्रभाव क्षेत्र से बाहर पड़ता था, ऐसा संभव प्रतीत होता है कि आज देश के लगभग हर हिस्से में सड़कों और रेल मार्गों पर चलने वाले जो परिवहन-साधन बनाए जा रहे हैं उनके मुकाबले कुछ स्थानों में सीमित अकबर कालीन नौका निर्माण अनुपात में बहुत छोटा था। लेकिन यदि संतुलन बराबर हो तब भी आजकल के रेल मार्गों तथा पक्की सड़कों के निर्माण को देखते हुए वर्तमान समय का ही पलड़ा भारी पड़ता है।

किंतु इस अनुच्छेद में हमारी दिलचस्पी का मुख्य विषय समुद्र तट पर जहाजों और नावों का निर्माण है। आवश्यक सामग्री एकत्र करने की सुविधा जहाज निर्माण के लिए भी कम से कम उतनी अपेक्षित तो है ही जितनी कि अन्य उद्योगों के लिए। एक तो यह उद्योग समुद्र की पहुंच के अंदर ही चल सकता है, और दूसरे, समुद्र तट पर भी यह उन्हीं स्थानों में केंद्रित होगा जहां आवश्यक

सामग्री आसानी से मिल जाए। आधुनिक काल में यह उद्योग वहां पनपता है जहां इस्पात और ईंधन सुलभ हों। लेकिन सोलहवीं सदी में लकड़ी का सब से अधिक महत्व था और जहाज वहीं बनाए जा सकते थे, जहां उपयुक्त ढंग की लकड़ी मिल सकती थी। इसलिए आज की ही तरह उन दिनों भी किसी देश को अपने व्यापार के लिए अन्यत्र बनाए गए जहाजों का सहारा लेना पड़ सकता था, और हमारे वर्तमान प्रयोजन के लिए हिंद महासागर के मलक्का जल डमरूमध्य से लेकर गुड होप अंतरीप तक भारतीय समुद्रों की पूरी जहाजरानी को ध्यान में रखकर विचार करना आवश्यक है। इस क्षेत्र में कुछ जहाज तो बाहर से भी आते थे। इनमें से अधिकतर पुर्तगालियों के होते थे, लेकिन कभी कदाच मलक्का जल डमरूमध्य के पूर्व से भी आ जाते थे।[18]

फिर भी अधिकांश स्थानीय व्यापार के लिए उन्हीं जहाजों का उपयोग होता था जो भारतीय समुद्रों की उपर्युक्त सीमाओं के अंदर पड़ने वाले तटों पर बनाए जाते थे। जहाज-निर्माण की दृष्टि से देखें तो भारतीय समुद्र तटों की स्थिति एक दूसरे से बहुत भिन्न थी। एक ओर तो दूर दूर तक फैला हुआ ऐसा तट था—विशेष कर लाल सागर की ओर—जहां आवश्यक सामग्री के अभाव में जहाज-निर्माण असंभव था, और दूसरी ओर ऐसे तट थे—उदाहरणार्थ, पूर्व अफ्रीका का तट और भारत का पूर्वी तट—जहां यह उद्योग मजे में चल सकता था। फिर, कुछ तट ऐसे थे—जैसे पश्चिमी तट और मर्तबान की खाड़ी के आसपास का क्षेत्र—जहां से सागौन के जंगल बहुत निकट पड़ते थे और इसलिए इस उद्योग की दृष्टि से उनकी स्थिति विशेष सुविधाजनक थी।

लाल सागर के तटों पर लकड़ी के अभाव का भारत के संदर्भ में एक विशेष महत्व है, क्योंकि भारतीय समुद्री व्यापार पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने की पुर्तगालियों की कोशिशों की सफलता का मुख्य कारण यही था। जहां तक भारतीय तटों का संबंध था, पुर्तगालियों को किसी संगठित विरोध का सामना नहीं करना पड़ा, लेकिन सोलहवीं सदी के आरंभ में भूमध्य सागर की ओर से थल मार्ग से सामग्री जुटा कर जब तुर्कों ने स्वेज में एक बेड़ा तैयार किया तो पुर्तगालियों की प्रभुता के लिए गंभीर खतरा उपस्थित हो गया और फिर बाद में जब तुर्क लोग दक्षिण दिशा में अरब देश की ओर बढ़े उस समय भी उनकी स्थिति को आंच आती जान पड़ी। 1586 ई० के आसपास तुर्कों ने जहाज निर्माण के लिए लकड़ी प्राप्त करने के स्पष्ट उद्देश्य से पूर्व अफ्रीका में अपने पैर जमाने की कोशिश की और कुछ समय बाद उन्होंने पेगू और सुमात्रा से सामग्री का आयात करने का गम्भीर प्रयास किया। किंतु, दोनों बार पुर्तगालियों ने अपने दुश्मनों के इरादे नाकाम कर दिए और डचों के आगमन से पूर्व तक उनकी समुद्री शक्ति अक्षुण्ण बनी रही। यदि तुर्क लोग इतना शक्तिशाली बेड़ा तैयार करने में सफल हो जाते जिससे वे अपनी महत्वाकांक्षाओं को कार्य रूप दे सकते तो भारत का इतिहास शायद कुछ और ही होता।

मुझे इस बात का कोई प्रमाण नहीं मिला है कि इस काल में पूर्व अफ्रीका के साधनों का कोई व्यापक उपयोग होता था। समुद्र के किनारे चलने वाली नौकाएं वहां अवश्य बनाई जाती थीं, और अन्यत्र भी जहां आवश्यक सामग्री

सुलभ थी, इनका निर्माण होता था, लेकिन समुद्र में दूर तक जाने वाले जहाज कम से कम इतनी बड़ी संख्या में तो नहीं ही बनते थे कि उनकी ओर यात्रियों का ध्यान आकृष्ट होता।[19]

पेगू के संबंध में जहाज निर्माण का साक्ष्य स्पष्ट नहीं है। 1583 में एक यात्री ने लिखा कि यहां युद्धपोतों का पूरा बेड़ा तैयार करने की पर्याप्त सामग्री उपलब्ध है, लेकिन बनाए नहीं जाते, क्योंकि 'उनकी देख रेख करने वाले या उन्हें बनाने वाले लोग' नहीं हैं। गरज यह कि वहां कुशल कारीगरों का अभाव था। दूसरी ओर डेल्टा की अनेक धाराएं विभिन्न प्रकार की नावों से भरी रहती थीं। निश्चय ही ये नावें स्थानीय तौर पर ही बनाई जाती होंगी और हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि जो कुछ निर्माण प्रतिभा सुलभ थी उसका उपयोग समुद्री जहाज बनाने की अपेक्षा नावें बनाने में ही किया जाता था। मर्तबान के संबंध में भी संदेह की कुछ गुंजाइश है, लेकिन मैं मानता हूं कि यहां अगर जहाज बनाए भी जाते रहे हों तो बहुत कम ही बनाए जाते होंगे। तेनासरीम और सुमात्रा में किसी हद तक जहाज-निर्माण का काम अवश्य होता था, लेकिन समकालीन प्रमाण-स्रोतों के सामान्य रुझान को देखते हुए मुझे यही लगता है कि (पुर्तगालियों का यूरोप से जो व्यापार होता था उसे छोड़कर) भारतीय समुद्रों का अधिकांश व्यापार भारत में बनाए जहाजों के जरिए होता था, और इनमें से ज्यादातर जहाज—बड़े जहाज तो निश्चय ही—पश्चिमी तट पर किसी एक केंद्र में नहीं, बल्कि ऐसे विभिन्न बंदरगाहों और छोटी खाड़ियों के पास बनाए जाते थे जहां से जंगलों तक आसानी से पहुंचा जा सकता था। यह भी लगभग निश्चित है कि बंगाल से लेकर सिंध तक के तटवर्ती व्यापार के लिए जितनी नावों की जरूरत पड़ती थी, उन सब का निर्माण भी भारत में ही होता था, और इसलिए उस समय के मापदंड से देखने पर कुल मिलाकर जहाज निर्माण का परिमाण बहुत बड़ा था।

साधारण उपयोग के जहाजों की क्षमता थोड़ी होती थी। जैसा कि हम अगले अध्याय में देखेंगे दूर समुद्र में चलने वाले जहाज औसतन शायद 200 टन से कम के होते थे और तटवर्ती जल में चलने वाली नौकाएं शायद 40 से 50 टन की होती थीं। बड़े जहाजों की संख्या, कभी-कभी जितनी मानी जाती है, उससे बहुत कम थी। उन दिनों प्रचलित "टन-भार' और वार्षिक उत्पादन की चर्चा हम समुद्री व्यापार से संबंधित सारी उपलब्ध जानकारी पर विचार कर लेने के बाद करेंगे। लेकिन यहां बड़े-बड़े यात्री जहाजों का उल्लेख किया जा सकता है, जिनके निर्माण में भारत शायद सब से आगे था। पंद्रहवीं सदी में लिखते हुए कोंटी ने 1000 'टन' के जहाजों के अस्तित्व का उल्लेख किया है।[20] ये जहाज भूमध्य सागर में उसके देखे किसी भी जहाज की तुलना में बहुत बड़े थे। पूर्ववर्ती काल में पश्चिमी भारत की यात्रा करने वाले अंग्रेज यात्रियों ने इससे भी बड़े आकार के जहाजों का वर्णन किया है। पुर्तगालियों द्वारा बनाए जाने वाले कैरेक नामक विशाल व्यापारिक जहाजों को छोड़कर और कोई जहाज इनसे बड़ा नहीं होता था। ये भारतीय जहाज सिर्फ हज करने वालों को लेकर लाल सागर तक जाते थे और मेरा ख्याल है कि एक समय में उनकी

संख्या कुल मिलाकर आधे दर्जन से ज्यादा नहीं होती थी। वे अच्छे समुद्री जहाज नहीं थे और अधिकांश भारतीय बंदरगाहों के लिए वे बहुत बड़े पड़ते थे, लेकिन अभिकल्पना और उसके कार्यान्वयन की दृष्टि से वे एक बहुत बड़ी उपलब्धि थे और बड़े दुःख की बात है कि उनके निर्माण का कोई विवरण शायद शेष नहीं बचा है। भारत में जहाज निर्माण के विवरण को पूरा करने के लिए इस बात का उल्लेख कर देना भी आवश्यक है कि पुर्तगालियों ने बंबई के उत्तर बेसीन में कुछ कैरेक भी बनाए, यद्यपि इस तरह के जहाज आम तौर पर यूरोप में बनाए जाते थे। लेकिन ऐसे बड़े प्रयत्नों को अपवाद रूप ही मानना चाहिए। इस उद्योग का महत्व समुद्री व्यापार के लिए पर्याप्त संख्या में छोटे जहाज और समुद्र के किनारे किनारे माल को ढोने के लिए काफी संख्या में छोटी-छोटी नावें सुलभ कराने में निहित था।

वस्त्र उद्योग—रेशम, ऊन और बाल

अब अंत में हम भारतीय औद्योगिक उत्पादनों के सब से महत्वपूर्ण वर्ग पर विचार करेंगे। इसमें रेशम, ऊन, बाल, सन, पटुआ, और रुई इन विभिन्न रेशों से बनाए वस्त्र शामिल हैं। वस्त्र तैयार करने के ये साधन यहां जिस क्रम में दिए गए हैं उसी क्रम में हम उनकी चर्चा करेंगे। भारतीय रेशम उद्योग के पतन के बारे में इतना अधिक लिखा गया है कि बहुत से लोग मानने लगे हैं कि अनेक सदियों तक यह देश के आर्थिक जीवन का एक महत्वपूर्ण अंग रहा है। मैं समझता हूं कि यह मान्यता अतिरंजित है। अकबर काल में रेशम की बुनाई एक छोटा उद्योग थी और उसके बाद में इसके जिस ह्रास की इतनी चर्चा की गई है उसका बुनाई उद्योग पर उतना असर नहीं पड़ा है जितना कि कच्चे माल के उत्पादन पर, जो अकबर की मृत्यु के बाद यूरोप की मांग के फलस्वरूप काफी बढ़ गया था। 1600 ई० के आसपास के वर्षों के संबंध में यह कहा जा सकता है कि तैयार माल का निर्यात बहुत कम होता था, आंतरिक बाजार बहुत छोटा था और उस बाजार की मांग बहुत-कुछ विदेशी माल के आयात के द्वारा पूरी की जाती थी। रेशम कुछेक केंद्रों में बुना जाता था, लेकिन कुल उत्पादन बहुत कम था और संभव है कि भारत में जितने रेशम की खपत होती थी उसका एक अच्छा खासा भाग मिश्रित वस्तुएं तैयार करने में इस्तेमाल किया जाता था। हथकर्घा उद्योग में यह बात आज भी देखने को मिलती है।

जिन लोगों ने इस काल के व्यापार के बारे में लिखा है और जो ऐसी हर वस्तु का उल्लेख करने की सावधानी बरतते थे, जिसमें यूरोप की दिलचस्पी होती थी—जैसी कि रेशम में थी—उन्होंने रेशमी वस्त्रों के निर्यात की कोई चर्चा नहीं की है। इससे प्रकट होता है कि इसका निर्यात बहुत कम होता था। बारबोसा, जिसने अन्य किसी भी लेखक की अपेक्षा निर्यात की अधिक तफसीलें दी है, कहता है कि सदी के आरंभ में कुछ रेशमी माल गुजरात से पूर्व अफ्रीका के तट प्रदेश और पेगू को भेजा जाता था, लेकिन उसने भी किसी और बाजार का संकेत नहीं दिया है और सिर्फ एक अपवाद को छोड़कर अन्य सभी लेखक

इस विषय पर मौन ही है। यह अपवाद है वरथेमा, जिसकी पुस्तक में कहा गया है कि 'पूरे फारस, तातार, तुर्की, सीरिया, बारबरी, अरब और इथियोपिया' तथा कुछ अन्य स्थानों को 'रेशमी और सूती माल' गुजरात से भेजा जाता था। तथ्यों की पूरी जानकारी हासिल किए बिना गैर जिम्मेदाराना ढंग से लिखने के अनेक उदाहरण इस पुस्तक में मिलते हैं और मैं यह नहीं मान सकता कि वरथेमा को जो विशाल रेशम उद्योग देखने को मिला, वह दूसरे समकालीन लेखकों की दृष्टि से बचा रह गया। वरथेमा के इस वक्तव्य का सब से संभावित स्पष्टीकरण यह जान पड़ता है कि उसने रेशमी और सूती मालों के बीच ठीक अंतर नहीं किया। यह काफी कुछ निश्चित है कि उसने जिन देशों के नाम लिए हैं उनमें भारत से बहुत बड़ी मात्रा में सूती माल जाता था और संभव है इसमें से कुछ सूती और रेशमी धागों की मिलावट से बनता हो, लेकिन बारबोसा के साक्ष्य को, जिसकी पुष्टि इस विषय पर बहुत सारे लेखकों के मौन से होती है, ध्यान में रखते हुए मैं यह नहीं समझता कि इस काल में भारत से रेशमी माल का भारी मात्रा में निर्यात किया जाता था।

अंतर्देशीय बाजार निर्यात व्यापार से अधिक महत्व रखता था, क्योंकि उच्च वर्गों के लोग रेशमी वस्त्र बहुत अधिक पहनते थे, और उस समय के फैशन के अनुसार अच्छे समाज में उठने बैठने वाले लोगों के लिए खूब सारे वस्त्र रखना आवश्यक था। अबुल फजल के अनुसार अकबर के दरबार में नफीस चीजों की रुचि बहुत आम हो गई थी और बारबोसा ने विजयनगर के सरदारों को रेशमी वस्त्रों का पर्याप्त उपयोग करते पाया था। विलासिता की सामग्री की मांग उन का उपयोग करने वाले लोगों की संख्या को देखते हुए शायद बहुत बड़ी थी। लेकिन भारत की कुल आबादी के अनुपात में इन लोगों की संख्या अत्यंत छोटी थी, और इस बात के स्पष्ट संकेत मिलते हैं कि बहुत से प्रमुख उपभोक्ता विदेशी वस्तुओं को अधिक पसंद करते थे। सुदूर पूर्व मध्य एशिया, फारस और पूर्वी भूमध्य सागरीय देशों से तरह-तरह की रेशमी वस्तुएं भारत में मंगाई जाती थी। बारबोसा का कहना है कि उसने विजयनगर में जो रेशमी वस्त्र देखे उनमें से कुछ चीन से मंगवाए गए थे और अबुल फजल ने जिन वस्तुओं का उल्लेख किया है उनमें से अधिकांश के स्रोतों के रूप में उसने उपर्युक्त देशों में से किसी न किसी का नाम लिया है। इस प्रकार अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है कि भारतीय रेशम उद्योग एक सीमित बाजार की मांग अंशतः पूरा करता था।

संयोग से हमें ऐसी जानकारी उपलब्ध है जिसके आधार पर हम इस उद्योग में खपने वाले कच्चे माल का अंदाजा लगा सकते हैं। कश्मीर में जो थोड़ा सा रेशम पैदा किया जाता था और जिसकी खपत भी वहीं के उद्योगों में हो जाती थी, उसके अलावा इस काल में सिर्फ बंगाल में ही रेशम के उत्पादन का उल्लेख हुआ है। सत्रहवीं सदी के मध्य में जब डच लोग कासिम बाजार में भलीभांति प्रतिष्ठित हो गए थे और उन्होंने काफी बड़े परिमाण में निर्यात व्यापार भी स्थापित कर लिया था, इस क्षेत्र में रेशम के उत्पादन के आंकड़े टैवर्नियर को उपलब्ध हुए।

उस काल में कुल उत्पादन पचीस लाख पौंड का था[21] इसमें से दस लाख पौंड की खपत बंगाल में ही हो जाती थी, साढे सात लाख पौंड कच्चे माल का निर्यात डच लोग करते थे और साढ़े सात लाख पौंड पूरे भारत भर में बंट जाता था। भारत में बंटने वाले रेशम का अधिकांश गुजरात को जाता था, लेकिन कुछ मध्य एशिया के व्यापारी भी ले जाते थे। डचों द्वारा किया जाने वाला निर्यात, बेशक, एक नई बात थी। उनकी मांग बहुत बड़ी थी और संभव है कि इस मांग को पूरा करने के लिए उत्पादन में वृद्धि हुई हो। इससे हम यह निष्कर्ष निकाल सकते है कि इन दिनों अकबर काल की अपेक्षा अधिक उत्पादन होता था। इसलिए उत्पादन के छोटे मोटे स्रोतों के लिए, जिनका कही कोई उल्लेख नही मिलता, गुंजाइश रखते हुए भी 1600 ई० के आसपास हम रेशम के उत्पादन को पचीस लाख पौंड से अधिक नही मान सकते। इसमें से शायद थोड़ा बहुत कच्चे माल के रूप में विदेशों को भेजा जाता होगा। भारत में जितना रेशम उपलब्ध था, उसके अलावा कुछ विदेशों से भी मंगावाया जाता था। आयात का मुख्य स्रोत चीन था और इस आयात व्यापार पर पुर्तगालियों का नियंत्रण था। सोलहवी सदी के मध्य में गार्सिया दा ओर्टा ने आयात का जो आंकड़ा दिया है उसे ढाई लाख या चार लाख पौंड माना जा सकता है।[22] लिन शोटेन ने 1590 मे लिखते हुए इस आंकड़े को चार लाख पौंड (तीन हजार क्विटल) बताया है. और यह शायद सरकारी आंकड़ा था। आयात का एकमात्र अन्य स्रोत शायद फारस था। पाइरार्ड का कहना है कि ओरमुज से कुछ कच्चे रेशम का निर्यात होता था। उसने यह नही कहा कि यह माल भारत को जाता था, लेकिन अगर जाता भी होगा तो उसकी मात्रा अधिक नही होती होगी। अगर फारस से कच्चा रेशम आता था तो वह स्वभावतः गुजरात के निर्माण केंद्रों में पहुंचता होगा, लेकिन हम जानते है कि गुजरात को अपनी जरूरत का कच्चा रेशम मुख्यतः बंगाल और चीन से मिलता था। फारस मे बहुत अधिक मात्रा मे रेशम उपलब्ध नही था,[23] और उन दिनों वहां के व्यापार का जो सामान्य रुझान था उसके अनुसार रेशम पूर्व के बजाय पश्चिम को भेजा जाता होगा, क्योंकि विचाराधीन काल के कुछ वर्ष बाद व्यापार के रुख को उस दिशा से मोड़ने के विशेष प्रयत्न किए गए। इसलिए भारत मे कच्चे रेशम के कुल आयात को हम पांच लाख पौंड से अधिक नही मान सकते और उत्पादित तथा आयातित कुल रेशम को मिलाकर देश में तीस लाख पौंड से अधिक की खपत नही होती होगी। आजकल के बारे मे जो सबसे ताजा अनुमान देखने को मिला है उसके अनुसार भारत में तीस लाख पौंड कच्चे रेशम का उत्पादन होता है, जब कि विश्वयुद्ध के पहले के वर्षों मे (मुख्यत चीन से) पचीस लाख पौंड का आयात होता था। इस प्रकार लगभग 15 लाख पौंड के निर्यात के लिए गुंजाइश रखें तो हाल के वर्षों में इस उद्योग मे चालीस लाख पौंड कच्चे रेशम की खपत हुई। इन आंकड़ों के अनुसार देखें तो मानना होगा कि कुल मिलाकर भारत के रेशम उद्योग का विकास जनसंख्या के अनुपात मे कम हुआ है। स्वयं इस उद्योग के लिए तो इस आनुपातिक ह्रास का महत्व अवश्य है। लेकिन भारत की कुल आबादी की औसत आय में इससे कोई भारी कमी आई हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता।

जैसा कि रेशम उद्योग के उत्पादों के स्वरूप से देखा जा सकता है, यह कुछ खास स्थानों में केंद्रित था। समकालीन लेखकों ने मुख्यत: गुजरात के—और गुजरात में भी विशेष रूप से कंबे, अहमदाबाद और पाटन के—रेशमी कपड़ों का उल्लेख किया है, जबकि बंबई से कुछ मील दक्षिण चौल में भी बुनाई का काम होता था।[24] उनके वर्णन से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि यह उद्योग पूर्ण रूप से चीन से आयात किए गए कच्चे माल पर निर्भर था, लेकिन मैं समझता हूं कि बंगाल से भी कच्चा माल आता था, जैसा कि उस समय आता था जब टैवर्नियर ने लिखा। टैवर्नियर ने ही यह भी लिखा है कि बंगाल के कच्चे माल की अच्छी खपत स्थानीय उद्योग में भी होती थी। यह बात भी संभव है, हालांकि सीजर फ्रेडरिक या फिच जैसे यात्रियों ने इस विषय में बहुत कम कहा है। जितने कच्चे माल का उत्पादन कश्मीर में होता था, वह वहीं के उद्योग में खप जाता था। लेकिन ऐसा नहीं लगता कि वहां उसका बहुत उत्पादन होता था। आगरा, लाहौर तथा शायद कुछ अन्य नगरों में भी यह उद्योग चलता था, लेकिन भारतीय रेशमी वस्तुओं की जो ख्याति थी वह गुजरात के रेशमी वस्त्रों के कारण थी। यह उल्लेखनीय बात है कि अकबर ने देश के औद्योगिक उत्पादन को बढ़ाने का विशेष प्रयत्न किया। अबुल फजल ने लिखा है कि शाहंशाह ने सभी विदेशी वस्तुओं के उत्पादन का अध्ययन किया, और उसकी देखरेख में देश में विदेशी कारीगर बसाए गए, रेशम की बुनाई को पूर्णता प्रदान की गई और शाही कारखानों में वे सब वस्तुएं बनने लगीं जो विदेशों में बनती थीं। जिन नगरों और क्षेत्रों पर इन शाही प्रयत्नों का सुप्रभाव हुआ उनमें उसने लाहौर, आगरा, फतहपुर, अहमदाबाद और गुजरात के नाम गिनाए हैं। अबुल फजल का विवरण प्रशस्ति के पारंपरिक रंग में अवश्य रंगा हुआ है, लेकिन कुल मिलाकर उसके सही होने की बहुत संभावना है, और हम ऐसा मान सकते हैं कि इस शाही संरक्षण के फलस्वरूप प्रमुख केंद्र गुजरात में इस उद्योग ने अच्छी प्रगति की तथा बादशाहत के तीन उत्तरी केंद्रों में सीधे दरबार की छत्रछाया में काम करने वाले कारीगरों के बीच भी इस उद्योग की तरक्की हुई।

रेशम से भलीभांति परिचित यात्रियों ने जिस वस्तु का वर्णन रेशम के रूप में किया है उसके अलावा बंगाल में इस काल में ऐसे रेशे या कई प्रकार के रेशों से भी कपड़े बनाए जाते थे जिन्हें वे रेशम जैसी चीज ही मानते थे। पाइरार्ड ने रेशमी जड़ी का उल्लेख किया है। लिनशाटेन ने कपड़े की एक ऐसी किस्म का जिक्र किया है जो एक जड़ी से बनाया जाता था। सीजर फ्रेडरिक ने जड़ियों के कपड़े का उल्लेख किया है और उसके अनुसार 'ये जड़ियां जंगलों में उगने वाला एक प्रकार का रेशम' ही थीं। ये कपड़े वास्तव में किस चीज के बने हुए थे, यह अनिश्चित है। मैं इस मान्यता को स्वीकार करने के पक्ष में हूं कि इन कथनों में कम से कम अंशत: तो अवश्य ही छोटा नागपुर के जंगली रेशम का जिक्र हुआ है, जो वास्तव में जंगलों में एकत्र किया जाता था, और जिसका स्रोत एक जनश्रुति के अनुसार किसी कीड़े को नहीं, बल्कि एक प्रकार के पौधे को माना जा सकता है। यह भी संभव है कि उष्ट्रपत्नी जैसा कोई रेशा बंगाल में भी पैदा किया जा रहा हो, लेकिन इस मत की पुष्टि के लिए मुझे कोई

साक्ष्य नहीं मिला है। इस संबंध में जो भी साक्ष्य उपलब्ध हैं वे प्रत्यक्ष साक्ष्य नहीं हैं। पाइरार्ड चटगांव में बहुत थोड़े दिनों तक रहा और उसने जो कुछ बताया है, सुनी सुनाई बातों के आधार पर ही बताया है। लिनशाटेन बंगाल गया ही नहीं और अन्य लेखकों ने, जान पड़ता है, जो भी जानकारी हासिल की वह शहरों मे हासिल की। यह रेशा चाहे जैसा भी रहा हो, इससे जो कपड़ा बनता था वह अधिक से अधिक स्थानीय महत्व का ही था, और संपूर्ण भारत के उत्पादन का अनुमान लगाने में इस पर विचार करने की जरूरत नहीं है।

जहां रेशम मूलतः विलासिता की सामग्री है, वहां ऊन का उपयोग अमीर और गरीब दोनों अपने तन ढकने के लिए कर सकते हैं, लेकिन जहां तक समकालीन लेखकों से ज्ञात होता है, विचाराधीन काल में निर्धनतर वर्गों के लोग ऊन का उपयोग बहुत कम करते थे। इस काल में उत्तर भारत की यात्रा करने वाले किसी भी व्यक्ति ने किसी सामान्य व्यक्ति के ऊनी वस्त्र पहने होने अथवा कंबल ओढ़े होने का कोई उल्लेख किया हो, ऐसा मुझे याद नहीं आता, लेकिन दूसरी ओर कई लेखकों ने सामान्य जन मे सूती पहनावे का वर्णन किया है, इसलिए मैं समझता हूं कि यदि उन्होंने ऐसे किसी व्यक्ति को ठंड या बरसात के दिनों में आज की तरह कंबल ओढ़े देखा होता तो उसका जिक्र शायद वे अवश्य करते। लेकिन उन दिनों सामान्य दर्जे के कंबल थे अवश्य, क्योंकि अबुल फजल ने कीमतों की सूची में इन्हें भी शामिल किया है। अकबर के दरबार के निकट के बाजार में सब से सस्ते कंबल की कीमत 10 दाम या 46 पौंड गेहूं था, जब कि 1914 के आसपास 23 पौंड गेहूं देकर कंबल खरीदा जा सकता था। इस प्रकार पूर्ववर्ती काल में वे आज की अपेक्षा बहुत महंगे थे। ध्यातव्य है कि अकबर के अस्तबलों के अच्छे से अच्छे घोड़ों को भी कंबल नहीं ओढ़ाए जाते थे और इस प्रयोजन के लिए रुई भरे सूती कपड़े की मंजूरी दी गई थी और इसमें संदेह नहीं कि अन्य बड़े संस्थानों में भी इसी का चलन था, जो वास्तव में आज भी कायम है।

उच्चतर वर्गों के लोगों द्वारा ऊनी वस्त्रों के इस्तेमाल की हमें अपेक्षाकृत अधिक पूर्ण जानकारी उपलब्ध है। प्रदर्शन के प्रयोजन के लिए चमकीले रंगों वाले—खासकर गहरे लाल रंग के—कपडे की मांग सर्वत्र थी। दक्षिण भारत के विभिन्न दरबारों में ऊनी वस्त्रों का उपयोग स्वभावतः बहुत कम होता था, लेकिन उत्तर भारत में उसका इस्तेमाल होता था और ऊनी वस्त्रों से अकबर को जो खास लगाव था उसका आगरा और लाहौर के फैशन पर निःसंदेह काफी प्रभाव पडा होगा। लेकिन उच्च वर्गों के लोग रेशमी वस्त्रों की ही तरह अधिकतर आयात किए ऊनी वस्त्रों का ही उपयोग करते थे। खरीदार लोग नित नए नमूने की चीजें चाहते थे, और इटली, तुर्की तथा फारस से आयात किया ऊनी कपड़ा बड़े-बड़े नगरों में खूब बेचा जाता था। फैशन में बराबर बदलाव आते रहने के कारण आयातकों को यहां का बाजार बहुत असंतोषजनक लगता था, और ईस्ट इंडिया कंपनी के जो व्यापारी यहां आरंभ में आए उन्हें जैसी निराशा का सामना करना पड़ा उसका वर्णन उनकी रिपोर्टों का एक मुख्य विषय था। किसी नए कपड़े के थोड़े से नमूने तो झट से बिक जाते थे, लेकिन जब वैसे ही कपड़े अगले खेवे में बड़ी मात्रा में लाए जाते थे तो उनकी ओर कोई ध्यान ही

नहीं देता था और लगातार उनकी खपत होते रहने की संभावना नहीं रह जाती थी। दूसरी ओर स्थानीय कारीगर विदेशी नमूनों की नकल तुरंत कर लेते थे। लगता है इन कारीगरों की संख्या इतनी बड़ी नहीं थी कि इनकी ओर विदेशी यात्रियों का ध्यान जाता। भेड़ पालन देश की कृषि विषयक प्रवृत्तियों में कोई महत्वपूर्ण स्थान नहीं प्राप्त कर पाया था, और स्पष्ट है कि तिब्बत से कच्चे ऊन का व्यापार आरंभ नहीं हुआ था,[25] जिससे वह बहुत सीमित परिमाण में उपलब्ध था।

दो विशेष प्रकार की वस्तुओं का निर्माण उल्लेखनीय है। एक तो मुख्यतः बालों से बुनी जाने वाली शाल और दूसरा है गलीचा। शाल बनाने का काम मुख्यतः कश्मीर में होता था मगर अकबर के संरक्षकत्व के फलस्वरूप यह व्यवसाय लाहौर[26] में तथा मैदानी इलाकों के कुछ अन्य स्थानों में भी प्रतिष्ठित हो गया था। अकबर ने गलीचों की बुनाई को भी बढ़ावा दिया, खास कर आगरा और लाहौर में। इसमें संदेह नहीं कि उन दिनों कुछ बहुत अच्छे किस्म के गलीचे बुने जाते थे, लेकिन कुल उत्पादन की मात्रा खास बड़ी रही हो, ऐसा प्रतीत नहीं होता। बाजारों में फारसी गलीचों का दबदबा कायम रहा और कुछ वर्ष बाद अंग्रेज व्यापारियों ने पाया कि इस उद्योग की प्रगति रुक गई और कारीगर बुरी स्थिति में थे। श्रेष्ठतर वस्तुओं की बुनाई को—चाहे वे ऊन से बुनी जाती रही हों या बालों से—'शौक और सजावट की चीजों के उत्पादन का उद्योग ही मानना चाहिए, जिनका इतना अधिक उत्पादन नहीं होता था कि देश के आर्थिक जीवन पर कोई प्रभाव पड़ता। ऊन और बालों से बनाई जाने वाली वस्तुओं के कुल उत्पादन का अंदाजा लगाने के लिए निश्चित आंकड़े हमें उपलब्ध नहीं हैं, लेकिन यदि सादी और सजावटी वस्तुओं को साथ मिलाकर देखें तो यही निष्कर्ष निकलेगा कि जनसंख्या के अनुपात में यह उद्योग आज की अपेक्षा कम महत्वपूर्ण था। कारीगरों द्वारा किए जाने वाले उत्पादनों में जो भी कमी आई होगी, उसे पूरा करने के लिए जितना चाहिए उससे बहुत अधिक उत्पादन बड़े-बड़े आधुनिक कारखानों में हो रहा है।

सूती उद्योग—सन, पटसन और कपास

अब हम खेत की फसलों की तरह उगाए जाने वाले अपेक्षाकृत मोटे किस्म के रेशों पर विचार करेंगे। सन के विषय में हमें बहुत थोड़ी जानकारी है। सभी मुगल सूबों में सन पर राजस्व कूते जाने का उल्लेख मिलता है और हम यह मान सकते हैं कि बहुत बड़ी मात्रा में तो नहीं लेकिन दूर दूर के क्षेत्रों में इसकी पैदावार होती थी, लेकिन ऐसा संकेत देने वाला कोई साक्ष्य सुलभ नहीं है कि उद्योग में इसका व्यापक उपयोग होता था। शायद यह मुख्यतः घरेलू प्रयोजनों के लिए पैदा किया जाता होगा, जैसा कि उत्तर भारत के मैदानी इलाकों में आज भी होता है। लेकिन यह संभव है कि इस रेशे से बनाए गए टाट का स्थानीय उपयोग होता हो, क्योंकि पटसन उद्योग बहुत संगठित नहीं था और बांधने-लपेटने के लिए किसी न किसी प्रकार के मोटे कपड़े की जरूरत अवश्य पड़ती होगी। पटुए के संबंध में जानकारी का सिर्फ एक ही सूत्र मुझे मिला है

वह यह है कि बंगाल के घोड़ाघाट (रंगपुर) क्षेत्र में एक प्रकार का टाट कपड़ा तैयार किया जाता था। हम ऐसा निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि इन दिनों बंगाल में पटसन का वही स्थान था जो उससे पश्चिम के क्षेत्रों में सन का था, अर्थात वह भी एक ऐसा रेशा था जिसका उत्पादन घरेलू उपयोग के लिए किया जाता था, और जिसका कोई औद्योगिक महत्व नही था। लेकिन ऐसा मानने का भी थोड़ा आधार है कि अकबर के काल में पटुआ किसी हद तक कपास और सन के स्थान पर भी इस्तेमाल किया जाता था। बहुत भरोसे के लायक एक साक्ष्य से ज्ञात होता है कि आज से एक सदी से कुछ अधिक समय पहले 'पूर्वी और उत्तरी बंगाल के गरीब लोग पूरी तरह नही तो कम से कम मुख्य रूप से पटुए से बना टाट कपड़ा पहनते थे'। ऐसी स्थिति की कल्पना तो की जा सकती है कि ये लोग 1600 ई० में सूती कपड़ा 1800 में पटुए का टाट कपड़ा और फिर 1900 में सूती कपड़ा पहनते थे, लेकिन यह ज्यादा संभव जान पड़ता है कि अपेक्षाकृत सस्ती चीज होने के कारण टाट कपड़ा पहनने का चलन पुराने समय से चला आ रहा था, और वह तब तक कायम रहा जब तक कि 19वीं सदी में पटुए के एक महत्वपूर्ण औद्योगिक फसल बन जाने और नई मशीनों के इस्तेमाल से कपड़े की कीमतों में पहले की अपेक्षा कमी नही आ गई और पटुए की कीमतों में वृद्धि नही हो गई। समकालीन साहित्य में मुझे ऐसा कुछ नही मिल पाया है जो इस प्रश्न पर प्रकाश डालता हो, और सूती कपड़ों के उत्पादन का कोई अनुमान लगाने में इस संभावना को ध्यान में रख कर चलना होगा कि कपड़े की तरह टाट का भी प्रयोग होता था। इस काल मे बंगाल के आम लोग या तो पटुए का टाट या सूती कपड़ा पहनते थे और यह प्रांत इतना घना आबाद था कि देश के कुल वस्त्र उपयोग का एक बहुत बड़ा भाग बंगाल के वस्त्र उपयोग का रहा होगा।

यदि हम यह मान लें कि बंगाल टाट कपड़े का उपयोग करता था तब भी इस तथ्य में कोई अंतर नहीं पड़ता कि सूती कपड़े की बुनाई देश का सब से बड़े पैमाने का उद्योग था, और मैं समझता हूं, यह कहना अनुचित न होगा कि इसका कुल उत्पादन 1600 ई० की आर्थिक दुनिया की बड़ी वास्तविकताओं में से एक था। पुर्तगाली लोग तो इस उद्योग की विशालता देखकर निश्चय ही बहुत अधिक प्रभावित हुए। यह बात पाइरार्ड द्वारा उद्धृत इस कथन से स्पष्ट हो जाती है: 'गुड होप अंतरीप से लेकर चीन तक का हरेक स्त्री पुरुष आपाद मस्तक' भारतीय करघों से बुने कपड़े का 'इस्तेमाल करता है'। इस वर्णन में कुछ अतिशयोक्ति अवश्य है, और इस उद्योग के असली विस्तार को समझने का शायद सब से अच्छा तरीका यही है कि हम तब तक इन अतिशयोक्तियों में से एक के बाद एक का खंडन करते चले जाएं जब तक कि सत्य की तह तक न पहुंच जाएं। पहले खुद भारत के बाजार में कपड़े की खपत को लें। यह कहना लगभग सही होगा कि 'हरेक व्यक्ति' देश में बना कपड़ा पहनता था, यद्यपि जैसा कि हमने अभी देखा है—कुछ कपड़ा पटुए का भी बनाया जाता था। ऊनी और रेशमी कपड़े और मखमल इन सब का आयात दरअसल यूरोप तथा अन्य देशों से होता था, लेकिन इनका उपयोग उच्च वर्गों के लोगों तक ही

सीमित था, और संख्या की दृष्टि से इनका कोई महत्व नहीं था। इस तरह अधिकतर लोग निश्चय ही देश में बने कपड़े का इस्तेमाल करते थे। लेकिन यह कहना गलत है कि ये आपदमस्तक कपड़े पहनते थे, क्योंकि समकालीन साहित्य से ज्ञात होता है कि इस काल में बहुत कम कपड़े पहने जाते थे, और यह बात देश के उन गर्मतर हिस्सों पर ही नहीं लागू होती, जहां कपड़ा पहनना अगर जरूरी है तो सिर्फ सामाजिक रूढि के कारण, बल्कि उन हिस्सों पर भी लागू होती है जहां शरीर की सुरक्षा और कार्यकुशलता के लिए कपड़ा पहनना जरूरी था। इस विषय से संबंधित साक्ष्यों पर हम आगे के एक अध्याय में विचार करेंगे, और इस समय हमें पाइरार्ड के कथन की भूल को सुधारते हुए इतना कह कर ही संतोष मान लेना चाहिए कि भारत के अधिक से अधिक लोग देश में बने कपड़े का ही इस्तेमाल करते थे, लेकिन उनकी पोशाक बहुत सीमित होती थी—आमतौर पर सिर्फ कमर में लपेटी गई एक छोटी सी धोती का प्रचलन था।

दूसरे देशों पर तो यह बात और भी ज्यादा लागू होती है। गुड होप अंतरीप और चीन के बीच रहने वाले लोगों के नंगेपन की पुष्टि करने वाले इतने सारे प्रमाण उपलब्ध हैं कि उनसे कई पृष्ठ रंगे जा सकते हैं। सच तो यह है कि इन क्षेत्रों का भ्रमण करने वाले यूरोपीयों की दृष्टि ही सब से पहले इसी तथ्य की ओर गई, और विभिन्न बाजारों के महत्व का अनुमान लगाते समय हमें इस बात को बराबर ध्यान में रखना चाहिए। अफ्रीका के पूर्वी तट प्रदेश को लें तो मेरी समझ में यह सच है कि गुर्दाफुई अंतरीप और गुड होप अंतरीप के बीच रहने वाले लोगों के पहनने का अधिकांश या शायद सारा कपड़ा भारत ही मुहैया करता था,[27] लेकिन इन देशों में जो लोग कपड़ा पहनते थे उनकी संख्या बहुत कम थी। पाइरार्ड स्वयं कहता है कि ये सभी राष्ट्र नंगे रहते हैं। फ्रायर जुआनो तथा अन्य यात्री यही बात किंचित अधिक विस्तार से कहते हैं। इसलिए कपड़े का जो आयात इन क्षेत्रों में होता था और जिसकी मात्रा मेरे किसी भी विवरण में बहुत भारी नहीं बताई गई है वह सब पुर्तगाली सैनिकों, मुसलमान व्यापारियों और सरदारों तथा उन स्थानीय मूल निवासियों के लिए था जो अनुभव करने लगे थे। इससे उत्तर की ओर सचमुच एक महत्वपूर्ण बाजार था। अरब भारत से बहुत बड़ी मात्रा में कपड़े का आयात करता था, यह कपड़ा मिस्र भी ले जाया जाता था। और वहां से भूमध्य सागर के रास्ते अनेक क्षेत्रों में पहुंचता था, लेकिन बेशक यह कहना गलत होगा कि इन क्षेत्रों का 'हरेक व्यक्ति' भारतीय कपड़े पहनता था। भारत के दूसरी ओर आधुनिक बर्मा में अनेक राज्य थे, जहां कम से कम सोलहवीं सदी के कुछ वर्षो तक भारतीय कपड़े की अच्छी खासी खपत थी। शायद सोलहवीं सदी के अंत में सियामी युद्ध में हुई बर्बादी के फलस्वरूप इस खपत में सब से अधिक गिरावट आई। भारतीय कपड़े का तीसरा बड़ा बाजार था मलक्का द्वीप समूह जिसके लिए मलक्का व्यापार केन्द्र का काम करता था। मसालों या चीनी वस्तुओं के आयात के लिए भारत से जाने वाले जहाजों में कपड़े भरे होते थे जो या तो मलक्का में बेच दिए जाते थे या वहीं लौंग आदि मसालों के साथ उनका विनिमय कर लिया जाता था। लेकिन भारत की ही तरह यहां भी लोग बहुत कम कपड़ा पहनते

थे—आमतौर पर कमर से बंधे एक टुकड़े के अलावा और कुछ नहीं, और इसलिए यहां के बाजार का अनुमान बढ़ा चढ़ा कर नहीं लगाया जाना चाहिए। मलक्का जलडमरूमध्य से पूर्व के बाजार और भी कम महत्व रखते थे। चीन को भारतीय कपड़ा बड़ी मात्रा में भेजा जाता रहा हो, ऐसा कोई लिखित साक्ष्य मुझे नहीं मिला है, और ध्यान देने की बात है कि इस व्यापार से भलीभांति परिचित पुर्तगाली व्यापारी चीन में खरीददारी करने के लिए भारत से कपड़ा नहीं बल्कि चांदी ले जाते थे। जापान को भी कुछ कपड़ा बेचा जाता था, लेकिन खास बड़ी मात्रा में नहीं, और 1615 में जापान से लिखते हुए अंग्रेज गुमाश्ते ने कहा कि यहां के लोग 'बराबर परिवर्तन चाहते हैं और इसलिए सिर्फ नए और विचित्र फैशनों के लिए और चित्रकारी के लिए ही भारत से आया कपड़ा खरीदते हैं।' और अंत में, इस बात का भी उल्लेख किया जा सकता है कि कभी कभी स्पेन के जहाज सुदूर पूर्व के बाजारों से भारतीय कपड़ा फिलीपीन द्वीप समूह और शायद मैक्सिको को ले जाते थे, लेकिन ऐसा नहीं लगता कि इन जहाजों में ले जाए जाने वाले कपड़ों की मात्रा अधिक होती थी।

अब यदि हम पाइरार्ड के चित्रमय और अतिरंजित वर्णन को सीधे सादे तथ्यात्मक शब्दों में प्रस्तुत करना चाहें तो कहेंगे कि घरेलू कपड़ा बाजार पर भारतीय करघों का लगभग एकाधिकार था, अरब और उसके पश्चिम के देश, बर्मा तथा पूर्वी द्वीप ये इसके तीन प्रमुख निर्यात बाजार थे, तथा इनके अलावा इसके कुछ कपड़ों की खपत एशिया के अन्य भागों तथा अफ्रीका के पूर्वी तट के कतिपय देशों में भी हो जाती थी। इस मांग की पूर्ति करने वाली उत्पादन प्रवृत्ति सारे देश में फैली हुई थी, लेकिन ऐसा नहीं था कि यह फैलाव सर्वत्र समान स्तर का था। कुछ क्षेत्रों ने कुछ विशेष वर्गों के वस्त्रों के उत्पादन के लिए ख्याति अर्जित कर ली थी और दूसरी ओर परिवहन की सुविधाओं के कारण समुद्र तट पर या अंतर्देशीय जलमार्गों के निकट के कुछ स्थानों में इस उद्योग का खासा जमाव हो गया था। लेकिन आमतौर पर यह उद्योग देश भर में फैला हुआ था, इसमें संदेह नहीं है। जहां कहीं भी कोई यूरोपीय यात्री देश के अंदरूनी भाग में पहुंचा, उसने अपने इर्द गिर्द कपड़े का उत्पादन होते अवश्य देखा, और ऐसा मानना अनुचित न होगा कि इस काल में इस उद्योग का संगठन, जिसके अवशेष आज भी देखे जा सकते हैं, अपने पूरे जोर पर था तथा सभी शहर और अधिकांश बड़े गांव अपने अपने क्षेत्र की जरूरत के कपड़े स्वयं तैयार किया करते थे। इस तरह के सामान्य उत्पादनों का उल्लेख 'आईन-ए-अकबरी' में आमतौर पर नहीं किया गया है और इसमें बुनाई के जितने भी जिक्र हुए हैं उन सब का संबंध ऐसे कपड़ों से जान पड़ता है जिनकी व्यापकतर ख्याति कायम हो चुकी थी। उदाहरण के लिए, अबुलफज्ल ने सोनारगांव में बनने वाली श्रेष्ठ किस्म की मलमल[28] का उल्लेख किया है। गंगा के मैदानी क्षेत्रों में बनारस, मऊ या आगरा में सुलभ कपड़ों का जिक्र उसने बहुत प्रशंसा भाव से किया है और मालवा, दकन तथा गुजरात में बनने वाले श्रेष्ठ वस्त्रों का उल्लेख सामान्य रूप से। इसी प्रकार लाहौर, मुलतान, बुरहानपुर, गोलकुंडा आदि नगरों में उपलब्ध उच्च कोटि के वस्त्रों का उल्लेख यात्रियों और व्यापारियों

ने भी किया है, और ऐसा कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी कि उन दिनों श्रेष्ठतर किस्म के कपड़ों का देश भर में लगभग एक आम बाजार कायम हो गया था, हालांकि भारी परिवहन व्यय ऐसे संपूर्ण देशी बाजार के विकास में काफी बाधक रहा होगा।

निर्यात उत्पादन के चार मुख्य क्षेत्र थे : सिंधु का मैदान, जिसका माल लहरी बंदर से होकर बाहर जा सकता था, कैंबे की खाड़ी के समानांतर दक्षिण में देवल तक पहुंचने वाला क्षेत्र, कोरोमंडल, और बंगाल। सिंधु तथा उसकी शाखा और सहायक नदियों के किनारे लाहौर, मुलतान, सुक्कर, टट्टा और दूसरे अनेक शहरों में बुनकरों के बहुत बड़े बड़े समुदाय रहते थे, और उनका बहुत सा उत्पादन समुद्री मार्ग से निर्यात किया जाता था—कुछ तो अरब की ओर जाता था और शेष इस काल में पुर्तगाली लोग ले जाते थे। कैंबे की खाड़ी सबसे बड़ा व्यापार केंद्र थी। अहमदाबाद, पटना, बड़ौदा, भड़ौच, सूरत तथा कई छोटे-मोटे स्थानों से यहां माल पहुंचता था और यहां से पूर्व और पश्चिम दोनों दिशाओं में निर्यात किया जाता था। कैंबे के कपड़े के अफ्रीकी तट, अदन और फारस की खाड़ी में पहुंचने के साक्ष्य मिलते हैं। इतना ही नहीं, लंका, पेगू, मलक्का के निकटस्थ सभी द्वीपों और चीन के तट तक भी इसकी पहुंच के प्रमाण उपलब्ध हैं। भारत के पूर्वी क्षेत्र के निर्यात का फैलाव इतना अधिक नहीं था, और मेरे देखने में यह नहीं आया है कि कोरोमंडल तट से माल अरब सागर को भी पहुंचता था। लेकिन यहां से अधिकांशत: पेगू, मलक्का और पूर्वी द्वीप समूह को निर्यात किया जाता था, यद्यपि इन बाजारों में कैंबे तथा चौथे निर्यात केंद्र बंगाल से भेजे गए माल की भी खपत थी। इन निर्यात केंद्रों को कितनी दूर से माल मिलता था, यह निश्चित कर पाना आसान नहीं है। अंग्रेज व्यापारियों का अनुभव यह था कि कुछ प्रकार के कपड़े आगरा में खरीद कर अच्छे मुनाफे के साथ सूरत में जहाजों में लाद कर बाहर भेजे जा सकते थे, यद्यपि इसमें 700 मील का थल परिवहन आवश्यक था। लेकिन इस उदाहरण से शायद सामान्य स्थिति पूर्णत: परिलक्षित नहीं होती। वस्तुस्थिति यह है कि व्यापारी मुख्यत: अपना माल बेचने और नील खरीदने के लिए आगरा जाते थे और देश के इस हिस्से में कपड़े की खरीददारी तो वे प्रसंगवश ही कर लिया करते थे। स्पष्ट है कि जहां जलमार्ग सुलभ थे वहां लाभदायक निर्यात की संभावना उस स्थान की अपेक्षा अधिक रहती होगी जहां थल परिवहन का सहारा लेना पड़ता था। लाहौर सीधी राह से समुद्र से 700 मील दूर है और नदी मार्ग से तो और भी अधिक। इस दृष्टि से देखें तो कह सकते हैं कि बंगाल के बंदरगाहों पर इलाहाबाद तक का माल पहुंचता होगा। मतलब यह है कि निर्यात केंद्रों तक देश के दूर दूर के हिस्सों से माल पहुंचता होगा, लेकिन साथ ही यात्रियों और सौदागरों के विवरणों से यह धारणा बनती है कि गुजरात में और कोरोमंडल तट पर भी निर्यात किया जाने वाला अधिकांश कपड़ा बंदरगाहों के आसपास के क्षेत्रों में ही बुना जाता था।

कपास के कपड़े के अलावा कतिपय विविध वस्तुएं भी बनाई जाती थीं। हमें सूती गलीचों, चादरों, रस्सों, नेवारों तथा कुछ अन्य वस्तुओं का भी उल्लेख देखने को मिलता है, और कुल मिलाकर ऐसे उत्पादनों का परिमाण काफी बड़ा

रहा होगा, लेकिन इसका अंदाज लगाने का कोई साधन सुलभ नहीं है। यहां एक सहायक व्यवसाय रंगरेजी का भी जिक्र किया जा सकता है क्योंकि यद्यपि रंगाई कुछ दूसरे कपड़ों की भी होती थी, किन्तु यह उद्योग मुख्यतः सूती कपड़ों पर निर्भर था। रंगे कपड़े की बहुत बड़ी मांग थी, खास कर आधुनिक वर्मा में पड़ने वाले क्षेत्रों में, रंगने के लिए देशी वनस्पति के रंग का उपयोग किया जाता था।[29] और हम यह मान सकते हैं कि उन दिनों रंगने की जो विधि काम में लाई जाती थी वह बहुत कुछ वैसी ही थी जैसी कि आज भी प्रचलित है, और हाल में यूरोपीय कारखानों के उत्पादनों के मुकाबले मिटता जा रहा है।

ऊपर जो तफसीलें दी गई हैं, उनसे स्पष्ट हो जाता है कि इस काल में सूती वस्त्र उद्योग भारत की सबसे महत्वपूर्ण दस्तकारी था, लेकिन उन तफसीलों से हमें इन वस्तुओं के उत्पादन के परिमाण का एक मोटा अंदाजा लगाने में भी कोई सहायता नहीं मिलती। इस प्रश्न का हल ढूंढ़ने के लिए हमें भारतीय उपभोग और निर्यात व्यापार के परिमाण के संबंध में उपलब्ध तथ्यों पर विचार करना होगा। उपभोग से संबंधित तथ्यों का अध्ययन सब से अच्छी तरह जीवन-स्तर के संदर्भ में किया जा सकता है, और निर्यात व्यापार पर अगले अध्याय में विचार किया जाएगा। उसके बाद हम कपास से बनी वस्तुओं के उत्पादन के परिमाण के सवाल का हल ढूंढने की स्थिति में होंगे, और इसका हल ढूंढ़ना आवश्यक है, क्योंकि इस उत्पादन के परिमाण का संपूर्ण देश की आय में एक महत्वपूर्ण स्थान था।

औद्योगिक संगठन

सोलहवीं सदी के अंतिम वर्षों में भारतीय उद्योग किस पद्धति पर संगठित था, इसके संबंध में हमारे अध्ययन के प्रमाण स्रोतों में बहुत कम बताया गया है, और यह निष्कर्ष निकालना गलत न होगा कि वे चुप इसलिए हैं कि उनके पास कहने को कोई दिलचस्प बात नहीं थी। देश के लेखकों के लिए प्रचलित पद्धति—चाहे वह जैसी भी रही हो—इतनी परिचित रही होगी कि उन्हें उसका उल्लेख करने की आवश्यकता ही नहीं अनुभव हुई होगी और वे ऐसा मान कर चले होंगे कि जिन लोगों के लिए वे लिख रहे हैं उन्हें तो इसकी जानकारी है ही। जहां तक यूरोपीय यात्रियों का संबंध है, यहां कोई प्रमुख विशेषता यदि उनके लिए होती तो उन्होंने उसका उल्लेख निश्चित रूप से किया होता, और यदि हम देखते हैं कि उन्होंने ऐसी किसी विशेषता का उल्लेख नहीं किया है तो इससे निष्कर्ष यह निकलता है कि भारतीय पद्धति इस काल में यूरोप में प्रचलित पद्धति से मूलतः मेल खाती थी, या दूसरे शब्दों में, इस व्यवसाय की व्यवस्था और असली उत्पादन कार्य दोनों अलग अलग नहीं थे बल्कि उत्पादक ही व्यवस्थापक भी थे और वे पूंजीपतियों के निर्देश से सर्वथा मुक्त रह कर अपना काम करते थे। यह अनुमान इस तथ्य को देखते हुए लगभग निश्चित जान पड़ता है कि उद्योग की जिन शाखाओं का संगठन आधुनिक यूरोपीय ढंग पर नहीं किया गया है उनमें आज भी वही पद्धति कायम है, और यह बात समकालीन लेखकों की कतिपय प्रासंगिक कथनों से सर्वथा संगत प्रतीत होती है। ये कथन स्वभावतः

विदेशी व्यापारियों के प्रारंभिक पत्र व्यवहारों में देखने को मिलते हैं, क्योंकि तब वे जिन बाजारों में पैर जमाने की कोशिश कर रहे थे, उनके तौर तरीकों में उन्हें अपने आपको ढालना था और अनुभव से लाभ उठाकर अपनी जरूरत की चीजों को खरीदने का सब से अच्छा तरीका सीखना था। उन्होंने जो पहला सबक सीखा वह यह था कि जरूरत की चीजें पहले से ही खरीद कर रखी जाएं; जहाजों के बंदरगाह पहुंच जाने पर माल प्राप्त करने की कोशिश करना बेकार था। व्यापारियों को देश में छोड़ दिया जाता था और उनके लिए धन की पर्याप्त व्यवस्था कर दी जाती थी, ताकि वे अपनी जरूरत की चीजों का आर्डर दे सकें और चीजें मिल जाने पर उनकी कीमतें नकद चुका सकें। उन्होंने अनुभव से यह भी जाना कि कम से कम कुछ कारीगरों का व्यवहार संतोषजनक नहीं होता था, क्योंकि जब उन्होंने आगरा के गलीचे बुनने वालों को आजमाइश के तौर पर कुछ माल के लिए आर्डर दिया तो उन्होंने पाया कि कारीगरों में सुस्ती, धीमापन और गरीबी इतनी अधिक थी कि नियमित व्यवसाय में बहुत बाधा पड़ती थी। लेकिन अन्यत्र उन्होंने पाया कि बिचौलियों के माध्यम से खरीददारी करना सीधे कारीगरों से सौदा करने से कम संतोषजनक था, और सर टामस रो ने इस बात पर जोर दिया कि सिंध और बंगाल के कपड़ों की बजाय गुजरात के कपड़ों पर ध्यान केंद्रित किया जाए, क्योंकि कैंबे और भड़ौंच में आप पहले से ही यह बतला सकते हैं कि आप किस किस्म की चीजें चाहते हैं, उनकी लम्बाई चौड़ाई क्या होनी चाहिए और उनमें नफासत कितनी होनी चाहिए, और आप उस तरह की चीजें अच्छे से अच्छे बुनकरों से खरीद सकते हैं। इस पद्धति का अनुसरण करते हुए ऐसे माल की भी खरीददारी करनी पड़ सकती थी जो पूरी तरह तैयार न हो। इस तरह बुनकरों से कपड़ा खरीद कर उसे रंगरेजों के यहां रंगवाया या सफेदी करने वालों के यहां से सफेद कराया जा सकता था। एक गुमाश्ता प्रतिकूल परिस्थितियों में इस कार्यवाही की सजीव झांकी देते हुए कहता है कि जब भारतीय कपड़ों का एक खेवा बेचने के लिए मलक्का जलडमरूमध्य के पास कहीं पेश किया गया तो देखा गया कि कपड़ों में छेद है, जिसका कारण था 'उसे धोने वाले धोबी की मक्कारी, जो अफीम पाने के लिए ये कपड़े महीने भर के लिए किराये पर दे देता है, जिससे ये गंदे हो जाते हैं और तब उन्हें साफ करने के लिए पीट पीट कर उन्हें फाड़ देता है।' ऐसी कुछ घटनाओं को अलग रखकर देखें तो इस प्रारंभिक पत्र व्यवहार को पढ़कर जो धारणा बनती है वह यह है कि उत्पादन कार्य स्वतंत्र रूप से कारीगर करते थे, जिनके पास बहुत सीमित साधन होते थे और इसलिए जिन्हें अपना माल तैयार होते ही बेच देने को मजबूर होना पड़ता था।

किंतु कारीगरों पर आधारित उत्पादन पद्धति का मतलब यह नहीं है कि भारत में बड़े पैमाने पर कोई व्यवसाय नहीं किया जाता था। इलाहाबाद के किले या फतेहपुर सीकरी में नई राजधानी अथवा कैरेक नामक जहाजों के निर्माण का ख्याल आते ही यह धारणा दूर हो जाती है। इसका असली अर्थ मैं यह मानता हूं कि इस तरह के हर बड़े काम के लिए विशेष तौर पर संगठन करना पड़ता था। यदि किसी व्यापारी को बड़े जहाज की आवश्यकता होती थी तो वह

इसके लिए किसी ऐसी संस्था के सामने प्रस्ताव नही रख सकता था जिसने जहाज निर्माण में विशेषज्ञता हासिल कर ली हो और जो सारी तकनीकी तफसीलों की जिम्मेदारी अपने सिर लेने को तैयार हो। अधिक संभावना इस बात की थी कि पेड काटने से लेकर आगे की सारी क्रियाओं की व्यवस्था उसे खुद करनी पड़ती थी, या कम से कम उसे उन अलग अलग विभागों के लिए जिनमें यह उद्योग बंटा हुआ था, ठेकेदारों की सेवाएं प्राप्त करने का प्रबंध करना पड़ता था। जैसा कि हम एक पिछले अनुच्छेद में देख चुके हैं, छोटी छोटी अनेक इकाइयों से काम लेने की पद्धति सत्रहवी सदी में हीरा व्यवसाय में लागू थी, ठेकेदारी और सायव ठेकेदारी तो आज के भारत में भी प्रचलित है, और मुझे ऐसा कोई तथ्य ज्ञात नहीं है जो इस काल में साधारण उद्योग में इससे किसी बड़े संगठन का संकेत देता हो। लेकिन दूसरी पद्धति का अंकुर मुगल राजधानी में चलाए जाने वाले शाही कारखानों में देखा जा सकता है। विचाराधीन काल से कोई साठ साल बाद बर्नियर ने दिल्ली के राजमहल में जो कुछ देखा उसका वर्णन इन शब्दों में किया : 'अनेक स्थानों में बड़े बड़े कक्ष देखे जाते है, जिन्हें कारखाना कहा जाता है। एक कक्ष में मालिक की देख रेख मे कसीदाकार काम करते है। दूसरे में सोनार काम करते हैं। तीसरे में चित्रकार, चौथे में वारनिश करने वाले, पाचवें में जोड़ने वाले, खरादने वाले, दर्जी और मोची काम करते है और छठे में रेशमी कपड़ा, किमखाब और मलमल तैयार करने वाले कारीगर काम करते है।' ये कारखाने शायद उन्ही कारखानों के विकसित रूप थे जिनका उल्लेख कहीं कही अबुलफज्ल ने किया है, हालांकि उसने उनके संगठन का तफसीलवार वर्णन नही किया है। ये कारखाने उत्पादन की एक अलग व्यवस्था के प्रतीक थे, क्योंकि इस व्यवस्था के अंतर्गत कारीगर दूसरों के निर्देशन में काम करते थे और उनके लिए कच्चे माल की व्यवस्था शायद सरकारी कर्मचारी करते थे और जब अकबर की तरह शाहंशाह स्वयं उत्पादन कार्य में दिलचस्पी लेता था तब इन कारखानों में नमूने और कारीगरी मे सुधार की संभावना भी रहती थी। हो सकता है, कुछ दस्तकारिगों के इसी तरह के गैर सरकारी कारखाने भी रहे हो, यद्यपि हमारे प्रमाण स्रोतों में उनके बारे में कुछ नही कहा गया है, किंतु जो उद्धरण पहले दिए जा चुके है उनसे प्रकट होता है कि साधारण बुनाई उद्योग में कारीगर स्वतंत्र रूप से काम करते थे।

कारीगरों की आर्थिक स्थिति शायद ऐसी चीज नही थी जिसमें सोलहवी सदी के उन लेखकों की रुचि होती, जिन्होंने भारत के कुछ हिस्सों का वर्णन किया है और फलतः इसके संबंध में लगभग कोई समकालीन जानकारी सुलभ नही है। बाद में आने वाले कुछ यात्रियों ने इस प्रश्न की ओर अवश्य ध्यान दिया। कोलवर्ट को लिखते हुए बर्नियर ने सूचित किया : 'जिस जाति के लोग या तो घोर दरिद्र हों या धनी हों तो भी अपने को दरिद्र ही दिखाएं और जिस जाति के लोग किसी वस्तु की सुन्दरता और श्रेष्ठता की ओर ध्यान न देकर सिर्फ उसके सस्तेपन को देखें और जिस जाति के श्रीसंपन्न लोग भी अपनी सनक के अनुसार किसी कलात्मक वस्तु का मूल्य वास्तविक मूल्य से बहुत कम दें उस जाति के बीच किसी भी कलाकार से अपने काम में मन लगाने की अपेक्षा नहीं रखी जा सकती।'

वह आगे बतलाता है कि शाही कारखानों के प्रयोग के कारण और इसी तरह कतिपय शक्तिशाली संरक्षकों द्वारा अदा किए जाने वाले अपेक्षाकृत ऊंचे मूल्यों के फलस्वरूप कलात्मक दस्तकारियों के पतन में कुछ रुकावट आती है, लेकिन 'अपेक्षाकृत ऊंचे मूल्यों' के संबंध में स्थिति स्पष्ट करते हुए वह कहता है कि 'इससे यह नहीं समझना चाहिए कि कारीगर की इज्जत की जाती है या वह कोई स्वतंत्र स्थिति प्राप्त कर लेता है। वह सिर्फ अपनी जरूरतों से मजबूर होकर या डंडों की मार के डर से ही काम करता है। वह अमीर तो कभी हो ही नहीं सकता और यदि उसे अपनी भूख मिटाने के लिए कुछ भोजन और तन ढकने के लिए मोटे से मोटा कपड़ा मिल जाता है तो वह इसे कोई मामूली बात नहीं मानता है। यदि लाभ होता है तो वह उसकी जेब में नहीं जाता है, वल्कि व्यापारी की संपत्ति को बढ़ाता है।' दिल्ली में इस काल की कलाओं की स्थिति के बारे में थेवनो को जो कुछ बताया गया उससे बर्नियर के वर्णन की पुष्टि होती है, और थेवनो की बातों से यह मतलब निकाला जा सकता है कि सत्रहवीं सदी के मध्य में कारीगर की स्थिति मूलतः वैसी ही थी जैसी कि आज है, अर्थात तब भी उसे मुख्यतः व्यापारियों या बिचौलियों के लाभ के लिए काम करना पड़ता था। और सिवाय किसी धनाढ्य या शक्तिशाली संरक्षक की कृपा के और किसी उपाय से वह अपनी स्थिति सुधारने की आशा नहीं रख सकता था। गुजरात के 1630-31 के अकाल के अनुभवों से कारीगरों के सबसे महत्वपूर्ण वर्ग की स्थिति पर कुछ प्रकाश पड़ता है। बाजार में विदेशी खरीददारों के आने के फलस्वरूप इस काल में व्यापार का जो विस्तार हुआ था उससे गुजरात को काफी लाभ हुआ था, और यह मानना अनुचित नहीं होगा कि यहां के बुनकरों और वस्त्र उद्योग की अन्य शाखाओं में काम करने वाले लोगों की स्थिति कम से कम उतनी अच्छी तो रही होगी जितनी कि देश के किसी अन्य भाग में थी। लेकिन जब हम उनकी आर्थिक अवस्थाओं को अकाल के संकट का सामना करने की शक्ति की कसौटी पर परखते हैं तो पाते हैं कि उनकी स्थिति बहुत असंतोषजनक थी क्योंकि समकालीन विवरणों से पता चलता है कि इस अकाल के फलस्वरूप औद्योगिक संगठन बिल्कुल ठप हो गया था। 1630 के नवंबर महीने तक इतने सारे बुनकर तथा अन्य कारीगर अपना घर बार छोड़ कर अन्यत्र चले गए थे कि इंग्लैंड के जहाजों को लदान के लिए माल नहीं मिल पाया, और जब अगले जून महीने में वर्षा हुई तो व्यापारियों को भड़ौंच और बड़ौदा के बुनकरों को कपड़े के हर टुकड़े पर 'सेर भर अनाज' के हिसाब से खैरात देनी पड़ी।

इसलिए कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि अकबर की मृत्यु के कुछ समय बाद अधिकांश कारीगरों की स्थिति कम से कम उतनी बुरी तो थी ही जितनी कि आज है। अपने दैनिक खर्च के लिए ये लोग खरीददारों या बिचौलियों पर आश्रित थे और संकट की स्थिति आने पर सर्वथा असहाय हो जाते थे। ऐसा कोई प्रत्यक्ष साक्ष्य उपलब्ध नहीं है जिसके आधार पर अकबर के शासन काल के अंतिम वर्षों की स्थिति पर भी इस कथन को लागू किया जा सके लेकिन बीच के काल में किसी भारी आर्थिक परिवर्तन का संकेत देने वाले किसी प्रमाण के अभाव में ऐसा निष्कर्ष निकालना गलत न होगा कि अकबर के समय

में भी स्थिति मूलतः वैसी ही थी और जहां कुछ व्यक्तियों को शक्तिशाली और प्रबुद्ध लोगों के संरक्षण मे कुछ लाभ हो सकता था. अधिकांश कारीगर और मजदूर किसी तरह दो रोटियां पाते रहने से अच्छी स्थिति की आशा नही करते थे।

ऐसी स्थिति के लिए संभावित कारणों के तौर पर खास तौर से दो बातों का उल्लेख किया जा सकता है: कच्चे माल की कीमत और कर भार। हम देख चुके हैं कि धातुओं की कीमत बहुत ऊंची थी और कारीगरों के पास पूंजी का अभाव होने के कारण धातुओं के काम पर पूर्ण रूप से उन लोगों का नियंत्रण रहता होगा जो उन्हें धातुएं दे सकते थे। कम से कम उत्तर भारत मे कपास की कीमत भी ऊंची थी। क्योंकि राजस्व निर्धारण में कपास पर जिस दर से रकम बांधी जाती थी उससे यह प्रकट होता है कि यह गेहूं की अपेक्षा बहुत अधिक कीमती रही होगी, और जहां बिचौलियों या महाजनों का सहारा लिया जाता होगा वहा उनकी स्थिति स्पष्ट ही आज की अपेक्षा भी अधिक सुदृढ़ होती होगी। यह मानने का कोई कारण दिखाई नही देता कि आज के बिचौलियो की अपेक्षा अकबर काल के बिचौलियों का हृदय कोमल होता होगा, चूंकि उन दिनों स्थिति उनके लिए अधिक अनुकूल थी, इसलिए हमें बर्नियर के इस कथन में संदेह नही करना चाहिए कि शोषण आम बात थी। दस्तकारियों पर लगाए जाने वाले कर के संबंध में हमारे पास प्रत्यक्ष जानकारी बहुत कम है। अबुल फज्ल कहता है कि अकबर ने कई प्रकार के शुल्क माफ कर दिए, जिनमें कई प्रकार के कारीगरों पर लगा एक कर और कुछ उत्पादनों तथा पेशों जैसे कंबल, चर्म-शोधन चूना निर्माण आदि पर लगे हुए कर भी शामिल थे, लेकिन जैसा कि हमने एक पिछले अध्याय में देखा है, इन माफियों को स्थायी नही माना जा सकता और जो कुछ राज्य माफ कर देता था वह छोटे कर्मचारी अक्सर वसूल कर लेते थे। सामान्यतया विदेशी यात्री ऐसे करों के अस्तित्व पर ध्यान नहीं देंगे, लेकिन टेरी ने स्पष्ट शब्दों मे कहा है कि 'इन चित्र विचित्र वस्तुओं को बनाने वाले लोगों की मेहनत का पैसा ऐंठने के लिए मुगल बादशाह के अमले पूरी बादशाहत में फैले हुए है।' टैवर्नियर कहता है कि बनारस में बुनकरों को अपने कपड़े के हर थान को मुहर लगवाने के लिए करों की उगाही करने वाले ठेकेदारों के पास ले जाना पड़ता था और मुहर लगवा कर ही वे अपना कपड़ा बेच सकते थे। लेकिन इस विषय से संबंधित सिर्फ यही स्पष्ट कथन मेरी निगाह में आए है, यद्यपि सामान्य ढंग से ऐसी बातें तो अनेक स्थलों पर कही गई है कि लोग अपनी अपनी हैसियत के मुताबिक कर देते थे। इसलिए यद्यपि यह प्रमाणित करने के लिए कोई निश्चित साक्ष्य उपलब्ध नही है कि अकबर के शासन काल के उत्तरार्ध में कारीगरों पर करों का भारी बोझ था, लेकिन उस काल की परिस्थिति को देखते हुए यह संभव है कि उन्हें भी राजस्व में योग देना पडता रहा हो और इस काल मे उनकी आर्थिक स्थिति का अनुमान लगाने मे यह तथ्य ध्यान मे रखा जाना चाहिए।

शहरी मजदूरी

अब इस काल में भारत में प्रचलित मजदूरी दरों से संबंधित कुछ जानकारी

को सुविन्यस्त रूप से प्रस्तुत करना सुविधाजनक रहेगा। यह विषय ग्रामीण जीवन की अपेक्षा शहरी जीवन के लिए अधिक प्रासंगिक है, क्योंकि यदि मैंने गांवों की आर्थिक अवस्था की ठीक व्याख्या की है तो न कहना होगा कि अकबर के काल में यदि श्रम का कोई बाजार था तो वह शहरों में ही था। कृषक मजदूर आमतौर पर अर्धदास होता था, जिसे अपने काम के बदले दस्तूर के मुताबिक लगभग उतनी चीजें मिल जाती थी जितनी उसे और उसके परिवार को जीवित रखने के लिए पर्याप्त होती थीं। मैं समझता हूं, देहाती कारीगर को भी दस्तूर के मुताबिक ही जरूरत की चीजें दी जाती थीं। अब यह प्रथा धीरे-धीरे मिटती जा रही है। सिर्फ कस्बों और नगरों में ही लोगों को काम करने के लिए किराए पर लिया जाता था और वहीं के बारे में ऐसा कहा जा सकता है कि मजदूरी की कुछ दरें तय थीं। लेकिन इसका मतलब यह नहीं लगाया जाना चाहिए कि शहरी और देहाती आबादी के बीच पूरा अलगाव था। सच तो यह है कि लोग गांवों को छोड़कर बराबर सेना और शहरों की ओर जाते ही रहते थे। इस प्रवृत्ति का कारण अंशतः तो यह था कि जनसंख्या बढ़ जाने से फालतू लोग स्वभावतः अपने मूल निवास स्थानों से निकल पड़ते थे और अंशतः यह कि मौसम की स्थिति के खेती के लिए प्रतिकूल हो जाने या परिस्थिति के अन्य प्रकार से प्रतिकूल हो जाने के फलस्वरूप लोग कृषि कार्य को छोड़ने को मजबूर हो जाते थे। बर्नियर के विवरण से ऐसा आभास मिलता है कि जिन दिनों उसने भारत की यात्रा की उन दिनों इस प्रवृत्ति ने यहां खासा जोर पकड़ लिया था। बर्नियर ने कोलबर्ट को लिखा : 'ऐसे घोर अत्याचार से घबरा कर किसान अपना गांव घर छोड़ देते हैं और या तो शहरों में या फौज में कुछ अधिक सह्य जीवन की तलाश करते हैं।' लोगों के गांव छोड़कर शहर जाने का यह कारण शायद अकबर की अपेक्षा औरंगजेब के शासन काल पर ज्यादा लागू होता था, लेकिन ऐसा निष्कर्ष निकालना गलत नहीं होगा कि नगरों की श्रमिक आबादी को देहात से आने वाले लोग बढ़ाते रहते थे और पुराने शहरी मजदूरों और गावों से आए नए मजदूरों के बीच किसी हद तक स्पर्धा रहती थी, जिसका अप्रत्यक्ष प्रभाव मजदूरी दरों पर अवश्य पड़ता होगा। टेरी का कहना है कि अपना श्रम बेचने के लिए लोग बाजारों में खड़े रहते थे। कुछ नगरों में अपना श्रम बेचने को उत्सुक मजदूरों को आज भी इसी तरह कुछ स्थानों पर एकत्र देखा जा सकता है। टेरी के कथन से प्रकट होता है देश में एक प्रकार का श्रम बाजार अवश्य था। लेकिन इस बाजार के तौर तरीकों के बारे में बहुत कम जानकारी उपलब्ध है, और अबुलफज्ल द्वारा दिए इन ब्यौरों के अलावा मुझे उन मजदूरी दरों के कुछ प्रासंगिक उल्लेख भर देखने को मिले हैं जिन पर यात्री और व्यापारी घरेलू नौकर रखा करते थे।

अबुल फजल द्वारा दिए गए तथ्य महत्वपूर्ण तो हैं, लेकिन उनसे हमें एक बहुत सीमित क्षेत्र की ही झांकी मिलती है।[30] उसने प्रचलित मजदूरी दरों की कोई सूची तैयार करने की कोशिश नहीं की, लेकिन शाही गृहस्थी के विभिन्न विभागों का वर्णन करते हुए उसने अकबर द्वारा मंजूर की गई वेतन दरों का उल्लेख अवश्य किया है। इन दरों को शाही नौकरों की वास्तविक आय मानना

गलत होगा। कुछ मामलों में उन्हें जरूरत की छोटी-मोटी चीजों का दाम देना पड़ता था,—लेकिन इस तरह उन्हें कितनी बड़ी राशियां देनी पड़ती थीं, इसका अनुमान लगाना संभव नहीं है। अक्सर उन्हें जुर्माने भरने पड़ते थे और कभी कभी तो जुर्माने भयंकर होते थे। और यदि अकबर का दरबार अन्य पौर्वात्य राज-प्रतिष्ठानों से सर्वथा भिन्न नहीं था तो यह भी संभव है कि इन नौकरों को अपनी मजदूरी का एक अंश अपने ऊपर के सरकारी अमलों को देना पड़ता था। लिहाजा हम यह कह सकते हैं कि अकबर ने जो निम्नलिखित मजदूरी—दरें मंजूर की थीं और उसके नौकर इन दरों से अधिक नहीं कमा सकते थे, बल्कि व्यवहारतः शायद कुछ कम ही पाते थे :

वर्ग	मंजूर दर	आधुनिक मूल्य
साधारण मजदूर	प्रतिदिन 2 दाम	5½ आने
श्रेष्ठतर मजदूर	प्रतिदिन 3 से 4 दाम	8½ से 11 आने
बढ़ई	प्रतिदिन 3 से 7 दाम	8½ आने से 1.4 रु०
राज	प्रतिदिन 5 से 7 दाम	14 आने से 1.4 रु०

कहने की जरूरत नहीं कि ये दरें मुख्यतः शाही शिविर के लिए होती थीं और शाही शिविर अपने आप में बादशाहत का सबसे बड़ा नगर था। इसलिए इन दरों की क्रय शक्ति का अनुमान अबुल फजल द्वारा बताई गई कीमतों के आधार पर लगाया जा सकता है, और इसी आधार पर मैंने उन दरों के आधुनिक मूल्य भी दिखाए हैं। इस तरह हिसाब लगाने पर मालूम होता है कि ये दरें, मोटे तौर पर 1911 में दी गई मजदूरी दरों के आंकलन के समय आगरा और लाहौर में प्रचलित दरों के बीच में पड़ती है।[31] और उनसे यह प्रकट होता है कि अगर अकबर के मजदूरों को स्वीकृत दरों से मजदूरी मिलती थी तो वे संयुक्त प्रांत के आधुनिक मजदूरों से बेहतर स्थिति में थे, लेकिन उतनी अच्छी हालत में नहीं थे जितनी अच्छी हालत में पंजाब के मजदूर थे। इस बात की अधिक संभावना है कि उन्हें स्वीकृत दरों से कुछ कम मिलता था और उनकी वास्तविक स्थिति उतनी अच्छी नहीं थी जितनी कि इन दरों को देखते हुए मालूम होती है।

लेकिन इन आंकड़ों से सामान्यतया यह निष्कर्ष निकलता है कि उत्तर भारत में अकबर काल में वास्तविक शहरी मजदूरी का स्तर लगभग वही था जो 1911 में था, और इन वर्गों के पारिश्रमिक मान में कोई स्पष्ट परिवर्तन नहीं हुआ है। पैदल सैनिक तथा शाही गृहस्थी के विभिन्न विभागों के लिए स्वीकृत मासिक वेतन दरों से भी इस निष्कर्ष की पुष्टि होती है। कुछ निम्नतम श्रेणियों के नौकरों को प्रति मास दो रुपए से भी कम (भंगी को 65 दाम, ऊंट चालक को 60 दाम, पहलवान को 70 दाम) मिलता था, और अधिकांश घरेलू नौकरों और पैदल सिपाहियों का वेतन मासिक तीन रुपए से भी कम से शुरू होता था। दरबार में दी जाने वाली न्यूनतम निर्वाह मजदूरी शायद सबसे निचले वर्ग के दासों को मिलती थी। इन्हें प्रतिदिन एक दाम, यानी उस समय की मुद्रा में प्रति मास तीन चौथाई रुपया मिलता था।

विशेष कुशलता की अपेक्षा रखने वाले काम करने के लिए जो मजदूर

रख जाते थे उनकी मजदूरी के बारे में इस तरह के आंकड़े हमें उपलब्ध नहीं है, और चूंकि हमें यह मानकर चलना होगा कि विभिन्न श्रेणियों के मजदूरों के कार्य क्षेत्र एक दूसरे से उतने ही अलग थे जितने की आज है, इसलिए आम मजदूरों की मजदूरी दरों के आधार पर निकाले गए निष्कर्षों को इन विशेष वर्गों के मजदूरों पर लागू करना उचित नहीं होगा। हम देख चुके हैं कि कारीगरों की स्थिति आम तौर पर खराब थी और इसलिए अपने सहायक कारीगरों को भी वे अच्छी मजदूरी नहीं दे पाते होंगे लेकिन वास्तव में क्या देते थे, इसके बारे में तो तब तक अंदाजा भी नहीं लगाया जा सकता है जब तक कि जानकारी का कोई नया स्रोत सामने नहीं आता।

यात्रियों और व्यापारियों द्वारा दी जानेवाली मजदूरियों से संबंधित लगभग सारे तथ्य हमें दक्षिण और पश्चिम भारत से मिलते है। टेरी ने पांच शिलिंग यानी लगभग दो रुपए मासिक वेतन पर मिलने वाले नौकरों की बड़ी प्रशंसा की है और कहा है कि इसमें से आधा पैसा तो वे अपने घर भेज देंगे। यह बात शायद सूरत में रखे गए नौकरों के बारे में कही गई है, लेकिन अगर खास सूरत के संबंध में न भी कही गई हो तो कम से कम उस क्षेत्र से तो संबंध रखती ही है, क्योंकि टेरी मांडू से उत्तर नहीं गया। लगभग दस वर्ष बाद सूरत के बारे में ही लिखते हुए डेला वेल ने यह दर अधिक से अधिक तीन रुपए बताई है और डीलेट लाएट को सूचना देने वालों ने उसे तीन से चार रुपए की दर सूचित की, जिसमें खरीदारियों पर मिलने वाली दस्तूरी की बदौलत कुछ इजाफा भी हो सकता था। सूरत से मछलीपट्टम तक जाने वाले संदेशवाहक को 1614 में इस यात्रा के लिए सात आठ महमूदी (यानी लगभग तीन चार रुपए) दिए गए। इस यात्रा में उसे लगभग दो महीने लगे, लेकिन लगता है उसने कुछ समय व्यर्थ गंवाया, अन्यथा एक महीने का समय पर्याप्त था। इन उदाहरणों से यह निष्कर्ष सही साबित होता है कि सत्रहवीं सदी के आरम्भ में विदेशी लोग लगभग तीन रुपए माहवारी पर अच्छे योग्य नौकरों की सेवा प्राप्त कर सकते थे। इस राशि के हिसाब से असली मजदूरी कूतना कठिन है। जैसा कि पहले के एक अध्याय में बताया गया है, पश्चिमी तट पर उत्तर भारत की तुलना में कीमतें ऊंची थीं ऐसा जान पड़ता है, लेकिन उन कीमतों का ठीक स्तर निर्धारित नहीं किया जा सकता। दूसरी ओर यदि टेरी या डेला वेल 1914 में बंबई पहुंचते तब वे जो मजदूरी देते (लगभग तीस रुपया प्रति मास और ऊपर से खरीददारी मिलने वाली दस्तूरी) उससे सत्रहवीं सदी की दर की सीधी तुलना करना शायद उचित नहीं होगा। यूरोपीयों को ये दरें असाधारण रूप से निम्न जान पड़ीं और यदि हम उन्हें उत्तर भारत की राजधानी में प्रचलित दरों के साथ मिलाकर देखें तो घरेलू रोजगार के इस महान विकास को समझ सकते हैं जो (जैसा कि हम एक पिछले अध्याय में देख चुके हैं) इस काल के भारतीय जीवन की एक उल्लेखनीय विशेषता थी।

पांचवें अध्याय के लिएं प्रमाण स्रोत

अनुच्छेद–1 कुछ नहीं।

अनुच्छेद-2—यात्री जिन जंगलों से होकर गुजरे उनके बारे में उन्होंने बहुत कम बताया है। जंगलों से होकर गुजरना यात्रा का एक अप्रिय दौर था, जिसे वे जल्दी से जल्दी समाप्त कर देना चाहते थे। लेकिन कई यात्रियों ने बंगाल के बांसों और पश्चिमी घाटों के सागौन का उल्लेख किया है। उदाहरण के लिए देखिए पाइराई, अनुवाद, (i) 338, (ii) 180 मछलीगाहों से संबंधित जानकारी का साधनसूत्र है 'आईन' अनुवाद, (ii) 124, 126, 338 लिनशाटेन अ० 38, थेवनो, 77, मुक्त केन्द्रों के लिए देखिए, उदाहरणार्थ हे, 735।

अनुच्छेद-3—सोने के संबंध में टैवर्नियर का मौन मुझे निर्णायक निष्कर्ष देने वाली बात जान पड़ती है। इस विषय में उसकी खास रुचि थी और एशियाई उत्पादन का उसने थोड़ा बहुत वर्णन भी किया है (पृ० 393)। दक्षिण भारत का उसने काफी भ्रमण किया था और यदि वहां सोने की कोई खान या उसका कोई क्षेत्र होता तो उसने उसका उल्लेख अवश्य किया होता और वहां तक अवश्य जाता। 'आईन' अनुवाद, (ii) 171, 280, 312 इस धातु का उल्लेख अवश्य हुआ है। इनमें से कुछ अनुच्छेदों मे चांदी का उल्लेख हुआ है, जिसमें आगरा की खान का उल्लेख पृष्ठ 181 पर हुआ है।

रांगे और जस्ते के लिए देखिए 'आईन', अनुवाद (ii) 286, तांबे के लिए 173, 182, 194, 268, 280, लोहे के लिए 124, 159, 181 230, 280 आदि। पुरानी भट्टियों के स्थानों का कुछ पता 'इंपीरियल गजेटियर' में तांबे और लोहे के अंतर्गत दी गई प्रविष्टियों को देखने से लग सकता है। तांबे के आयात के लिए देखिए बारबोसा 285, X वां डिकाडा, (i) 364, (XII) डिकाडा, 20, थेवनो, 318, तांबे और दूसरे खनिज पदार्थों की कीमतों के लिए देखिए रा० ए० सो० का जर्नल, अक्तूबर 1918, पृष्ठ 375 और आगे। भारतीय लोहे से संबंधित जानकारी हाब्सन–जाब्सन (आर्ट वूज) में है।

हीरा-क्षेत्रों का विवरण टैवर्नियर, 326 और आगे के पृष्ठों में है। नमक के संबंध में पंजाब की खानों का वर्णन 'आईन', अनुवाद (ii), 315 में किया गया है। बदायूनी ने सांभर झील का उल्लेख किया है। (ii 45), समुद्री नमक का उल्लेख 'आईन', अनुवाद ii, 139 आदि में (बंगाल) 256 आदि में (गुजरात) 338 आदि में (सिंध) है। पाइराई (अनुवाद i-359) ने मलाबार के नमक क्षेत्र का उल्लेख किया है साथ ही उसने गोआ में बसेव पत्थर के प्रयोग का भी हवाला दिया है (ii–257) शोरे के लिए देखिए आईन, अनुवाद ii 231, 253।

अनुच्छेद–4—गुड़ और खांड का उल्लेख कई लेखकों ने किया है, जैसे बारबोसा, 346, और लिनशाटेन, 11। बंगाल के शकर के लिए देखिए बारबोसा 362, लिनशाटेन, अ० 16 था, फिंच परकास II, X, 1736। अहमदाबाद और कैंबे के लिए देखिए लेटर्स रिसीव्ड, i, 302। मिश्री के लिए देखिए 'आईन', अनुवाद, ii, 181, लेटर्स रिसीव्ड iv, 291, लिनशाटेन अ० 7। कीमतें आईन, अनुवाद, i 63 में दी गई है।

कपास की ओटाई के लिए देखिए थेवनो 21, नील बनाने के लिए देखिए परकास I, iv 430। गुजरात में तंबाकू पत्ते की उपलब्धता का उल्लेख लेटर्स रिसीव्ड, i 298 में है, टेरी, पृष्ठ 96, ने उससे कुछ बनाने की कला से

अनभिज्ञता का उल्लेख किया है। लगभग सभी साधनसूत्रों में किसी न किसी प्रकार के मद्य का उल्लेख है। अकवर के विनियम आईन, अनुवाद, ii 42 में है, जहांगीर के आदेश तुजुक i 8 में और उसकी आदतों का वर्णन परकास I, iii 222 में मिलेगा। शराव की मांग की पूर्ति से संबंधित कथनों के उदाहरणों के लिए वारवोसा 346, परकास I, iv 424, और जोर्डाइन 124, 132।

अनुच्छेद–5—कलात्मक दस्तकारियों का उल्लेख भारत आने वाले अधिकांश विदेशी यात्रियों ने किया है, उदाहरण के लिए देखिए वारवोसा 278, लिनशाटेन अ० 9 या थेवनो, 36,140। फर्नीचर की कमी के संबंध में देखिए खास तौर से टेरी, 185, लेकिन यह साक्ष्य अधिकांशतः नकारात्मक है, और स्थिति को ठीक से समझने के लिए यह जरूरी है कि जो कुछ इसमें नहीं दिया गया है उसकी तलाश अन्य विभिन्न समकालीन विवरणों में से प्राप्त करके पूर्ण करें। पुर्तगाली फर्नीचर के लिए देखिए पाइराई, अनुवाद, ii 245, रांदेर के व्यापारियों के लिए देखिए वारवोसा 287, भारतीय साज और जीन की विस्तृत जानकारी आईन, अनुवाद, i 126-153 में दी गई है।

कागज के बारे में पाठ में जो कुछ कहा गया है वह मुख्यतः डेली वेल 291, और पाइराई अनुवाद ii, 175, 211 तथा 245 पर आधारित है। घरों के रूपाकारों के संदर्भ में उस अध्याय में मिलेंगे जिसमें जीवन स्तर पर विचार किया गया है। इलाहावाद का किला वनवाने में लगने वाले समय की जानकारी के लिए देखिए परकास i, iv, 437।

अनुच्छेद–6—थल मार्ग से यात्रा का सब से अच्छा विवरण टैवर्नियर 24, और वाद के पृष्ठों में 121 मे मिलता है। लेकिन यह विवरण विचाराधीन काल के कुछ वाद के समय से संबंध रखता है। लेकिन मैं नहीं समझता कि इस बीच कोई विशेष परिवर्तन हुआ होगा। नदी यातायात के फैलाव के लिए देखिए परकास I, vi, 432 ii, X, 1733, इलियट, हिस्ट्री, v, 374, आईन, अनुवाद, i 2801, गंगा में चलने वाली नावों का आकार जोर्डाइन, 162, में दिया गया है, और यमुना में चलने वाली नावों के आकार के बारे में परकास I iv, 439 में फिंच ने जानकारी दी है। अरव और मिस्र में जहाज वनाने के प्रयत्नों के देखिए वारवोसा 246, टेंथ डिकाडा, ii 178, और हव्सन-जाव्सन में 'टीक' इंदराज के अंतर्गत। पेगू के संबंध में हमारा प्रमाण देखिए। परकास II, X दास 1728 हाजी जहाजों का कोंटी द्वारा दिया गया विवरण मेजर 27 में है, परकास (उदाहरण के लिए I, III 308, 396) में उनका उल्लेख कई स्थलों पर है, मुख्यत. थलमार्ग से यात्रा करने वाले टेरी जैसे व्यक्ति ने भी उनके आकार का वर्णन "टन' भार में किया है (वही, II IX, 1470)। अन्य लेखकों के साथ पाइराई ने भी वेमीन में कैरेक जहाजों के निर्माण का उल्लेख किया है। (ii, 114)।

अनुच्छेद–7—रेशमी वस्तुओं के निर्यात के लिए देखिए वारवोसा 233, 366, वरथेमा 111, अन्य लेखक इस विषय पर मौन हैं, और ध्यातव्य है कि सीजर फ्रेडरिक, फिज या वल्वी (जिनके विवरण एक साथ परकास II X, में दिए गए हैं) में से किसी ने रेशमी वस्तुओं के वंगाल से पेगू को निर्यात किए जाने

का उल्लेख नहीं किया है। भारत में रेशम की चीजों के उपयोग के लिए देखिए आईन, अनुवाद i, 388, और बारबोसा, 297 टॅवर्नियर द्वारा इसके उत्पादन का वर्णन पृष्ठ 290 में किया गया, है कच्चे माल के आयात का उल्लेख गार्सिया दा ओर्टा पृष्ठ 95 में है, लिनशाटेन, अ० 23 और पाइरार्ड, अनुवाद, ii, 239 में भी। आधुनिक उत्पादन के लिए मैंने प्रोफेसर मैक्सवेल लीफ्राय, जर्नल, रायल सोसाइटी ऑफ आर्ट्स, 1917, पृष्ठ 290 का उपयोग किया है। गुजरात के उद्योग का उल्लेख अधिकांश यात्रियों ने किया है, उदाहरण के लिए देखिए, लिनशाटेन, अ० 10 कश्मीर के लिए देखिए आईन, अनुवाद ii, 349, अकबर के द्वारा किए गए सुधार प्रयत्नों के लिए देखिए वही i, 88, जडी रेशम के लिए देखिए हाब्सन-जाब्सन में 'ग्रास क्लाथ' और मूंगा' इंदराज।

ऊनी वस्तुओं के संदर्भ के लिए देखिए आईन, अनुवाद, i 55, 90-9-6, 136। लेटर्स रिसीव्ड में अंग्रेज व्यापारियों की निराशा के उल्लेख अनेक स्थलों (उदाहरण के लिए II 96, 103) पर हैं। ऊन के स्तर के संबंध में टेरी का कथन परचास, ii, ix, 1469 में है। 'इंग्लिश फैक्टरीज', की प्रारंभिक जिल्दों में गलीचों का उल्लेख अनेक स्थलों पर है।

अनुच्छेद–8—सन पर राजस्व की दरें आईन, अनुवाद ii. 91 और बाद के पृष्ठों में मिलेंगी, पटसन का एकमात्र उल्लेख आईन, ii, 123 में है। पटुए के वस्त्र से संबंधित कथन इंपीरियल गजेटियर, iii, 204 से उद्धृत है।

सूती वस्त्रों के व्यापार के प्रति यूरोपीयों के रुख के लिए देखिए पाइरार्ड, अनुवाद ii, 245, अफ्रीकी लोगों के नंगेपन के बारे में पाइरार्ड का कथन ii, 149 में है। फ्रायर, जुआनो के लिए देखिए परकास II ix 1450 और यत्रतत्र पूर्वी द्वीप समूह के लोगों द्वारा अत्यल्प वस्त्र के उपयोग से संबंधित उक्तियां हकलुत, v, 26, 372 और परकास I, iii, 165 में है। पाइरार्ड, अनुवाद, ii, 172, में इस काल में चीन के साथ व्यापार से संबंधित जानकारी मिलती है। जापान से संबंधित उद्धरण लेटर्स रिसीव्ड, iii, 238 में से लिए गए हैं। लिनशाटेन (अ० 22) फिलीपीन द्वीप समूह से पूर्व के व्यापार की चर्चा करता है।

आईन, अनुवाद ii, 'बारह सूबों का विवरण' में भारत की सूती वस्तुओं के उल्लेख बिखरे पड़े हैं। और ऐसे उल्लेख लगभग सभी यूरोपीय यात्रियों के विवरणों में भी देखे जा सकते हैं। सिंधु घाटी उद्योग के उल्लेख मैनरिक़, Lxii-Lxx में है। कैंबे, कोरोमंडल और बंगाल के माल के वितरण की सब से अच्छी जानकारी बारबोसा में यत्रतत्र मिलती है।

अनुच्छेद–9—शहरों में कारीगरों की स्थिति को समझने के लिए लेटर्स रिसीव्ड की सभी प्रासंगिक जिल्दों को पढ़ना वांछनीय है। इस विषय पर प्रकाश डालने वाले विशेष अनुच्छेदों के लिए देखिए, i, 30, 302 ii, 112, iii, 84 iv, 249, और इंग्लिश लेटर्स 1618-21, 161 भी। शाही कारखानों के लिए देखिए आईन अनुवाद i, 88, और बर्नियर, 259 कारीगरों की गरीबी के लिए देखिए बर्नियर, 228 और थेवनो 140, अकाल के प्रभावों के लिए देखिए इंग्लिश फैक्टरीज, 1660–33, 97, 146, 158 आदि। कराधान से संबंधित

अनुच्छेद आईन, अनुवाद, ii, 66 टेरी, 397 और टैवर्नियर, 81 में मिलेंगे। अनुच्छेद–10—बर्नियर, 205 में लोगों के शहरों में जाकर बसने का उल्लेख है—श्रम बाजार के लिए देखिए टेरी, 173, उसी पृष्ठ पर उसने भारतीय नौकरों की भी प्रशंसा की है। दक्षिण तथा पश्चिम के संबंध में उद्धृत अन्य मजदूरी दरों के लिए देखिए डेला वेल 42, डी लाएट, 117 और लेटर्स रिसीव्ड, *ii, 101, iv, 28* ।

पाठ में मजदूरी दरों के जिस आकलन का उल्लेख किया गया है वह 1911 का है। इसके आंकड़े प्राइसेज एण्ड वेजेज इन इंडिया के 32वें अंक मे पृष्ठ 233 और बाद के पृष्ठों पर दिए गए हैं।

संदर्भ

1. लगभग सभी तत्कालीन विवरणों में इस बात के साक्ष्य मिलते हैं कि मुगलों को फलों का विशेष शौक था। बाबर (संस्मरण, 503-513) ने तो इस विषय में बहुत तफसील से लिखा है, जिन स्रोतों से अकबर के दरबार को फल मिलते थे उनका तफसीलवार विवरण 'आईन' (अनुवाद, एक 64-72) में है, जहांगीर के विचार 'तुजक' (एक, 5 और यत्र तत्र) हैं। पुर्तगाली यूरोप से मद्य लाते थे (पाइरार्ड, अनुवाद दो, 211) और वर्मा से भी काफी मात्रा में आयात किया जाता था (लिंशाटेन अ० 17), कहवा अरब से आता था (जोर्डन, 86) मुगल बादशाहों के घरों में भी आयातित मसालों का खूब प्रयोग किया जाता था, और लौंग तथा दालचीनी का उल्लेख तो 'आईन' (अनुवाद, एक 59-60) में दी गई लगभग सभी फेहरिस्तों में हुआ है।
2. अंग्रेज व्यापारियों को आरंभ में जो कई बार निराश होना पड़ा उसका कारण यह था कि वे लोगों की इस रुचि को नही समझ पाए थे। आजमाइश के तौर पर लाई गई थोड़ी चीजें तो काफी मुनाफे पर बिक जाती थीं, लेकिन अगली बार जब वही चीजें बड़ी मात्रा में लाई जाती थीं, तब देखा जाता था कि उनकी तो मांग ही नहीं रह गई है और वे लगभग बिना बिके रह जाती थी। लेकिन असामान्य वस्तुएं बराबर बेची या उपहार में दी जा सकती थी, और लेटर्स रिसीव्ड की जिल्दें विलायती कुत्तों, दुर्लभ शराबों, वाद्ययंत्रों, जनाना टोपों और बनियानो तथा उस समय के व्यापार की छोटी मोटी वस्तुओं की मांग के उल्लेखों से भरी पड़ी है। नएपन का यह शौक मुगल दरबार तक ही सीमित न था। एक मिशनरी के विवरण के अनुसार हम जिस प्रकार अकबर को नई होने के कारण इग्नेशियस की प्रतिमा प्राप्त करने को बेहद उत्सुक पाते हैं उसी प्रकार विजयनगर के राजा और सामंतों को शीशे का बक्सा, शंख की प्याली या सोने-चांदी से जड़ी हृदय की जड़ी आकृति पाकर बाग बाग होते देखते हैं (वही, 762-764)।
3. लेटर्स रिसीव्ड, iii, 63 में आगरा के निकट पारे की एक खान का पता लगने का उल्लेख है, लेकिन यह कथन उन दिनों का है जब अंग्रेज व्यापारी खरीद के लिए आयात किया हुआ पारा पेश कर रहे थे, और मैं समझता हूं कि पारे की कीमत कम करने के उद्देश्य से यह बात खरीददारों ने अपने मन से गढ़ ली थी। मुझे इस बात का कोई साक्ष्य नहीं मिला है कि इस काल में भारत में पारे का उत्पादन होता था।
4. लगता है किसी साधारण भट्टी में प्रतिवर्ष 5 से 10 टन लोहा तैयार किया जाता था। भारत में जिस प्रकार की आधुनिक धमन-भट्टी आज काम में लाई जा रही है, वह एक दिन में लगभग उतनी ही धातु तैयार कर सकती है जितनी धातु देशी भट्टी अपने मालिक के पूरे कार्य काल में तैयार कर सकती थी।
5. अगर हम पुरानी कार्य-पद्धति की दृष्टि से विचार करें तो सुलभता का प्रश्न बहुत हद तक गहराई पर निर्भर था। जब जमीन के अंदर खुदाई होती है तब खान जल्दी ही पानी से भर जाती है। आधुनिक उद्योग में इस पानी को पंप द्वारा निकाल देने की व्यवस्था है, लेकिन भारत में उन दिनों लोगों को इस विधि की जानकारी नहीं थी और जब खुदाई पानी के स्तर तक

पहुंच जाती थी तब वहां से सारा कारोबार उठा लिया जाता था।

6. ईस्ट इंडिया कंपनी ने आजमाइश के तौर पर कुछ लोहे का आयात किया था, जिसे उसने सूरत में मुनाफे पर बेचा, लेकिन उसका कारण यह था कि उन दिनों उस क्षेत्र में लोहे की कमी पड़ गई थी, वे एक पखवाड़े के अंदर ही उत्तर से बहुत सा लोहा वहां पहुंचा दिया गया (लेटर्स रिसीव्ड एक 23)। इसके बाद लोहे के व्यापार को आगे बढाने का कोई प्रयत्न किया गया हो, ऐसा नहीं जान पड़ता।
7. उदाहरण के लिए, पाइरार्ड कहता है (अनुवाद ii, 180) कि भारतीय जहाजों के निर्माण में अपेक्षाकृत बहुत कम लोहे का उपयोग होता था, जिससे वे पुर्तगाली जहाजों से कमजोर होते थे, हालांकि उनमें ज्यादा बेहतर किस्म की लकड़ी लगाई जाती थी।
8. टैवर्नियर प्रति व्यापारी द्वारा काम पर लगाए गए मजदूरों की संख्या नही बताता, मगर इतनी सूचना देता है कि इन दोनों की कार्य-प्रणाली समान थी। रावलकुंडा में, जहां धुलाई जरूरी नही थी, वह मजदूरों की संख्या 50 बताता है जो 100 तक पहुंचती थी। एक खनक पर दो वाहक (ढोने वाले) मजदूर होते थे, जो धुलाई का अतिरिक्त कार्य भी करते थे। यह संख्या अधिकतम में 300 तक पहुंचती थी।
9. सरकारी आकड़ों में भारतीय खनिजो मे पेट्रोलियम को कोयले और सोने के बाद तीसरा स्थान दिया गया है, लेकिन लगभग सारा पेट्रोलियम बर्मा से प्राप्त होता है और इस पुस्तक में हम बर्मा को अलग रख कर भारत का विचार कर रहे है। इस लिए बर्मा के उत्पाद को हम यहां शामिल नही कर सकते।
10. इस उत्पादन का उल्लेख विभिन्न लेखको ने किया है, लेकिन इसकी क्रिया का उल्लेख सिर्फ दकन के संबंध में थेवनो के इस कथन (पृ० 20) में हुआ है कि गन्ना पैदा करने वाले हर किसान के पास अपना कोल्हू और अपनी भट्टी है।
11. इस काल में रुहेलखंड में शकर बनाने का कोई उल्लेख मुझे नही मिला है। ऐसा मानना आसान नही है कि भारत में इस तरह के उद्योगों में सबसे महत्वपूर्ण स्थान रखने वाला शकर उद्योग हाल की चीज है, लेकिन दूसरी ओर यह भी असंभव जान पड़ता है कि यद्यपि यह उद्योग था तथापि अबुल फजल का ध्यान इसकी ओर नही गया, क्योंकि उसने दक्षिण में कालपी और बियाना जैसे स्थानों पर शकर बनाने का स्पष्ट उल्लेख किया है।
12. सबसे महत्वपूर्ण परिवर्तन का संबंध उद्योग की बजाय कृषि से है। पहले नील की फसल तीन साल तक लगी रहती थी और हर साल उसकी कटाई होती थी। दूसरी कटाई में सबसे ज्यादा पैदावार होती थी। सिंचाई की सुविधाओं के विस्तार के साथ साथ इसकी खेती के तरीकों में भी धीरे धीरे परिवर्तन आता गया और अंत में वह मौसमी फसल हो गया ('लेटर्स रिसिव्ड' iv 237, 356)
13. जैसा कि मंडी की शिकायतों (जैसे ii, 97, 124 से प्रकट होता है) शाहजहां के अधीन मद्यनिषेध अधिक प्रभावी ढंग से लागू किया गया फिर भी वह सार्वजनिक नहीं हो पाया, क्योंकि उसी लेखक का कहना है कि सूरत का सूबेदार ताड़ी के पेड़ों की बागवानी करता था।
14. आजकल दस्तकारियों की अवनति की शिकायत अक्सर सुनने को मिलती है, लेकिन यह शिकायत बिलकुल नई है। सत्रहवी सदी के मध्य में थेवनो (पृ० 140) ने लिखा कि दिल्ली के कुछ कारीगरों में कुशलता कम न थी, मगर उनकी आमदनी बहुत थोड़ी थी। फलतः जीविकोपार्जन के लिए उन्हें अंत में कलात्मकता की परिमाण का ही ध्यान रखना पड़ता था।
15. आजकल करीब 30 लाख जोड़े जूतों और बूटों का निर्यात किया जाता है, मगर जनसंख्या की तुलना में यह संख्या इतनी नगण्य है कि उससे जूतों के कम प्रयोग का तर्क कमजोर नहीं पड़ता।
16. ईस्ट इंडिया कंपनी ने जहांगीर को जो उपहार भेजे थे उनमें एक अंग्रेजी बग्घी भी थी। दरबार में इस उपहार की काफी चर्चा रही और स्थानीय कारीगरों ने इसका उपयोग नमूने के तौर पर किया (रो, ii, 320)। अकबर के विनियमों में भारवाही घोड़ों के लिए कोई व्यवस्था नहीं थी और उसके पूरे अस्तबल में सिर्फ सवारी के घोड़े ही रखे जाते थे। ('आईन', अनुवाद i, 136)।

17. पाठक लेखक द्वारा दी गई इस पाद-टिप्पणी को हिंदी के उपयुक्त बनाने के लिए दी जा रही अनुवादकीय टिप्पणी मानें। लेखक का कहना है कि 'अगले अध्याय में बताए जाने वाले कारणों से मैं इस शब्द की समकालीन वर्तनी को कायम रख रहा हूं, ताकि यह स्पष्ट रहे कि मैं यहां अकबर के काल में जहाज की माप के लिए प्रयुक्त इकाई को ध्यान में रखकर लिख रहा हूं, न कि व्यापारिक जहाजरानी अधिनियमों में परिभाषित आधुनिक जहाजरानी टन की दृष्टि से।' किन्तु हमारी कठिनाई यह है कि देवनागरी में वर्तनी का कोई ऐसा अंतर नही रखा जा सकता है, क्योंकि तब तो दोनों शब्दों के उच्चारण भी अलग अलग हो जाएंगे। इसलिए हम आगे से अकबर काल की टन इकाई को उद्धरण चिह्न में अर्थात इस रूप में लिखेंगे–'टन'।
18. कभी कभी ऐसा कहा जाता है कि इस काल में चीनी जहाजों ने भारत आना बन्द कर दिया था। यह तो सच है कि मलक्का या सुमात्रा से पश्चिम की ओर वे यदाकदा ही आते थे लेकिन उनके भारत आने के प्रमाण हमें मिलते है। 1598 के आसपास एक जहाज चीन से और दूसरा जापान से नेगापट्टम पहुंचा था (हे, पृ० 835) इसी तरह कूटो ने 1583 में नेगापट्टम में ही चपटी पेंदी वाले एक चीनी जहाज की उपस्थिति का उल्लेख किया है (डेकाडा, x, i, 425) इसी स्रूल से हमें 1585 में भी नेगापट्टम में ही एक ऐसे ही चीनी जहाज की उपस्थिति की जानकारी मिलती है (x, ii, 116)।
19. फ़ायर जोआनो डास सैंक्टोस ने इस तट पर 'जहाज' बनाए जाने का उल्लेख किया है, लेकिन उसके वर्णन से मेरी यह धारणा बनती है कि उनमें से बड़े से बड़े जहाज का उपयोग भी तटवर्ती जल में ही हो सकता था। (परकास II, ix, 1555)।
20. उसने 2000 बट का उल्लेख किया है। एक टन दो बट के बराबर होता था।
21. टैवर्नियर ने सौ सौ लीवर की गांठों में आंकड़े दिए हैं। लीवरों को पौंडों में बदलने के लिए मैंने उनमें मोटेतौर पर दस प्रतिशत की वृद्धि कर दी है।
22. एक स्थल पर अनुवादक ने कहा है कि गार्सिया द ओर्टा द्वारा प्रयुक्त इकाई 352 पौंड की थी, लेकिन अन्यत्र इसे 600 पौंड बताया गया है और मैं यह निश्चित नही कर पाया हूं कि कौन सा आंकड़ा सही है।
23. रिचर्ड स्टील फारस के साथ व्यापार का बहुत बड़ा पक्षधर था, और इसलिए वहां व्यापार की संभावनाओं को वह घटाकर नही आंक सकता था। फिर भी उसने लिखा है कि (परकास I, iv, 523) कि शाह के खाते के मुताबिक फारस में सिर्फ 7700 बटमन कच्चा रेशम प्रति वर्ष पैदा होता था। एक बटमन रेशम स्पष्टतः दस या बारह पौंड के बराबर था ('लेटर्स रिसीव्ड', iii 177 और टिप्पणियां) इस प्रकार कुल मिलाकर एक लाख पौंड से कम कच्चा रेशम प्रतिवर्ष उपलब्ध होता था। आमतौर पर यह तुर्की के रास्ते यूरोप भेज दिया जाता था ('लेटर्स रिसीव्ड' iv, 192, 246) इसलिए जब तक पश्चिम में खपत की गुंजाइश बनी हुई थी, भारत में रेशम खास बड़ी मात्रा में नही आता होगा।
24. जान पड़ता है, चोल में रेशम उद्योग का विकास हाल में हुआ था। जब बारबोसा ने सोलहवी सदी के प्रारंभ में इस बंदरगाह के बारे में लिखा, उन दिनों यह व्यापार का बहुत बड़ा केंद्र था, लेकिन उसने न रेशम का उल्लेख किया है और न रेशम उद्योग के बारे में कुछ कहा। सोलहवीं सदी के अंतिम वर्षों में लिनशाटे तथा अन्य लेखकों ने एक महत्वपूर्ण रेशम बुनाई केंद्र का उल्लेख किया है, जो बारबोसा काल के बाद विकसित हुआ होगा।
25. 'बारह सूबों के विवरण' (आईन, अनुवाद, II 172, 280), में अबुल फजल ने अवध और कुमाऊं में आयात की जाने वाली वस्तुओं की सूची दी है। इनमें कच्चे ऊन का उल्लेख नही है, यद्यपि अवध में उत्तर से ऊनी वस्तुएं आती थी।
26. अबुल फजल का कहना है कि लाहौर में एक हजार से अधिक कारखाने थे, मैं समझता हूं उसने जो मोटे किस्म का आंकड़ा यहां दिया है उसमें किंचित उदारता से काम लिया है, और हमें ठीक ठीक आंकड़ा ज्ञात करने की कोशिश करने की जरूरत भी नहीं है। लेकिन यह निष्कर्ष निकालना शायद अनुचित न होगा कि यह उद्योग खासे बड़े पैमाने पर कायम हो गया था। उत्पादन मुख्यतः मिश्रित वस्तुओं का होता था।

27. बारावोसा ने ऐसा उल्लेख किया है (पृ० 234) कि मुसलमानों ने पूर्व अफ्रीकी तट पर सोफाला के निकट बुनाई का काम आरंभ करवाया था। मुझे ऐसा कोई साक्ष्य नहीं मिला है जिसके आधार पर कहा जा सकता हो कि सोलहवीं सदी के अंत तक यह व्यवसाय वहां कायम रहा या नहीं।
28. लेकिन देश के इस हिस्से में बनने वाली मलमल को अभी वह ख्याति और प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं हुई थी जो बाद में, शायद मुख्यतः शाहजहां के दरबार द्वारा दिए गए संरक्षण के फलस्वरूप मिली।
29. रंग बराबर पक्के नहीं होते थे। 1613 में अहमदाबाद से लिखते हुए एक अंग्रेज गुमाश्ते ने इस दृष्टि से स्थानीय माल की शिकायत की और कहा कि 'वे खुद ही स्वीकार करते हैं कि उनके रंग कच्चे हैं और वे धुल जाएंगे' (लेटर्स रिसीव्ड i, 302)।
30. जिन तथ्यों के आधार पर यह अनुच्छेद लिखा गया है वे 'आईन-ए-अकबरी' के दो भागों में बिखरे पड़े हैं। उनमें से कुछ का विवेचन मैंने 'रायल एशियाटिक सोसायटी' के जर्नल के अक्तूबर, 1917 के अंक (पृ० 815) में किया है। जुर्मानों के लिए विशेष रूप से 'पगोश्त विनियम' (आईन, अनुवाद, i, 217) देखिए। यदि किसी घोड़े की तबीयत में कोई खराबी आती थी तो अस्तबल में काम करने वाले भिश्तियों और भंगियों को जुर्माना भरना पड़ता था। यदि उपेक्षा के कारण कोई हाथी मर जाता था तो उसकी देखरेख करने वाले चाकरों को (जिनमें से कुछ का वेतन तीन रुपये प्रतिमास से भी कम था) उसकी कीमत चुकानी पड़ती थी। इस विनियम को देखते हुए पाठ में प्रयुक्त विशेषण 'भयंकर' ठीक ही जान पड़ता है।
31. राजों की मजदूरी दरें अंशतः इस कथन का अपवाद है। 1911 में पंजाब में अकबरकालीन उच्चतर दर, अर्थात सवा रुपये प्रतिदिन की दर प्रचलित थी, लेकिन पूर्व की ओर जाने पर वह दर घट कर 8 आना हो जाती थी, जबकि अकबर-काल में इनकी न्यूनतम मजदूरी दर 14 आना थी।

6
व्यापार

सामान्य विशेषताएं

पहले के एक अध्याय में मैंने जोर देकर कहा है कि पिछली तीन सदियों के दौरान भारतीय कृषि की मुख्य विशेषताएं तत्वतः स्थिर और अपरिवर्तित रही हैं, लेकिन भारतीय व्यापार के संबंध में स्थिति सर्वथा भिन्न है और अकबर के काल में उसके स्वरूप और परिमाण को समझने के लिए हमें आज के भारतीय व्यापार की विशेषताओं के संबंध में अपनी सारी जानकारी को दिमाग से निकाल देना चाहिए। यह वर्तमान क्रांति इस कारण से और भी विलक्षण प्रतीत होती है कि कम से कम हजार साल से अधिक काल तक व्यापार की सामान्य धारा में साधारणतः कोई परिवर्तन नहीं आया था, और गिबन का यह व्यंग्य-सूत्र-वाक्य कि 'पूर्वी देशों की तिजारती चीजें बड़ी शानदार और बहुत मामूली होती हैं,' जितना दूसरी शताब्दी पर लागू होता है, उतना ही सोलहवीं सदी पर भी लागू होता है। लेकिन भारत आज जो कपड़ा और मशीनें खरीदता है या उनकी कीमतें चुकाने के लिए जो खाद्यान्न, तिलहन और रेशे विदेशों को देता है उनके बारे में ऐसे विशेषणों का उपयोग करना अनुपयुक्त और हास्यास्पद होगा। यह परिवर्तन अकबर की मृत्यु के बाद हुआ और इसके कारणों का विश्लेषण करना और यह दिखाना कि यह परिवर्तन किस प्रकार आया, हमारे वर्तमान प्रयोजन में शामिल नहीं है, लेकिन विचाराधीन काल के तथ्यों को ठीक से समझने के लिए हमें इस बात को बराबर ध्यान में रखना है कि ऐसा परिवर्तन हुआ है।

सोलहवीं सदी में कुल मिलाकर भारत में कुछ सीमित किस्म की विदेशी चीजों की अच्छी मांग थी और वह अपने कई तरह के उत्पादनों का निर्यात करके उनकी कीमतें चुकाता था। उन विदेशी वस्तुओं की मांग की उनकी सूची प्रसंगवश पिछले अध्याय में दी जा चुकी है। आयात की मुख्य वस्तुओं में—तीन आवश्यक वस्तुओं की श्रेणी में रखी जा सकती हैं—तीन कच्चे माल की हैं और शेष विलासिता की, जिनका उद्देश्य आबादी के उच्चतर वर्गों की रुचियों को तुष्ट करना था। जरूरी चीजों में से दो हैं सोना और चांदी। इन्हें इस श्रेणी में इसलिए रखा जा रहा है कि सिक्के ढालने के लिए इनकी जरूरत पड़ती थी, हालांकि इनका एक बहुत बड़ा अंश प्रदर्शन वृत्ति को तुष्ट करने में खपता था। दोनों को मिलाकर देखें तो यह आयात सामग्री में सबसे महत्वपूर्ण स्थान रखती थीं और भारत के तटों तथा सरहदों पर जो नियम लागू किए गए थे उनका एक निश्चित लक्ष्य यह था कि ये धातुएं बराबर सुलभ रहें। इस श्रेणी में आने वाली तीसरी

श्रेणी में जानवरों—खास कर घोड़ों का उल्लेख किया जा सकता है। तत्कालीन सैन्य पद्धति ऐसी थी, जिसमें इनकी बहुत जरूरत पड़ती थी। इस आयात के पीछे विलासिता का तत्व सर्वथा अनुपस्थित नहीं था, क्योंकि सैनिक उपयोग के घोड़ों का पालन और वंश-संवर्धन उत्तर भारत में होता था और फारस तथा अरब से वहां मंगाए गए घोड़े किसी हद तक दिखावे के काम भी आते थे। लेकिन दक्षिण के राज्यों में आवश्यकता की पूर्ति का कोई स्थानीय स्रोत नहीं था और इसके आयात व्यापार को कायम रखना संबंधित राज्यों की सुरक्षा की दृष्टि से आवश्यक था। कच्चे माल की तीन श्रेणियां इस प्रकार हैं—(1) भारतीय उद्योग के लिए आवश्यक कच्चा रेशम, (2) तांबा, जस्ता, टिन, रांगा पारा आदि धातुएं, जिनकी कमी का उल्लेख पिछले अध्याय में किया गया है, (3) हाथीदांत, अंबर, मूंगे तथा कलात्मक दस्तकारी के लिए जरूरी दूसरी चीजें। आयात की जाने वाली विलासिता की वस्तुओं की सूची बहुत लंबी है। इसमें सभी प्रकार के बहुमूल्य रत्न, रेशम, मखमल, किमखाव आदि कीमती कपड़े, सब तरह के मसाले, इत्र और औषध, आमतौर पर चीन में बनी विविध वस्तुएं, यूरोपीय मदिरा, अफ्रीकी गुलाम और लगभग ऐसी सभी वस्तुएं शामिल हैं जिन्हें विरल या नई चीजों की श्रेणी में रखा जा सकता था। और इस तरह की चीजें अनेक देशों से आती थीं। इन आयातों को संतुलित करने के लिए भारत तरह तरह के कपड़ों, गोल मिर्च, कुछ मामूली मसाले, रंग (जिनमें नील प्रमुख था), अफीम तथा अन्य औषध और बहुत सी दूसरी छोटी-मोटी चीजों का निर्यात करता था। वह अपना हर प्रकार का उत्पादन बेचने को उत्सुक रहता था और बहुमूल्य धातुओं की उसकी भूख इतनी प्रबल थी कि उसके साथ व्यापार करने के लिए बस इतना ही जरूरी था कि सौदागर पैसा लेकर आ जाए।

ढोई जाने वाली वस्तुओं में जितना अधिक परिवर्तन हुआ है, ढोने के साधनों में भी उससे कुछ कम बदलाव नहीं आया है। कहने की जरूरत नहीं कि जहां तक थल परिवहन का संबंध है, उन दिनों न तो आज की तरह रेल-मार्ग थे और न पक्की सड़कें। उत्तर में नदी मार्ग काफी थे और उनके अलावा ढुलाई के लिए मुख्यतः भारवाही पशुओं का उपयोग किया जाता था। ये माल को एक जल मार्ग से दूसरे निकटतम जलमार्ग तक ले जाने का काम करते थे। समुद्र में बहुत से छोटे छोटे जहाज होते थे और कुछ बड़े बड़े भी, लेकिन क्षमता की दृष्टि से आजकल के साधारण मालवाही पोतों की भी बराबरी नहीं कर सकते। समुद्र में चलने वाले छोटे-बड़े सभी जहाज सिर्फ हवा पर निर्भर थे, और न केवल उनकी गति, बल्कि उनकी दिशा पर भी ऐसी शक्तियों का नियंत्रण था जिन पर मनुष्य का कोई वश नहीं था। बंदरगाहों का निर्माण या इंजीनियरी कौशल से उनका रूपांतरण अभी तक नहीं हुआ था। जहां कहीं स्थिति अनुकूल थी वही स्थान बंदरगाह की जगह इस्तेमाल किया जाता था और हर वर्ष कई महीने तक अधिकांश बंदरगाहों का उपयोग नहीं हो पाता था। मनुष्य ने प्रकृति के कार्य कलाप में अभी गंभीर रूप से दखल देना शुरू नहीं किया था। वह अभी तक उस अवस्था में था जिसमें उसे प्रकृति द्वारा स्वभावतः प्राप्त सुविधाओं से ही अपना काम चलाना पड़ता था।

जहां तक समुद्री व्यापार के संगठन का संबंध है, सोलहवीं सदी अस्थिर संतुलन का काल था और इस सदी के अंत में विद्यमान स्थिति को समझने के लिए हमें पीछे 1498 ई० में जाना होगा, जब वास्को डि गामा गुड होप अंतरीप का चक्कर लगाकर इधर आया था। मेडागास्कर से लेकर मलक्का जल-डमरूमध्य तक भारतीय समुद्र को उसने लगभग पूर्णतः मुसलमान सौदागरों के नियंत्रण में पाया। अधिकांश जहाजों का स्वामित्व और व्यवस्था इन्हीं लोगों के हाथों में थी और थल व्यापार के भी एक बहुत बड़े हिस्से पर इनका नियंत्रण था। अन्य व्यापारी अपने तिजारती माल के लिए इनके जहाज किराए पर ले सकते थे और अपने माल के साथ यात्रा भी कर सकते थे, लेकिन जहाजियों पर उनका सिर्फ इतना दावा था कि उनके माल के लिए पर्याप्त स्थान मिल जाए। अगर जहाज का स्वामी व्यापारी खुद होता था तभी उसे हर तरह की सुविधाएं मिलती थीं। बारबोसा और वरथेमा के विवरणों से लगता है कि मलाबार तट के लगभग सभी जहाज, कैंबे की खाड़ी से चलने वाले अधिकांश जहाज कोरोमंडल तट तथा बंगाल के समुद्री क्षेत्र के बहुत-से जहाज मुसलमानों के हाथों में थे। बंगाली, कोरोमंडली और गुजराती व्यापारियों के हाथों में चाहे जितने जहाज रहे हों, इसमें संदेह नहीं कि प्रमुखता मुसलमान जहाज मालिकों की ही थी, और इस काल में हिंद महासागर के तटों पर नौपरिवहन विषयक मामलों में जो अद्भुत एकरूपता दिखाई देती है वह इसी का परिणाम थी।

इन तटों पर मुसलमान विजेताओं की तरह नहीं, बल्कि व्यापारियों की तरह फैले हुए थे और जहां लाभदायक व्यापार हो सकता था, ऐसे क्षेत्रों की परिस्थितियों के अनुरूप अपने आपको उन्होंने ढाल लिया था। अफ्रीका के पूर्वी तट पर, जहां कोई सभ्य सरकार नहीं थी, उन्होंने अपनी बस्तियां कायम कर लीं, लेकिन भारत जैसे देशों में, जहां सभ्यता पहले से ही विद्यमान थी, वे अधिकारियों की संरक्षकता में बस गए, और विशेष सुविधा की स्थिति प्राप्त कर ली, जिसका कारण यह था कि वे किसी भी बंदरगाह विशेष के व्यापार को बिना या बिगाड़ सकते थे। सिर्फ अपने को अलग रखकर वे स्थानीय व्यापारियों को बर्बाद कर सकते थे, और शायद इससे भी बड़ी बात यह थी कि अपने राजस्व के एक बहुत बड़े हिस्से के लिए बंदरगाह शुल्क पर निर्भर स्थानीय प्रशासन को या निजी लाभ के लिए आयात निर्यात करों की वसूली के अधिकारी सूबेदार को वे भारी क्षति पहुंचा सकते थे। पंद्रहवीं सदी के अंत तक भारतीय समुद्र में उनकी स्थिति काफी सुदृढ़ हो चुकी थी, और किसी खतरनाक स्पर्धा के आगमन का कोई संकेत दिखाई नहीं दे रहा था। मुसलमान व्यापारियों के समुद्री व्यापार के संगठन का विशद अध्ययन हमारे वर्तमान प्रयोजन के लिए अनावश्यक है। भारत के पश्चिमी तट पर विशेष कर मलाबार के बंदरगाहों पर, जिनमें सबसे प्रमुख उन दिनों कालीकट था—कारोबार का सकेंद्रण उसकी मुख्य विशेषता थी सुदूर पूर्व का उत्पाद आमतौर पर सीधे फारस की खाड़ी या लाल सागर तक नहीं ले जाया जाता था, क्योंकि ऐसा करने में बहुत लंबी समुद्री यात्रा करनी पड़ती जिसमें अक्सर गंभीर खतरे होते थे। जहाज पेगू और मलक्का से कालीकट या उसके किसी निकटवर्ती बंदरगाह पर आते थे, जहां आगे की यात्रा

के लिए जितना जरूरी होता था उतना माल लादा जाता था। ऐसे माल में कुछ तो तट तक लाया गया भारतीय पण्य होता था। इसी प्रकार लाल सागर से लाया माल वहां उतारा जाता था और वहां से विभिन्न दिशाओं में भेजा जाता था। इस प्रकार मलाबार भारतीय समुद्री व्यवसाय की मंडी और सबसे महत्वपूर्ण व्यापारिक केंद्र था।[1]

भारतीय समुद्र में पुर्तगालियों के आगमन ने इस स्थिति को बदल दिया। अरब अपने जहाजों को गुड होप अंतरीप से घुमाकर नहीं ले जाते थे, और इस तरह यूरोप के साथ अपने व्यापार के लिए उन्हें सिर्फ दो ही समुद्री मार्गों पर निर्भर रहना पड़ता था। एक लाल सागर से होकर और दूसरा फारस की खाड़ी से। इन दोनों में दूसरे देशों की नीति के फलस्वरूप अनेक प्रकार की दखलंदाजी होती रहती थी। फारस की खाड़ी से भेजे गए माल को सीरिया से होकर थल-मार्ग द्वारा ले जाना पड़ता था और पंद्रहवीं सदी के अंत में तुर्कों ने इस मार्ग को लगभग बंद कर दिया था। दूसरे मार्ग का अनुसरण करने पर माल को मिस्र के पार थल-मार्ग से ले जाना पड़ता था। यह मार्ग खुला तो रहा, लेकिन मिस्र की सरकार इस माल पर बहुत कड़ी चुंगी वसूल करती थी, जिससे एशिया के उत्पादनों की यूरोप के बाजार में बहुत अधिक कीमत हो जाती थी। समुद्री गतिविधियों की दृष्टि से पुर्तगाल इन दिनों संसार का सबसे उद्यमी राष्ट्र था। इसलिए उसने तय किया कि पूर्वी संसार के साथ अपने व्यापार को निरापद बनाने के लिए कोई ऐसा रास्ता खोलने का प्रयत्न किया जाए जो अन्य राष्ट्रों के हस्तक्षेप से मुक्त हो और इस तरह पुर्तगाली जहाजों में माल लाद कर निर्बाध रूप से यूरोप लाया जा सके। लेकिन इस निर्णय के पीछे सिर्फ व्यापारिक उद्देश्य ही नहीं था। उसके पीछे यह चिंतन भी काम कर रहा था कि भारतीय व्यापार पर आधिपत्य जमा लेने से मुस्लिम राज्यों को, जो उन दिनों ईसाई संसार के शत्रु माने जाते थे, बहुत बड़ा आघात पहुंचेगा, और इससे उन देशों में जिनके साथ नए रास्ते से व्यापार किया जाएगा ईसाई धर्म के प्रचार का भी अवसर मिलेगा। धार्मिक तथा व्यापारिक उद्देश्यों का यह मिश्रण सोलहवीं सदी में पुर्तगालियों की समस्त अंतर्राष्ट्रीय गतिविधियों का प्रेरक तत्व था, और उनका जो आचरण व्यापारिक दृष्टिकोण से समझ में नहीं आता है उसमें से अधिकांश के लिए इस मिश्रित लक्ष्य में एक बहाना मिल जाता है। यद्यपि इस देश के शासकों ने धर्म प्रचार के कार्य में जैसा उत्साह दिखाया उसे महज इस सदुद्देश्य के आधार पर हमेशा उचित नहीं ठहराया जा सकता।

जैसा कि पिछले अध्याय में कहा गया है, पुर्तगाल का उद्देश्य स्थल क्षेत्र में किसी साम्राज्य की स्थापना करना नहीं था। उसकी नीति भारतीय समुद्रों पर अपना प्रभुत्व कायम रखने की थी, और इसके लिए सिर्फ कुछ किले बंद बंदरगाहों की जरूरत थी, जिनमें जहाजी बेड़ों को आश्रय मिल पाता और जिनके जरिए पर्याप्त संख्या में लड़ने वाले लोग जुटाए जाते रहते। ये जरूरी बंदरगाह बड़ी तेजी से हस्तगत किए गए। कभी शक्ति के प्रयोग से तो कभी समझौते से—और कुछ ही वर्षों में मोजांबिक से मलक्का तक यह नई शक्ति सुप्रतिष्ठित हो गई। अगला कदम था व्यापार का नियमन। अब तक व्यापार राज्य के नियंत्रण से प्रायः मुक्त था। कुछ खास मार्गों से होने वाले और विशेष वस्तुओं से संबंधित

व्यापार पर राज्य का एकाधिकार स्थापित कर दिया गया। यह व्यापार अब पुर्तगाल के राजा या उसके द्वारा मनोनीत लोगों के लाभ के लिए चलाया जाता था। इन मर्यादाओं का ध्यान रखते हुए गैर सरकारी जहाजों को चलाया जा सकता था, बशर्ते कि उसके लिए उचित राशि चुका कर परवाना ले लिया गया हो, लेकिन जिन जहाजों के लिए परवाने नहीं लिए जाते थे उन्हें युद्ध में उपयोग किए जाने वाले शत्रु देश के जहाजों की तरह, स्थिति की मांग के मुताबिक, जलाया या डुबाया जा सकता था अथवा कब्जे में लिया जा सकता था। लेकिन आधुनिक मानदंड से प्रशासन अत्यन्त भ्रष्ट था। ऊंचे अधिकारियों को आमतौर पर जल्दी से जल्दी ज्यादा से ज्यादा दौलत बटोर लेने की चिंता रहती थी, फलतः इन सरकारी नियमों के अमल में काफी ढील बरती जाती थी। शायद यह कहना गलत न होगा कि पुर्तगाल के अधीन भारतीय व्यापारी लगभग कोई भी व्यापार चला सकते थे, बशर्ते कि वे यह समझते हों कि वह काम कैसे शुरू किया जाए और उक्त सुविधा के बदले मांगी जाने वाली रकमें चुकाने के लिए तैयार हों।

मुसलमान जहाज मालिक इन नियमों को मानने के लिए किसी भी सूरत में तैयार नहीं थे, लेकिन वे नवागंतुकों से बराबरी के स्तर पर लड़ने की स्थिति में भी नहीं थे, और उन्होंने खुद को तरह तरह से स्थिति के अनुकूल बनाने की कोशिश की। एक तो उन्होंने यह किया कि अपने रास्ते बदल दिए। बारबोसा का कहना है कि मलक्का से आने वाले जहाज कभी कभी कोरोमंडल तट की ओर मुड़ जाते थे, क्योंकि भारत के दूसरी ओर पुर्तगालियों का सामना करने का दुस्साहस वे नहीं कर सकते थे, और जो जहाज पश्चिम की ओर जाते थे वे तट से बचकर मालदीव द्वीप समूह के बाहर की ओर से जाते थे, हालांकि इसमें जहाजों के डूब जाने का बहुत खतरा रहता था।[2] यों अन्य बहुत से मामलों में पुर्तगाली नियमों को स्वीकार भी कर लिया गया था, क्योंकि हम देखते हैं कि पुर्तगालियों से परवाने लेकर भारतीय जहाज अनेक स्थानों को—और खास कर लाल सागर के हाजी बंदरगाहों को—जाते थे। लेकिन जहां भी स्थिति प्रतिकूल थी वहां तटवर्ती मुसलमान एक प्रकार की नियमित लड़ाई चलाते रहते थे और पुर्तगाली जहाजों के साथ वे ठीक वैसा ही व्यवहार करते थे जैसा पुर्तगाली उनके जहाजों के साथ करते थे। समकालीन लेखकों ने इस व्यवहार को समुद्री डाका कहा है, और दिखाया है कि इसके कारण जहाजरानी को बराबर भारी खतरा रहता था; खास कर मलाबार तट पर, जिसके कुछ हिस्सों में 'समुद्री डाकुओं' ने अपने पैर बड़ी मजबूती से जमा रखे थे। उनमें से एक ने तो अपना दबदबा इस सीमा तक बढ़ा लिया था कि उसने पुर्तगालियों की प्रणाली की नकल करते हुए परवाने भी जारी किए और कहते हैं कि, ऐसे परवाने पुर्तगालियों की प्रजा तक ने स्वीकार किए। इस तरह यह नहीं कहा जा सकता कि मुसलमानों के पैर समुद्री क्षेत्रों से उखड़ गए थे। वे अपनी अधिकांश समुद्री गतिविधियां चलाते रहे—कभी परवाने लेकर तो कभी अपने प्रतिद्वंद्वियों को चुनौती देकर। सोलहवीं सदी के अंत तक पुर्तगालियों की शक्ति काफी क्षीण हो गई थी, जिसके कई कारण थे, किंतु जिनका विवेचन करने की हमें जरूरत नहीं है। डच और अंग्रेज पौर्वात्य व्यापार में प्रत्यक्ष रूप से अपने लिए एक हिस्सा पाने की तैयारी जोरों से कर रहे थे

और वह समय अब निकट था जब इनके आगे पुर्तगाली घुटने टेक देने वाले थे। किंतु यह घटना विचाराधीन काल के ऐन बाद की है, और उस काल में स्थिति यह थी कि तटों का व्यापारिक प्रभुत्व मुसलमानों और पुर्तगालियों के बीच बटा हुआ था।[3]

ध्यान देने की बात है कि समुद्र में प्रभुत्व प्राप्त करने के इस संघर्ष में किसी भी बड़े भारतीय राज्य ने कोई हिस्सा नहीं लिया। वे तत्वतः महाद्वीप शक्तियां थे, और यद्यपि वे विदेशी व्यापार के लाभ को समझते थे। तथा उसके कारण बंदरगाहों से उन्हें जो राजस्व प्राप्त होता था उसका महत्व भी वे पहचानते थे, फिर भी व्यापार को मार्ग में सुरक्षा प्रदान करने के लिए उन्होंने कुछ नहीं किया। अकबर ने जहाजों को गुजरात से लाल सागर में भेजा, लेकिन उन जहाजों ने अपनी यात्रा पुर्तगालियों से परवाने लेकर की। 1547 की संधि की शर्तों के अनुसार विजयनगर का समुद्री व्यापार तो लगभग पुर्तगालियों के ही हाथों में चला गया। लगता है दकन का बीजापुर राज्य स्थल पर ही पुर्तगालियों से लड़कर संतुष्ट था, और यों भी पुर्तगालियों को समुद्र से निकाल बाहर करना उनके बूते की बात नहीं थी। कालीकट को जमोरिन जलदस्युओं को सुरक्षा प्रदान करने के लिए जो कुछ कर सकता था किया। लगता है उनमें से कुछ उसे कर भी दिया करते थे, लेकिन वह भी खुली लड़ाई में पुर्तगालियो के खिलाफ खड़े होने का साहस न कर सका, और वह छिपे तौर पर थोड़ा बहुत जो कुछ कर सकता था, उसके अतिरिक्त देश के व्यापारियों को सिवाय अपने साधनों के और किसी के संरक्षण का सहारा नहीं था।

मुख्य भारतीय समुद्री बंदरगाह

भारत के समुद्री व्यापार की वास्तविक स्थिति का वर्णन करने का सबसे अच्छा तरीका यह होगा कि हम बारी बारी से एक एक बंदरगाह या बंदरगाहों के एक-एक समूह को लें और देखें कि समुद्रांचल के दूसरे हिस्सों से उसका क्या संबंध था। सिर्फ आधुनिक व्यापार की जानकारी रखने वाले अध्येताओं के लिए इस विवरण में उल्लिखित बहुत से स्थान अपरिचित होंगे। इस अध्ययन में हमें कलकत्ता, बंबई, मद्रास या करांची जैसे नाम नहीं देखने को मिलेंगे, यद्यपि आज भारत के व्यापार के एक बहुत बड़े हिस्से के केंद्र यही बंदरगाह है। इसी तरह बृहत्तर पूर्वी समुद्रों में हमें रंगून, सिंगापुर, हांगकांग, सिडनी या केप टाउन का नाम देखने को नहीं मिलेगा। उनकी जगह हमें ऐसे बंदरगाहों की एक लंबी सूची की चर्चा करनी है, जिसमें से अधिकांश का आज बहुत कम महत्व रह गया है और कुछ के तो नाम भी नक्शे से मिट गए हैं। भारत के समुद्री बंदरगाहों की स्थिति का संकेत पहले अध्याय में दिए गए नक्शे में किया गया है, और सामने के पृष्ठ पर दिए गए रेखाचित्र में दिखाया गया है कि अन्य देशों के बंदरगाहों के संदर्भ में उनकी स्थिति क्या थी। इन बंदरगाहों से चलने वाले जहाजों के रूपाकार की चर्चा आगे के एक अनुच्छेद में की जाएगी। अभी इतना बता देना ही पर्याप्त होगा कि उनके चार वर्ग थे—कैरेक नामक बड़े पुर्तगाली व्यापारी पोत, लाल सागर को जाने वाले हाजी जहाज, समुद्र में चलने वाले साधारण सौदागरी

जहाज और तटप्रदेश के जल में चलने वाले छोटे जहाज। उन दिनों जहाज की माप की जो प्रणाली प्रचलित थी उसके अनुसार पुर्तगाली व्यापारिक पोत 1500 से 2000 'टन'[4] के होते थे, हाजी जहाज 500 से 1500 टन के, साधारण सौदागरी जहाज 400 टन से बड़े कभी कभी ही होते थे और औसतन शायद 200 टन के ही होते थे, और तटीय जहाज लगभग 60 टन से नीचे अनेक आकारों के होते थे।

भारत के उत्तर पश्चिम की ओर से शुरू करें तो देश की स्थिति को देखते हुए स्पष्ट है कि सिंधु नदी के मुहाने के आसपास कहीं एक समुद्री बंदरगाह अवश्य रहा होगा, लेकिन नदी के धारा बदलते रहने के साथ इस बंदरगाह की स्थिति में भी बदलाव आता रहा होगा। हो सकता है इस बदलाव के और भी कारण रहे हों, किंतु हमें उनकी जानकारी नहीं है देवल या दैवल बंदरगाह, जिससे आरंभिक काल के अरब भूगोलवेत्ताओं का अच्छा परिचय था, इस काल में लुप्त हो गया जान पड़ता है, लेकिन 'दिऊल' या 'दिऊल-सिंध' के रूप में उसका नाम तब भी कायम था। यह संज्ञा आमतौर पर उस पूरे क्षेत्र के लिए प्रयुक्त होती थी, और कभी कभी सोलहवीं सदी के अंत में मौजूद किसी खास बंदरगाह के लिए भी। इस बंदरगाह के लिए आमतौर पर प्रयुक्त होने वाला नाम लहरी बंदर था और यह सिंधु नदी के किसी ऐसे मुहाने पर अवस्थित था जहां से तत्ता, मुलतान और लाहौर तक सीधे जलमार्ग द्वारा पहुंचा जा सकता था।[5] सिंध का निचला हिस्सा (तत्ता) हाल में अकबर के शासन में आ गया था, और बंदरगाह के मुगल अधिकारियों ने पुर्तगाली वाणिज्य प्रतिनिधियों को वहां मैत्रीपूर्वक बसाया। कपास की बनी वस्तुओं, नील तथा देश के अन्य कई उत्पादकों का निर्यात होता था। निर्यात के माल को या तो पश्चिम की ओर से फारस और अरब भेजा जाता था या दक्षिण की ओर भारतीय तट के समानांतर और जगहों को। आयात की वस्तुएं वही थीं जो आम तौर पर भारत बाहर से मंगवाता था—जैसे धातुएं (खासकर फारस के चांदी के लैरिन) मसाले तथा तरह-तरह की विलासिता की सामग्री। ये सारी चीजें यहां से सिंधु और उसकी सहायक नदियों की पहुंच में पड़ने वाले शहरों को भेज दी जाती थी। मुझे इस बात का कोई संकेत नहीं मिला है कि इस काल में दूर समुद्र में चलने वाले जहाज के मालिक स्थानीय व्यापारी होते थे। मानसून की दृष्टि से बंदरगाह की स्थिति अच्छी नहीं थी। कभी कभी ओरमुज के रास्ते जाने वाले जहाज भी यहां आते थे, लेकिन जान पड़ता है यहां का अधिकांश माल तट-नौकाओं के जरिए फारस और कैंबे की खाड़ी तक ले जाया जाता था।

सिंध से दक्षिण की ओर बढ़ने पर कैंबे क्षेत्र के बंदरगाहों का समूह आता है, इन सब बंदरगाहों पर एक साथ विचार करें तो कहना होगा कि इनका स्थान भारत में सबसे महत्वपूर्ण था। सूरत, भड़ौंच और कैंबे तीनों देश के सब से बड़े बंदरगाह थे। इनके अलावा कई और बंदरगाह भी थे। इन सब पर मुगल साम्राज्य का नियंत्रण था—कुछ पर कम और कुछ पर अधिक—और यद्यपि पुर्तगालियों का व्यापार यहां बड़े पैमाने पर चलता था, किंतु इस क्षेत्र में उनकी

शक्ति किसी भी रूप में प्रतिष्ठित नहीं थी। अलबत्ता दमण और दीव के अपने किलेबंद केंद्रों से वे इस क्षेत्र की जहाजरानी पर नियंत्रण रखते थे। उनके दृष्टिकोण से यह व्यवस्था प्रभावकारी थी। खाड़ी का क्षेत्र बड़े जहाजों के चलने के लिए खतरनाक था, और आमतौर पर बड़े जहाज दीव, गोगई या किसी अन्य सुविधाजनक बंदरगाह पर माल लादते और उतारते थे, जहां से छोटे छोटे जहाज खाड़ी के धुर उत्तर के छिछले जल से होकर माल को कैंबे तक ले जाते थे। दीव काठियावाड़ की दक्षिण सीमा पर स्थित हैं, दमन उसके सामने मुख्य भूमि से लगा हुआ है और इन दोनों पर अपने पैर मजबूती से जमाए रख कर पुर्तगाली खाड़ी में प्रवेश करने वाले हर जहाज पर कड़ी नजर रख सकते थे और अपनी परवाना प्रणाली को भू-क्षेत्र के मुगल अधिकारियों की अनुमति लिए बिना लागू कर सकते थे। पुर्तगालियों से परवाने लेकर या कभी कभी उनकी अवमानना करके इस तट से जहाज पश्चिम और दक्षिण की ओर चलते थे और अरब अफ्रीका तथा मलक्का जलडमरूमध्य के आसपास के द्वीपों के साथ व्यापार करते थे। इन बाजारों को वे बहुत बड़ी मात्रा में वस्त्र और अन्य विविध वस्तुएं निर्यात करते थे और बदले में तरह तरह की धातुएं, मसाले और विलासिता की वस्तुएं भारत लाते थे। इसके अलावा यहां यात्री जहाजों का भी आना-जाना होता था। सच तो है कि इस काल में लोगों के किसी हद तक नियमित रूप से समुद्री मार्ग से यात्रा करने का यही एक उल्लेखनीय उदाहरण है। इस खाड़ी के बंदरगाह—खास कर सूरत—अरब की पाक जगहों में हज करने के लिए जाने वालों के लिए प्रस्थान बिंदु थे। हर साल भारतीय बहुत बड़ी तादाद में हज के लिए निकलते थे। संभव है कि अपनी यात्रा की आखिरी मंजिलों का खर्च जुटाने के उद्देश्य से लोग व्यापार के लिए कुछ चीजें भी अपने साथ ले जाते रहे हों। लेकिन ऐसा होता रहा हो तो भी इतना तो कहना ही पड़ेगा कि यह व्यापार पूरी तरह से यात्री परिवहन पर निर्भर था।

इन दिनों यूरोप से खाड़ी क्षेत्रों का कोई सीधा व्यापार नहीं होता था पुर्तगाली यूरोप ले जाए जाने वाला माल गोआ या उससे भी दक्षिण के किसी बंदरगाह में लादते थे, और पुर्तगाल भेजने के लिए कैंबे का माल, जिसमें खाद्य सामग्री आदि दैनिक उपयोग की वस्तुएं और दूसरी व्यापारिक चीजें शामिल थी, फ्रिगेटों[6] अर्थात ऐसी छोटी छोटी तट-नौकाओं के बेड़ों में जिन्हें चप्पुओं के सहारे चलाया जा सकता था लाद कर गोआ पहुंचाया जाता था। बेड़े को 'काफिला' कहते थे। एक काफिले में शामिल नावों की संख्या 300 तक हो सकती थी। आमतौर पर हर साल दो-तीन बेड़े चलते थे। उनकी सुरक्षा के लिए साथ में युद्ध पोत भी चलते थे, किंतु इस सावधानी के बावजूद वे सदा सुरक्षित नहीं रह पाते थे, क्योंकि 'समुद्री डाकू' बराबर मौके की तलाश में रहते थे और उन पर कब्जा कर लेते थे। काफिले की सुरक्षा के लिए युद्ध करना सर्वथा योग्य था। उसमें कपड़ा, नील, विदेशी बाजारों के लिए अन्य बहुत-सी वस्तुएं, गेहूं तथा दैनिक उपयोग की अन्य चीजें और पुर्तगाली जनता की आवश्यकता तथा सुख-सुविधा की अधिकांश सामग्री लदी होती थी। कैंबे[7] की खाड़ी से भी दक्षिण की ओर बढ़ने पर स्वभावतः बंबई के बारे में सुनने की आशा करेंगे, लेकिन इस काल में

यह नाम यूरोपीय लेखकों के लिए प्रायः अपरिचित था, और इस बंदरगाह का का कोई व्यापारिक महत्व नहीं था।[8] लेकिन तट के इस हिस्से के तीन बंदरगाहों का उल्लेख अवश्य होना चाहिए—बेसीन, जो बंबई द्वीप के ठीक उत्तर में उसके निकट ही था, चोल, जो वहां से कुछ ही दूर दक्षिण में जिले का एक छोटा बंदरगाह था और जिसे अब दमोल नाम से जानते हैं। बेसीन पुर्तगालियों के अधिकार में था। यहां का व्यापार बहुत बड़ा नहीं था, लेकिन जैसा कि पिछले अध्याय में बताया जा चुका है, यह जहाज-निर्माण का किसी हद तक महत्वपूर्ण केंद्र था। चोल भी पुर्तगालियों के कब्जे में ही था और हम देख चुके हैं कि यह रेशम उद्योग का अच्छा केंद्र था। इस तरह चीन से इसका कुछ संबंध जुड़ता था। यहां से लाल सागर और फारस की खाड़ी के साथ सीधा व्यापार चलाया जाता था, लेकिन इसकी अधिकांश रेशमी वस्तुएं शायद भारत में ही खप जाती थीं। देवल वास्तव में पुर्तगालियों के अधिकार में नहीं था, लेकिन ओरमुज और मोचा के साथ उसका व्यापार था और जोर्डाइन ने लिखा है कि उसके पास नौ समुद्री जहाज थे।

अब हम गोआ और भटकल[9] पहुंचते हैं। पुर्तगाल के कब्जे में जाने के पूर्व गोआ पर दकन का अधिकार था और भटकल विजयनगर के अधीन था, और फलतः वहां के व्यापार का परिमाण बहुत बड़ा था। लेकिन संधियों तथा अन्य उपायों से पुर्तगालियों ने विजयनगर के व्यापार पर लगभग इजारेदारी हासिल कर ली थी और लगता है, तब भटकल का पतन हो गया था, क्योंकि सोलहवीं सदी के अंत में हमें उसके बारे में बहुत कम सुनने को मिलता है। इसके विपरीत गोआ प्रथम कोटि का बंदरगाह था, और व्यापार केंद्र के रूप में, कोचीन को मिलाकर देखें तो, बहुत हद तक इसका वही स्थान था जो पहले कालीकट का था। स्थानीय उत्पादनों का निर्यात अधिक नहीं होता था, किंतु भारत के बहुत बड़े हिस्से और आसपास के कुछ देशों का उत्पादन भी यहां पहुंचता था और यहां से जहाजों में लदकर दूर दूर के देशों या पश्चिमी तट को पहुंचता था। इसी प्रकार विदेशों से आयात की गई वस्तुएं यहां से पश्चिमी भारत के प्रायः संपूर्ण तटवर्ती क्षेत्र में वितरित होती थीं। जब तक विजयनगर साम्राज्य अखंडित रहा, स्थानीय व्यापार का बड़ा महत्व था। विलासिता की अधिकांश वस्तुओं का व्यापार केंद्र तब गोआ ही था। व्यापारिक तथा राजनीतिक दोनों दृष्टियों से इससे भी महत्वपूर्ण बात यह थी कि दक्षिण के सभी राज्यों को आयात किए गए घोड़े यहीं से प्राप्त होते थे। लेकिन विजयनगर के पतन के फलस्वरूप विलासिता की वस्तुओं का व्यापार बहुत कम हो गया था, अब घोड़ों की मांग भी उतनी अधिक नहीं रह गई थी और सोलहवीं सदी के अंत में गोआ का महत्व एक बहुत बड़ी मंडी के रूप ही था।[10]

गोआ और कोचीन (इन दोनों बंदरगाहों में एक ही पद्धति से काम किया जाता था) का विदेश व्यापार मुख्यतः चार दिशाओं में होता था—सुदूर पूर्व की ओर, फारस और अरब के साथ, अफ्रीका के साथ और यूरोप के साथ। पूर्व की ओर जाने वाले जहाजों का पहला पड़ाव मलक्का होता था। मुसलमानों से आबाद इस शहर पर पुर्तगालियों ने अपने विजय अभियान के प्रारंभिक दौर

में ही कब्जा कर लिया था। कपड़ा और दूसरी भारतीय वस्तुएं लेकर जहाज इस बाजार में पहुंचते थे और मसाला, सोना तथा ऐसी विविध वस्तुएं—जिन्हें 'चीनी पण्य' कहा जाता था—जैसे चीनी मिट्टी के बर्तन, लाख के पालिश वाले बर्तन, कपूर और तरह तरह के औषध तथा इत्र आदि लाद कर वापसी यात्रा पर चल पड़ते थे। व्यापार की इस शाखा का मुख्य लक्ष्य मसाले प्राप्त करना था। सुमात्रा और जावा से गोल मिर्च, मोलुक्कास से लौंग और बंदा द्वीप से जावित्री और जायफल प्राप्त होता था। पूरे यूरोप और एशिया के एक बहुत बड़े भाग को इस तरह की जितनी चीजों की जरूरत होती थी सब यहीं से पूरी की जाती थीं, और इस तरह इन वस्तुओं के व्यापार को कुल मिलाकर देखें तो उस समय के मापदंड से इस व्यापार का परिमाण और मूल्य बहुत विशाल रहा होगा। सोना, जावा, सुमात्रा, बोर्नियो और सेलिबीज द्वीपों से प्राप्त किया जा सकता था और चीन तथा जापान ऐसी बहुत सी चीजें मुहैया करते थे जो अन्यत्र नहीं मिलती थीं। मलक्का तथा मसालों के द्वीपों के साथ व्यापार करने के अतिरिक्त पुर्तगालियों ने अपने कुछ जहाज अन्यत्र भी भेजे। इस साहसिक सागर यात्रा का वर्णन पाइरार्ड ने किंचित विस्तार से किया है। गोआ से चलकर उन्होंने मकोआ—कैंटन बंदरगाह—में अपना माल बेच दिया। वहां से चीनी माल लाद कर जापान पहुंचे। जापान में मुख्यत: चांदी के बदले उन्होंने अपना माल बेच दिया। उस सारी चांदी से उन्होंने मलक्का के लिए चीनी वस्तुएं खरीद ली। अंत में मलक्का में इन वस्तुओं को बेचा और वहां से मसाले खरीद कर वापस भारत को चल पड़े। इस पूरी सागर यात्रा में लगभग तीन साल लगे, और इसे पुर्तगाली अधिकारियों ने अपने लिए एक इजारेदारी की तरह आरक्षित रखा। गरज यह है कि किसी जहाज को चीन या जापान ले जाने का विशेष अधिकार किसी ऐसे व्यक्ति को दिया या बेचा जाता था जो भारी लाभ हानि की संभावनाओं से आपूरित ऐसे व्यापार अभियान को हाथ में लेने को उत्सुक रहता था।

फारस और अरब के साथ किए जाने वाले व्यापार का केंद्र ओरमुज था जिस पर पुर्तगालियों ने मजबूती से अपना कब्जा कायम कर रखा था। यहां सारा माल बड़े जहाजों से उतार कर ऐसे छोटे जहाजों में लादा जाता था, जो फारस की खाड़ी तक पहुंच सकें। एशिया के इस भाग से भारत को लाई जाने वाली मुख्य वस्तुएं थीं—लैरिन के रूप में ढली चांदी, मोती, घोड़े और रेशमी वस्त्र। मुख्य निर्यात वस्तु सूती कपड़ा था। इस काल में लाल सागर से पुर्तगालियों का अपेक्षाकृत कम संबंध था। अदन, मोचा और जिद्दा इन तीन बंदरगाहों पर तुर्कों का कब्जा हो गया था। अदन ह्रासोन्मुख था, और भारत से जाने वाले जहाज अपना माल या तो मोचा में या जिद्दा में उतारते थे, लेकिन पुर्तगाली आमतौर पर जलडमरूमध्य को पार नहीं करते थे। अफ्रीकी व्यापार के लिए उनके पास मोजांबिक में महत्वपूर्ण किला था और सोफाला (मोजांबिक के और दक्षिण), मोंबासा, मैगाडोक्सो (सोमाली तट पर) तथा अन्य स्थानों में भी उनके केंद्र थे। भारत में बने कपड़े, मसाले और खाने-पीने की चीजें इन बंदरगाहों में आयात की जाती थीं और हाथी दांत, अंबर, आबनूस, गुलाम और खासकर सोना निर्यात किए जाते थे। सोफाला और मोजांबिक

के साथ व्यापार की असली बुनियाद सोने पर कायम थी। उन दिनों इस तट को मोफिर के नाम से जोड़ा जाता था, जहां से राजा सोलोमन को सोना प्राप्त हुआ था। बात जो भी रही हो, इसमें संदेह नहीं कि यहां जिस मात्रा में सोना सुलभ था वह समकालीन मापदंड से बहुत अधिक माना जाएगा। मोजांबिक पुर्तगाली प्रशासन के सबसे लाभदायक केंद्रों में से था, और इसके साथ होने वाले व्यापार पर पुर्तगाली अधिकारियों ने उसी प्रकार अपनी इजारेदारी कायम कर रखी थी, जिस प्रकार उन्होंने चीन और जापान के समुद्री मार्ग पर।

अंत में हम यूरोप के साथ होने वाले व्यापार पर आते हैं। लिस्बन से एक बेड़ा प्रति वर्ष भारत के लिए प्रस्थान करता था। इसमें चार या पांच केरैक और कुछ छोटे जहाज होते थे। जब तक खास जरूरत न आ पड़े, इसे कहीं भी ठहरने की इजाजत नहीं थी और इसे गोआ या कोचीन पहुंचना पड़ता था। ये बेड़े मुख्यत: सरकार के लाभ के लिए निकलते थे और राजा की ओर से सिर्फ ढले हुए चांदी के सिक्के लेकर चलते थे, लेकिन गैर सरकारी व्यापारियों को दूसरी चीजें—खास कर धातुएं और विलासिता की सामग्री—भेजने की भी सुविधा थी। इसी तरह हर साल एक बेड़ा वापस भी जाता था, किंतु इसका आकार छोटा होता था, क्योंकि कई जहाज यात्रा में नष्ट हो चुके होते थे और ऐसी जरूरतों के वक्त इस्तेमाल के लिए जहाज आरक्षित नहीं रखे जाते थे। 1590 से 1600 के बीच भारत में तैंतीस केरैकों ने यात्रा आरंभ की, किंतु इसमें से केवल सोलह सुरक्षित पुर्तगाल पहुंचे। गोआ पहुंचने वाले बड़े पोत कुछ माल वहीं लाद लेते थे, लेकिन आमतौर पर उनका लदान कोचीन में पूरा होता था। कोचीन पहुंचने वाले जहाज वहीं रुके रहते थे और गोआ का माल तट-नौकाओं में लाद कर उन तक पहुंचाया जाता था। हर जहाज का एक हिस्सा गोल मिर्च के लिए सुरक्षित रहता था। यह माल राज्य के हिसाब में लादा जाता था। शेष स्थान गैर सरकारी माल के लिए किराए पर लिया जा सकता था, और अक्सर क्षमता से अधिक माल की लदाई होती थी। सच तो यह है कि वापसी यात्रा में जहाजों के नष्ट होने का एक कारण क्षमता से अधिक लदान भी था।

गोआ के दक्षिण मंगलूर से लेकर कुमारी अंतरीप तक मलाबार तट के अनेक बंदरगाह थे। कालीकट और कोचीन इनमें सब से महत्वपूर्ण थे। कोचीन निश्चित तौर पर पुर्तगालियों के कब्जे में था और व्यापार केंद्र के रूप में इसका महत्व गोआ के अलावा किसी से कम नहीं था। गोल मिर्च के निर्यात व्यापार का तो यह सदर मुकाम था। कालीकट को पुर्तगालियों के विरोध का केंद्र माना जाता सकता है, और इसी के आसपास अरब 'जलदस्युओं' के प्रमुख ठिकाने थे। मलाबार के बंदरगाह इस अर्थ में कैंबे के बंदरगाहों से भिन्न थे कि वहां से स्थानीय तौर पर निर्मित लगभग किसी वस्तु का निर्यात नहीं किया जाता था। गोल मिर्च मुख्य उत्पादन थी और सब से महत्वपूर्ण निर्यात भी। इसे छोड़कर उनके स्थानीय व्यापार को फुटकर व्यापार की श्रेणी में रखा जा सकता है। लगभग इसी काल में इन बंदरगाहों के मुसलमान लाल सागर में जहाज भेजने का प्रयत्न करते रहते थे। इन प्रयत्नों का विवरण अधिकांश

समकालीन वृत्तलेखों में मिलता है, लेकिन इनके फलस्वरूप बहुत बड़े परिमाण में व्यापार होता था, ऐसा नहीं कहा जा सकता। अधिकांश स्थानीय गतिविधियों का संबंध तटीय व्यापार से था। इस व्यापार के फलस्वरूप पूर्वी तट से अनाज और रोजमर्रा के इस्तेमाल की दूसरी वस्तुएं यहां पहुंचती थीं और नारियल से बनी तरह तरह की चीजें यहां से बाहर भेजी जाती थीं।

भारत के सुदूर दक्षिण में सीलोन तट पर पुर्तगालियों का दबदबा था, जिसे वे कोलंबो स्थित अपने किले से कायम रखते थे, लेकिन देश के भीतरी भागों के लोगों से उनका संबंध अच्छा नहीं था, और अपनी स्थिति को कायम रखना उनके लिए बहुत कठिन हो रहा था। इस द्वीप से दारचीनी और कुछ बहुमूल्य पत्थरों का निर्यात होता था और भारत उसे खाने पीने की चीजें और कपड़ा भेजता था। सीलोन के सामने पड़ने वाले भारतीय बंदरगाह, जाहिर है, बहुत कम महत्व के थे। पूर्वी तट पर पहला उल्लेखनीय बंदरगाह नेगापट्टम था। यहां पुर्तगालियों का एक प्रतिनिधि था. किंतु किसी प्रकार की राजनीतिक सत्ता के स्वामी होने का दावा वे नही करते थे? यह बंदरगाह तथा उत्तर की ओर पुलिकट तक के बंदरगाहों का कुल व्यापार परिमाण में काफी बड़ा था। यहां से मलक्का जलडमरूमध्य को कपड़ा भेजा जाता था और बदले में वहां से मसालों और तरह तरह की चीनी वस्तुओं का आयात किया जाता था। पेगू यहां से कपड़ा, सूत और अफ़ीम मंगवाता था और बदले में इन बंदरगाहों को मुख्यतः सोना, चांदी, और कीमती पत्थर भेजता था। इसके अलावा एक ओर बंगाल के साथ और दूसरी ओर सीलोन तथा मलाबार के साथ काफी तट व्यापार भी चलता था। और दक्षिण की तरफ मछलीपट्टम था। इन दिनों यह गोलकुंडा राज्य का मुख्य बंदरगाह था। ऐसे साक्ष्य मिलते हैं कि 1590 ई० में यह पेगू, मलक्का तथा भारत के कुछ बंदरगाहों के साथ भी व्यापार करता था। मतलब यह कि इस समय इसका एक महत्वपूर्ण स्थान था और शीघ्र ही एक डच एजेंसी की स्थापना के फलस्वरूप इसके व्यापार का विस्तार होने वाला था। इस एजेंसी ने यहां का कारोबार खूब बढ़ा दिया। यह मसालों, धातुओं और विलासिता की वस्तु का आयात करती थी और अपने जहाजों में कपड़े भर कर सुदूर पूर्व को निर्यात करती थी।

मछलीपट्टम के उत्तर काफी दूर तक के तट पर हमें व्यापार का कोई उल्लेखनीय विवरण पढ़ने को नहीं मिलता, और उसके बाद हम बंगाल के बंदरगाहों पर आते हैं। समकालीन लेखकों ने इनके जो नाम दिए है वे उलझन पैदा करने वाले है, और सही स्थिति संदेह से सर्वथा परे नहीं है। परिशिष्ट 'ग' में मैंने इस विषय पर विचार किया है, और यहां इतना बता देना ही काफी है कि इस काल में लगता है, तीन महत्वपूर्ण बंदरगाह थे—सतगांव हुगली, श्रीपुर और चटगांव। सतगांव समुद्र से कुछ दूर ऊपर हुगली नदी के किनारे स्थित था। यह काफी पुराना बंदरगाह था, लेकिन अब नदी द्वारा लाई मिट्टी से भर गया है। अबुल फजल के अनुसार इससे एक मील की दूरी पर स्थित हुगली बंदरगाह अधिक महत्वपूर्ण था और यहां ईसाई तथा अन्य व्यापारियों का अच्छा जमाव रहता था। दरअसल यह बहुत हद तक पुर्तगाली बस्ती थी, यद्यपि पुर्तगाली शासन के अधीन नहीं थी। यहां की आबादी में पुर्तगाली क्षेत्रों से भागे हुए

वहुत वागी थे, जिन्होंने अपना एक अलग समाज कायम कर लिया था। मुगल अधिकारियों के साथ ये सद्भावनापूर्ण संबंध वनाए रखते थे, लेकिन मुगलों की प्रजा को सताने से कभी वाज नहीं आते थे। श्रीपुर उस समय के वंगाल की पूर्वी राजधानी सोनार गांव के निकट मेघना नदी पर स्थित था। यह स्थान अव नदी की धारा में समा चुका है। लेकिन फिच तथा जेसुइट मिशनरियों ने जिन शब्दों में इसका वर्णन किया है उनसे लगता है कि यह काफी महत्वपूर्ण था। पहले अध्याय में मैंने वताया है कि इन दिनों चटगांव शायद मुगल साम्राज्य की परिधि से वाहर और अराकान के अधीन था, लेकिन लगता है, यहां पुर्तगाली वागियों ने जी भर कर अपनी मनमानी की और समुद्री डाकों में, जिसके लिए यहां के निवासी कुख्यात थे, खूव हिस्सा लिया। इन वंदरगाहों का व्यापार महत्वपूर्ण था। गंगा डेल्टा के जल मार्गों द्वारा वंगाल के एक वहुत वड़े हिस्से के साथ और उत्तर भारत में आगरा तक के क्षेत्रों से इनका संवंध जुड़ा हुआ था। इन वंदरगाहों से कपड़े, खाने-पीने की चीजों (चावल, शकर आदि) तथा दूसरे देशी उत्पादनों का वड़ी माला में निर्यात किया जाता था, और पेगू मलक्का तथा भारत के भी अन्य हिस्सों से ये चांदी तथा दूसरी धातुओं, मसालों एवं विविध वस्तुओं का आयात करते थे।

समुद्र तट के इस सर्वेक्षण के सामान्य परिणाम को अव संक्षेप में यों प्रस्तुत किया जा सकता है। देश के उत्पादनों के वाहर भेजे जाने के मुख्य निर्गम केन्द्र थे (1) कैंवे के वंदरगाह, (2) वंगाल, (3) कोरोमंडल तट, और (4) सिंधु नदी। इन चारों को मैंने जिस क्रम से रखा है, मेरी दृष्टि में उनका तुलनात्मक महत्व भी उसी क्रम के अनुसार था। इनमें मलावार तट को भी जोड़ देना चाहिए, जिसका विशेष महत्व कीमती गोल मिर्च के कारण था, और अंत में सुदूर-देशों के साथ व्यापार से संवंधित संग्रह और वितरण के विशाल केन्द्र गोआ का नाम हमें नहीं भूलना चाहिए। अव अगले अनुच्छेद में हम उन विदेशी समुद्री वंदरगाहों की स्थिति पर विचार करेंगे जिनके साथ यह व्यापार चलता था।

भारतीय समुद्रों के मुख्य विदेशी वंदरगाह

पिछले अनुच्छेद में हमने पश्चिम से लेकर पूर्व में चटगांव तक के भारतीय तट की स्थिति पर विचार किया। इस वंदरगाह के कुछ दूर आगे तक के समुद्र तट पर, विचाराधीन काल में, अराकान राज्य का अधिकार था, लेकिन व्यापारिक दृष्टि से इसका महत्व वहुत कम था। दूसरा राज्य था पेगू, जिसका व्यापार अराकान की अपेक्षा वहुत वड़ा था। इस व्यापार के केंद्र तीन वंदरगाह थे— कासमिन, जो आधुनिक वेसीन के निकट कहीं था, पेगू नदी का पेगू नगर तक का भाग, और उसके और पूर्व में सालवीन के मुहाने पर स्थित मर्तवान। जान पड़ता है, यहां के निवासी विदेशों के साथ होने वाले समुद्री व्यापार में वहुत कम हिस्सा लेते थे। यह व्यापार पुर्तगाली और भारतीय मुसलमान चलाते थे। पुर्तगालियों ने इन वंदरगाहों पर अपनी एजेंसियां कायम कर रखी थीं, लेकिन मुझे लगता है कि सोलहवीं सदी के अंत तक यहां वे अपना कोई क्षेत्राधिकार स्थापित नहीं कर पाए थे। इन वंदरगाहों का व्यापार मुख्यतः एक ओर मलक्का और एचिन से, दूसरी

ओर बंगाल से और तीसरी ओर कोरोमंडल तट से चलता था, लेकिन इनके अलावा लाल सागर से भी इनका सीधा व्यापारिक संबंध था। मलक्का और एचिन से मसाले और 'चीनी वस्तुएं' प्राप्त होती थीं, भारत कपड़े, रंगे हुए सूत और कुछ औषध—खासतौर से अफीम देता था। लाल सागर के व्यापार से उपर्युक्त बंदरगाहों को यूरोपीय कपड़े और विलासिता की वस्तुएं मिलती थीं। सौदागर मुख्यतः सोना, चांदी, कीमती पत्थर, गुगुल, धातुएं और कई तरह की छोटी-छोटी चीजें प्राप्त करने के लिए यहां आते थे। मर्तबान से जहाज बनाने की सामग्री का निर्यात अगर सचमुच भी होता न रहा हो तो भी होने की संभावना अवश्य थी। भारतीय कपड़े और अफीम के अलावा देश को अन्य किसी वस्तु के आयात की कोई विशेष आवश्यकता नहीं थी और सीजर फ्रेडरिक ने बहुत स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि बाहर से लाए गए माल पर व्यापारियों को घाटा ही होता था, और अपने साथ बाहर ले जाए जाने वाले माल पर ही वे लाभ की आशा रखते थे। सोलहवीं सदी के अंत में लगातार कई युद्ध होने के कारण—इन युद्धों का उल्लेख पहले किया जा चुका है—पेगू का व्यापार बिखर गया, और ऊपर जो विवरण दिया गया है वह ठीक-ठीक हमारे काल के बजाय वहां की सामान्य वस्तुस्थिति का संकेत देता है। तट का अगला हिस्सा था तेनासरीम, जिसके बारे में समकालीन स्रोतों से बहुत कम जानकारी मिलती है। वैसे बरथेम अपने एक विवरण के संबंध में तो जरूर यह कहता है कि वह तेनासरीम तट का ही विवरण है, लेकिन उसने इस तट की स्थिति भारत में कोरोमंडल तट के उत्तर में कही बताई है, और संभव है कि तेनासरीम और उड़ीसा इन दोनों नामों में वह फर्क न कर पाया हो। बारबोसा का कहना है कि उसके काल में बहुत से अरब और 'मूर्तिपूजक' व्यापारी थे, जो जहाजों के मालिक थे और मलक्का तथा बंगला में व्यापार करते थे और व्यापार का परिमाण काफी बड़ा था। सोलहवीं सदी के उत्तरार्ध में लिखते हुए सीजर फ्रेडरिक ने 'नीपा' नामक शराब के निर्यात के अलावा यहां के व्यापार को कोई खास महत्व नहीं दिया है। फिच ने सिर्फ तवाय से टिन के निर्यात का उल्लेख किया है। इस सब से शायद यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि इस तट के व्यापार का परिमाण कम था, लेकिन साथ ही भारत आयातित धातुओं के लिए—उनका परिमाण भले ही सीमित था—इसका महत्व था।

अब हम सुमात्रा और मलय प्रायद्वीप के बीच जलडमरूमध्य में स्थित मलक्का बंदरगाह पर आते हैं। व्यापार केन्द्र के रूप में मलक्का के विकास का श्रेय मुसलमान व्यापारियों को था, और पुर्तगालियों के आगमन के पूर्व यह भारतीय और चीनी समुद्रों के बीच के संपूर्ण व्यापार की मंडी थी। बारबोसा ने लिखा, 'यह सब से समृद्ध व्यापारिक बंदरगाह है, यहां से बड़े-बड़े व्यापारी रहते हैं और यहां की जहाजरानी सब से विस्तृत है और यातायात तो इतने बड़े पैमाने पर संसार में कहीं भी नहीं देखने को मिल सकता।' यहां विविध धर्मों, जातियों और देशों के लोग रहते थे। धनाढ्य मुसलमान व्यापारियों के अलावा कोरोमंडल तट के चेट्टी और जावा तथा अन्य अनेक निकटवर्ती द्वीपों के मूल निवासी लोग भी रहते थे। स्थानीय उत्पादन लगभग कुछ नहीं होता था

और खाद्य सामग्री भी अधिकांशत: आयात की जाती थी। इस स्थान का महत्व इस बात में था कि यह सियाम और वहां के द्वीपों के माल के साथ भारत, अरब तथा यूरोप के माल के विनिमय का केन्द्र था। एक समय चीनी अपने जहाजों को लाल सागर के प्रवेश द्वार तक और फारस की खाड़ी के शीर्ष तक ले जाया करते थे, लेकिन उन्होंने धीरे-धीरे अपनी समुद्री यात्राएं कम कर दीं और पंद्रहवीं सदी में तो उन्होंने मलाबार तट तक आना भी छोड़ दिया। इस परिवर्तन का कारण मालूम नहीं है, लेकिन हम यह मान सकते हैं कि चीनियों और मुसलमानों दोनों ने महसूस किया कि मलक्का के केंद्रीय बाजार से तो व्यापार बड़े मजे में चलाया जा सकता है, और उनका यह व्यापार इसी ढंग पर व्यवस्थित हो गया। जैसा कि हमने पिछले अध्याय में देखा सोलहवीं सदी के उत्तरार्ध में चीनी जहाज कभी-कभी कोरोमंडल तट पर पहुंच जाते थे, लेकिन स्पष्ट ही ये यात्राएं अपवाद रूप होती थीं। अधिकांश चीनी जहाज शरद ऋतु में मलक्का पहुंचते थे, अपना माल वहां उतार देते थे और लाल सागर, भारत तथा निकट-वर्ती द्वीपों की व्यापारिक वस्तुएं लाद कर वापस चले जाते थे। पश्चिमी भारत के जहाज इसके कुछ पहले पहुंच जाते थे, क्योंकि उन्हें मानसून आरंभ होने के पूर्व सीलोन से निकल जाना पड़ता था। वे अपनी वापसी यात्रा के लिए मलक्का से लगभग दिसंबर के अंत में प्रस्थान करते थे। इसी बीच छोटे जहाज, पेगू, सियाम, और मोलुक्का द्वीपों से माल लेकर पहुंच जाते थे कोचीन, चीन, जावा, बांडा, बोर्नियो। इस तरह इस केंद्रीय मंडी में अनेक प्रकार की वस्तुओं का क्रय-विक्रय होता था।

स्वाभाविक था कि पुर्तगाली ऐसे व्यापारिक महत्व के स्थान पर कब्जा करने की कोशिश करें, सो 1511 में उन्होंने इस पर जबरदस्ती अधिकार कर लिया और इसके अधिकांश व्यापार को अपने हित में संगठित किया। मलक्का का महत्व पूरी सोलहवीं सदी के दौरान कायम रहा। लेकिन पुर्तगालियों ने जो राजस्व विषयक नियम बनाए और उन पर जिस कठोरता से अमल किया उसके फलस्वरूप केंद्र का अधिकार धीरे-धीरे समाप्त हो गया। और कालांतर में इससे होड़ लेने वाले दूसरे विनिमय केंद्र कायम हो गए। प्रारंभिक काल में अंग्रेज व्यापारियों ने पाया कि जावा के पश्चिमी तट पर स्थित बैंटम चीनी वस्तुओं की खरीदारी का बहुत बड़ा केंद्र था, और सुमात्रा के पश्चिमोत्तर कोने में स्थित अचिन भी काफी महत्व का स्थान था और निश्चित तौर पर पुर्तगालियों की महत्वाकांक्षाओं का प्रतिरोधी था। इस प्रकार अब दूर दूर तक नये-नये व्यापार केंद्र स्थापित हो गए थे, लेकिन व्यापार केंद्र के तात्विक स्वरूप में कोई परिवर्तन नहीं आया था, और डचों तथा अंग्रेजों को जिस चीज ने भारतीय समुद्रों में आने की मुख्य प्रेरणा दी वह इसी व्यापार में भागीदार बनने का प्रलोभन था। लेकिन उनके आगमन के परिणामों का अध्ययन विचाराधीन काल की परिसीमा से बाहर है। इस काल के संबंध में तो वास्तविकता यही है कि सुदूर पूर्व के साथ या तो मलक्का के माध्यम से या उससे होड़ आरंभ करने वाले पड़ोसी बंदरगाहों के माध्यम से व्यापार चलाया जाता था। मलक्का और उसके पड़ोसी बंदरगाह भारतीय वस्त्रों के प्रमुख बाजारों में से थे। साथ ही खाने-पीने की और दूसरी

भारतीय वस्तुएं भी यहां पर्याप्त मात्रा में पहुंचती थीं। यहां से भारत को भेजी जाने वाली वस्तुओं में मसाले, कच्चा रेशम, सोना और विलास सामग्री की कोटि में आने वाली अन्य बहुत सी चीजें शामिल थीं।

मलक्का जलडमरूमध्य के पूर्व में स्थित देशों के संबंध में इतना बता देना काफी होगा कि चीनी तट पर मकाओ में, जापान स्थित अपने एजेंसी क्षेत्रों में तथा इस द्वीपसमूह के प्रमुख द्वीपों में पुर्तगालियों ने अपने पैर जमा रखे थे। मकाओ से थोड़ा पूर्व की ओर जाने पर हम पुर्तगालियों के प्रभाव क्षेत्र से बाहर निकल जाते हैं और यहां हमारा सामना स्पेनियों से होता है, जिन्होंने अपने अमरीकी प्रभुत्व क्षेत्र की सीमांत चौकी के रूप में फिलीपीन द्वीप समूह में पैर जमा रखे थे।[12] प्रशांत महासागर में इन दिनों स्पेन का जो व्यापार चलता था उसका भारत से कोई सीधा संबंध न था, हालांकि, जैसा कि बताया जा चुका है, भारतीय वस्त्र अमरीकी तट तक भी पहुंचते थे। मैं समझता हूं, परोक्ष रूप से स्पेनियों के व्यापार का महत्व इस बात में निहित था कि इसकी बदौलत मैक्सिको की चांदी एशिया पहुंचती थी और इस तरह स्पेन का व्यापार भारत की चांदी की जरूरत पूरी करने के स्रोत का काम करता था। आस्ट्रेलिया की जानकारी यूरोप वालों को अब भी नहीं थी और जान पड़ता है, उस दिशा में व्यापार क्षेत्र की सीमा टिमोर द्वीप में स्थित पुर्तगाली बस्ती थी।

मलक्का से हिन्द महासागर को पार करते हुए हम अफ्रीकी तट पर पहुंचते हैं। जिसे आज दक्षिण अफ्रीका कहते हैं, उस देश में उन दिनों सभ्यता का नामो-निशान नहीं था। यूरोप से आने वाले जहाज इस तट पर किसी जगह रुक कर वहां के निवासियों से खाने पीने की चीजें खरीदते थे, लेकिन इस क्षेत्र में नियमित व्यापार केन्द्र का काम करने वाला पहला स्थान था सोफाला। यहां से लगायत उत्तर में गर्दाफू अंतरीप तक के क्षेत्र में व्यापार का विकास मुसलमान व्यापारियों ने किया था। उन्होंने उपयुक्त स्थानों में अपने व्यापार केंद्र स्थापित कर लिए थे। ये केंद्र मूल निवासियों के अधिकार में न थे। लेकिन व्यापारी उन लोगों के साथ आमतौर पर मैत्रीपूर्ण संबंध रखते थे। किंतु इन केंद्रों में से जो सब से अच्छा था उस पर पुर्तगालियों ने कब्जा कर लिया था, और पूर्व अफ्रीकी व्यापार के अधिकतर भाग पर इन्हीं का अधिकार था। जैसा कि बताया जा चुका है, सोना इस क्षेत्र का सब से महत्वपूर्ण उत्पादन था। लेकिन विलासिता के साधन जैसे गुलाम तथा विलास उद्योगों के निमित्त अंबर, आबनूस और हाथी दांत की तरह का कच्चा माल भी यहां से भारत को भेजा जाता था। भारत से आयात की जाने वाली वस्तुओं में प्रमुखता ऐसी चीजों की थी जिसकी जरूरत पुर्तगाली केंद्रों को होती थी। इन केंद्रों को स्थानीय तौर पर अपनी जरूरत की बहुत कम चीजें मिल पाती थीं और अपने अन्न तथा वस्त्र की आवश्यकता की पूर्ति के लिए ये काफी हद तक बाहर से आने वाले जहाजों पर निर्भर थे। जहां तक मुझे मालूम है, यदि इन केंद्रों को छोड़ दिया जाय तो खुद इस देश में बाहर से बहुत कम चीजें मंगवाई जाती थीं। ऐसी चीज में एक तो गुजरात के बने मनके थे और दूसरे अत्यल्प परिमाण में उन लोगों की जरूरत का कपड़ा जिन्होंने अब उसका उपयोग आरंभ कर दिया था।

लाल सागर में पुर्तगालियों का प्रभुत्व बहुत कम था यह सच है कि यूरोपीय व्यापार पर पूर्ण नियंत्रण प्राप्त करने की नीति के अधीन ही उन्होंने अदन पर कब्जा किया था, और यह बंदरगाह कुछ समय तक उनके हाथों में रहा भी, लेकिन वे इस पर अस्थायी तौर पर अपना आधिपत्य कायम नहीं रख पाए, और सोलहवीं सदी के अंत में अरब तट निश्चित रूप से तुर्कों के प्रभुत्व में था। इस काल में पुर्तगाली जहाज सामान्यतया लाल सागर में प्रवेश नहीं करते थे, लेकिन अपने भारत स्थित केंद्रों से और कभी-कभार बाब-अल-मनदेब के जलडमरूमध्य में अपने लड़ाकू बेड़ों को भेजकर वे परवाना प्रणाली पर अमल करने का यत्न करते रहे। भारतीय जहाज स्वेज की खाड़ी तक नही जाते थे, बल्कि किसी तटवर्ती बंदरगाह पर ही अपना माल उतार देते थे। यहां उत्तर से आने वाले काफिले और छोटे जहाज उनका माल उठा लेते थे। इस विनिमय स्थल को समकालीन लेखकों ने 'स्टैपल' अर्थात 'मंडी' की संज्ञा दी है। इसकी स्थिति समय समय पर बदलती रहती थी। 1600 के आसपास अदन लगभग वीरान था, और व्यापार का केंद्र या तो मोचा था, जो बाब-अल-मनदेब की खाड़ी के अंदर पड़ता है या उसके और उत्तर मक्का का जद्दा बंदरगाह था।[13]

उत्तर के साथ चलने वाला व्यापार विस्तृत तो नहीं था, लेकिन मूल्यवान बहुत अधिक था। काहिरा, कुस्तुनतुनिया तथा लैवेंट की अनेक जगहों के व्यापारी नफीस ऊन और रेशम तथा कुछ धातुएं—खासकर सोने और चांदी के सिक्के लेकर यहां पहुंचते थे, लेकिन जहाजों का आवागमन बड़े पैमाने पर नहीं होता था, और व्यापार की अवधि लगभग पूरी तरह से समुद्री हवा के रुख पर निर्भर रहता था। भारतीय जहाजों की संख्या अपेक्षाकृत अधिक थी। इन जहाजों द्वारा तरह-तरह के कपड़े, नील और अन्य विविध वस्तुएं भारत से लाई जाती थीं और मसाले तथा व्यापार की दूसरी चीजें और भी पूर्व की ओर से इनके अलावा इन जहाजों में अरब की पाक जगहों का हज करने वाले बहुत-से मुसाफिर भी लाए जाते थे।[14] लाल सागर के जिस तट का वर्णन हमने अभी किया है उसके सामने पड़ने वाले तट पर इन जहाजों को लदान के लिए सोना, हाथी के दांत, और गुलाम—खास कर अबीसीनियाई गुलाम सुलभ होते थे, और अरब देश इस बाजार के लिए घोड़े, काफी, मजीठ और कुछ औषध तथा इत्र आदि की आपूर्ति करता था।

अदन से लेकर मस्कट तक का अरब तट आज की ही तरह व्यापारिक दृष्टि से कोई विशेष महत्वपूर्ण नहीं था। मस्कट पर पुर्तगालियों का कब्जा था, लेकिन उक्त काल में इस जल क्षेत्र में उनकी शक्ति का प्रमुख केंद्र फारस की खाड़ी में स्थित ओरमुज नामक स्थान था। यह समुद्र में जाने वाले जहाजों की आम मंजिल था। यहां से छोटी छोटी नावों के सहारे बसरा से व्यापार किया जाता था। इस प्रकार जैसे मोचा या जद्दा लाल सागर की 'मंडी' का काम करता था, उसी प्रकार ओरमुज फारस की खाड़ी के केंद्रीय बाजार का काम करता था। स्थानीय व्यापार बहुत कम होता था, क्योंकि यह बस्ती एक बंजर द्वीप पर थी और खाने-पीने की चीजें भी देश के मुख्य भाग से ही मंगवानी पड़ती थीं, लेकिन यहां काफी मूल्यवान व्यापारिक वस्तुओं का विनिमय होता था। भारत और

उससे पूर्व के देश कपड़े, मसाले और ऐसी दूसरी वस्तुएं भेजते थे, जिनकी मांग फारस में बल्कि भूमध्य सागर क्षेत्र तक में थी और ये जहाज लैरिन के रूप में ढली चांदी, घोड़े, मेवे और फारस के बने रेशमी कपड़े और गलीचे जैसी विलासिता की वस्तुएं लाद कर वापस लौटते थे। इनके अलावा यहां आने वाले सौदागर बहराइन के मोतीगाहों से निकले मोतियों की भी खरीदारी करते थे। ओरमुज से पूर्व की ओर सिंध तक का तट नौपरिवहन के अनुकूल नहीं था और वह जल-दस्युओं से आक्रांत रहता था। इस प्रकार हमने सिंधु नदी के मुहाने से लेकर समस्त भारतीय समुद्रों का सर्वेक्षण पूरा कर लिया। भारत के समुद्री व्यापार के विवरण को पूरा करने के लिए अब सिर्फ सीलोन तथा हिंद महासागर के छोटे मोटे द्वीपों के साथ भारत के व्यापार का उल्लेख कर देना है। इस व्यापार का परिमाण अधिक नही था और इसे ज्यादातर तट नौकाओं के सहारे चलाया जाता था। भू-सीमा का विवरण प्रस्तुत करना अब भी शेष है, लेकिन इस सीमा के भौगोलिक विस्तार को देखते हुए जैसा आभास हो सकता उसकी अपेक्षा इसका व्यापारिक महत्व बहुत कम है।

व्यापार मार्ग और भू-सीमा

समकालीन विवरणों के आधार पर जहां तक अनुमान लगाया जा सकता है उसके अनुसार भारत की भू-सीमाओं को पार करने वाली व्यापार वस्तुओं का महत्व इस काल में बहुत कम था। व्यापारी मार्गों की संख्या कम थी, और एक के बाद चलने वाले काफिलों के बीच समय का अंतराल बहुत अधिक होता था। पूर्वोत्तर में चीन को जाने वाला एक काफिला मार्ग था, लेकिन स्पष्ट ही इसका नियमित उपयोग नही होता था। सर टामस रो को 1615 में बताया गया कि आगरा से एक काफिला हर साल चीन को जाता था[15], लेकिन इससे कुछ वर्ष पहले के समय के बारे में जो साक्ष्य मिलते है उनसे यह बात संदिग्ध जान पड़ती है कि सचमुच यह सालाना काफिला भारत से चला करता था। 1598 में फादर हेरोनिमस जेवियर धर्म प्रचार के उद्देश्य से अपने कुछ साथियों को लेकर चीन जाने की योजना बना रहा था, लेकिन उसने इस मार्ग से न जाने का निश्चय किया, यद्यपि 'कुछ लोगों' ने उसे बताया कि उन दिनों वह रास्ता खुला हुआ था। अंत में उसने काबुल के रास्ते यात्रा करने का फैसला किया, क्योंकि उस रास्ते से व्यापारी लोग बराबर चलते रहते थे। इससे हम कदाचित यह निष्कर्ष निकाल सकते है कि ब्रह्मपुत्र घाटी से होकर कुछ आवागमन होता था, लेकिन इस रास्ते से व्यापार नियमित रूप से नही होता था और उसका परिमाण कम था। ब्रह्मपुत्र से लेकर खैबर दर्रे के बीच कोई सीधा व्यापार मार्ग था, इस बात का कोई संकेत मुझे नही मिला है। अबुल फजल का कहना है कि कि उत्तर से बहुत सी चीजें भारत पहुंचती थी, लेकिन इनमें से अधिकतर हिमालय क्षेत्र का उत्पादन जान पड़ती हैं, और तिब्बत के साथ भारत का व्यापार शायद आज की अपेक्षा भी कम ही महत्व रखता था। फिच का कहना है कि काशगर से कश्मीर तक कोई काफिल मार्ग नहीं था, हालांकि व्यापार की थोड़ी बहुत वस्तुओं को ढोकर लाने और ले जाने का कुछ सिलसिला जरूर था। इस प्रकार

इस पूरी सीमा पर सिर्फ दो नियमित मार्ग थे—लाहौर से काबुल तक और मुल्तान से कंदहार तक। काबुल बहुत बड़ा व्यापारिक केंद्र था और यह भारत, फारस और उत्तर के देशों के व्यापारियों का मिलन स्थल था। यह भारत से आने वाले उस रास्ते पर स्थित था जो पश्चिमी चीन और यूरोप के बीच के काफिला मार्ग में आकर मिलता था। कंदहार भारत को फारस के अधिकतर हिस्से से जोड़ने वाले सिंहद्वार का काम करता था। इस समय की परिस्थितियों के उपर्युक्त मापदंड से देखें तो कहना होगा कि इन दोनों मार्गों से काफी बड़े पैमाने पर व्यापार होता था।

ये परिस्थितियां भारी यातायात के लिए—आज के पैमाने के अनुसार सर्वथा अनुपयुक्त थीं। परिवहन के साधन भारवाही जानवर थे, क्योंकि सड़कें गाड़ियों के चलने लायक नहीं थी और चोरी तथा राहजनी का खतरा इतना अधिक था कि थोड़े से लोग थोड़ा माल लेकर चलने की हिम्मत ही नहीं कर सकते थे। इसलिए व्यापारी जाने-माने प्रस्थान स्थलों पर प्रतीक्षा करते रहते थे और जब काफी बड़ी संख्या में लोग एकत्र हो जाते थे तब काफिले बना कर यात्रा आरंभ करते थे। यह काफिला भी इतना बड़ा होना चाहिए था कि रास्ते में होने वाले हमलों का मुकाबला कर सके। इसलिए उन्हें दीर्घकाल तक प्रतीक्षा करनी पड़ सकती थी। इस प्रकार सड़कों पर यातायात का कोई अबाध क्रम नहीं रहता था। मैं समझता हूं, वे आमतौर पर खाली पड़ी रहती थीं, लेकिन लंबे अंतराल के बाद कभी कभी मनुष्यों और पशुओं का कोई बड़ा समूह यात्रा करता देखा जा सकता था। उदाहरण के लिए, मैनरिक का कहना है कि मुल्तान में वह जिस काफिले के साथ यात्रा आरंभ करना चाहता था उसे पकड़ न पाने के फलस्वरूप उसके सामने छः महीने तक इंतजार करने की मुसीबत आ गई। भाग्यवश एक सरदार अपने भारी दलबल के साथ फारस के लिए कूच करने वाला था, लिहाजा मैनरिक उसी के दल में शामिल हो गया। लेकिन यह स्पष्ट है कि सौदागरों के काफिले सामान्यतया लंबे अंतराल के बाद चलते थे, इसलिए इन काफिलों की संख्या बहुत कम होती थी। सच तो यह है कि पश्चिमी एशिया के बहुत बड़े हिस्से में स्थिति आमतौर पर ऐसी ही थी।

काबुल की यात्रा का थोड़ा-बहुत अंदाजा हमें बेनेडिक्ट गोइज नामक मिशनरी के विवरण से मिल सकता है। इस मार्ग से उसने लाहौर से चीन तक की यात्रा की थी। वह लगभग 500 लोगों के काफिले के साथ रवाना हुआ। अटक और पेशावर के बीच चोरों का बहुत खतरा था। पेशावर से आगे बढ़ने पर उन्हें 400 सिपाहियों के एक रक्षक दल की सहायता लेना आवश्यक जान पड़ा। एक दर्रे को पार करते हुए उन्हें बटमारों के भारी खतरे से होकर गुजरना पड़ा। ये लोग ऊंची पहाड़ियों पर से काफिले पर पत्थर लुढ़का दिया करते थे। इस दल पर एक बार आक्रमण भी हुआ, जिसमें कई लोग घायल हुए, किंतु अंत में वे काबुल पहुंच गए। यहां उन लोगों को रुकना पड़ा, क्योंकि 'कुछ सौदागरों को आगे नहीं जाना था और जो थोड़े से लोग बचे रहे उनमें आगे बढ़ने की हिम्मत नहीं थी।' लेकिन गोइज ने यात्रा करने की दृष्टि से काफी बड़ा दल तैयार कर लिया और यात्रा पर आगे बढ़ा। इससे आगे की यात्रा का विवरण देना आवश्यक नहीं है, लेकिन इतना बता देना चाहिए कि उसकी कठिनाइयों का

यहीं अंत नहीं हो गया था। कुछ वर्ष बाद ईस्ट इंडिया कंपनी के दो सौदागरों ने कंपनी के काम से मुल्तान से कंधार तक जाने वाले मार्ग से यात्रा की। मुल्तान से दो मंजिल आगे वे एक काफिले में शामिल हुए। यह काफिला वहां सशस्त्र रक्षकों का इंतजार कर रहा था। वहां से चलकर यह दल सुरक्षित रूप से एक दुर्ग तक पहुंचा, जिसे यात्रियों की सुरक्षा के लिए ही कायम कर रखा गया था। रास्ते में जरूरत की चीजें कहीं सुलभ नहीं थीं और अगल बगल के वाशिंदे बराबर इस ताक में रहते थे कि मौका मिले और इनकी चीजों की चोरी करें। उधर दुर्ग के प्रधान अधिकारी ने गलत दबाव डालकर उन्हीं यात्रियों से रकमें ऐंठीं जिनकी रक्षा के लिए वह नियुक्त किया गया था। इस दुर्ग से लेकर अगली सात मंजिलों तक रास्ता स्पष्टतः निरापद रहा, लेकिन अगली चौकी पर वहां के अधिकारी ने इनसे डरा धमका कर रकमें वसूल करने के लिए इन्हें तीन दिनों तक रोके रखा। इसके बाद ये एक दर्रे में आए, जहां बहुत से काफिले छिन्न भिन्न कर दिए गए थे। यहां भी उन्हें नाजायज दबाव में आकर पैसे देने पड़े और इस बार पैसे ऐंठने वाले लोग थे वहां के वाशिंदे। इसके बाद एक और दुर्ग को पार करना पड़ा, और यहां भी उन्हें पैसा देना पड़ा। इतनी सारी मुसीबतें उठाकर वे अंत में कंदहार पहुंचे। यहां आकर काफिला टूट गया। यात्रा का सबसे खतरनाक दौर पूरा हो चुका था। आगे का क्षेत्र इतना वीरान था कि अब छोटी छोटी मंडलियां बनाकर चलने पर ही लोग पशुओं के लिए चारा और जरूरत के लायक काफी जल प्राप्त करने की आशा रख सकते थे। 1615 में, जब यह यात्रा संपन्न हुई, युद्ध के कारण फारस का समुद्री रास्ता बंद था, इसलिए कंदहार की सड़क पर अपेक्षाकृत अधिक भीड़ थी। साल भर में लाहौर से चलने वाले ऊंटों की संख्या बारह से चौदह हजार के बीच बताई गई। इसका मतलब यह हुआ कि इन पर यात्रा के लिए जरूरी खाने पीने और सोने-रहने की चीजों और व्यापारिक वस्तुओं को मिलाकर शायद तीन हजार टन वजन ढोया गया। लेकिन साधारण समय में इस तरह प्रतिवर्ष काम में लाए जाने वाले ऊंटों की संख्या मुश्किल से 3000 होती थी, जिसका मतलब यह हुआ कि वे कुल छः सात सौ टन भार ढोते थे। सड़कें अधिकांशतः वीरान होती थीं, इसलिए यात्रा के लिए जरूरी चीजों का अनुपात कुल भार की तुलना में खासा बड़ा होता होगा।

इस तरह की यात्राओं के अन्य विवरणों से भी इसी प्रकार के विलंब, चिंता, नाजायज दबाव से धन की वसूली और यदाकदा बटमारों की ओर से होने वाले आक्रमणों की झलक मिलती है और ये विवरण उन काफिलों के हैं जो अपनी अपनी मंजिल तक पहुंच गए, इनके अलावा बहुत से काफिले रास्ते में ही छिन्न भिन्न हो जाते थे। स्वाभाविक था कि इस तरीके से जो माल ढोया जाता होगा वह ऐसा होता होगा जो भार के अनुपात में बहुत कीमती था, और जिससे मंजिल तक पहुंचने पर अच्छे खासे मुनाफे की गुंजाइश रहती होगी। व्यापार का यह परिमाण कुछ कम नहीं था, लेकिन हम निश्चयपूर्वक यह नहीं कह सकते कि आज के समुद्री व्यापार के मुकाबले थल व्यापार का जो अनुपात है उसकी अपेक्षा उन दिनों के समुद्री व्यापार की तुलना में थल व्यापार का अनुपात बड़ा था।

यूरोप के साथ प्रत्यक्ष व्यापार

पिछले अनुच्छेदों में जो कुछ कहा गया है उससे मोटे तौर पर सिर्फ यह दर्शाने की कोशिश की गई है कि कौन सी व्यापारिक वस्तुएं किस दिशा में जाती थीं। इस व्यापार प्रवाह के परिमाण का संकेत देने के लिए उपलब्ध तथ्यों का विवेचन करना आवश्यक है। लेकिन इस विवेचन के पूर्व यदि हम उन कारणों का निदर्शन कर दें जिनके फलस्वरूप पश्चिमी यूरोप के साथ जलमार्ग से प्रत्यक्ष व्यापार का विकास हुआ तो अनुचित न होगा। इस विषय में बहुत सी भ्रामक धारणाएं फैली हुई हैं, जिनमें से एक यह भी है कि विदेशी व्यापारी भारत की अतुल संपदा के प्रलोभन के वशीभूत होकर इस देश की ओर आकृष्ट हुए। मैं समझता हूं, यह सच है कि पंद्रहवीं सदी में 'इंडीज' शब्द से व्यापकतम अर्थों में जिस क्षेत्र का बोध होता था उसे सोने, चांदी और जवाहरातों से भरा पड़ा माना जाता था, और संभव है, आरंभ में जिन लोगों ने पूर्वी संसार में प्रवेश करने के साहसिक प्रयत्नों में भाग लिया उनमें से कुछ इस सामान्य लोक धारणा से प्रभावित रहे हों। लेकिन व्यक्तिगत तौर पर किए गए ऐसे प्रयत्नों का महत्व बहुत कम था। नये वाणिज्य का विकास व्यक्तियों के प्रयत्नों से नहीं, बल्कि राज्यों या शक्तिशाली संगठनों की कोशिशों से हुआ और इन राज्यों अथवा संगठनों के मंतव्य क्या थे, इसके संबंध में किसी प्रकार के संदेह की गुंजाइश नहीं है। पहले पुर्तगाल के राजा ने और बाद में डच और अंग्रेजी कंपनियों ने व्यापार से पैसा बनाने के निश्चित प्रयोजन से भारतीय समुद्रों में अपने जहाज भेजे। यह बात सब को मालूम थी कि पश्चिम यूरोप में जिन कुछेक वस्तुओं की कीमतें बहुत ऊंची थीं वे पूर्वी संसार में बहुत कम कीमतों पर उपलब्ध थीं। यूरोपवालों को आशा थी कि इंडीज क्षेत्र के लोग भी वहां के बहुत से विशेष उत्पादनों को खरीदने के लिए तैयार होंगे। फलतः जिसकी समुद्री गतिविधि थी, ऐसा हर राष्ट्र इस महत्वपूर्ण संभावित व्यापार में अपने लिए बड़े से बड़ा हिस्सा प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील हो उठा।

पश्चिमी यूरोप को पंद्रहवीं सदी में इंडीज से जिन वस्तुओं की जरूरत थी वे संक्षेप में मसाले और औषध थे। ऐसी अधिकांश वस्तुओं की मांग अत्यल्प प्रमाण में थी, लेकिन गोल मिर्च इसका अपवाद थी। इसकी ढुलाई पर होने वाले भारी खर्चे के बावजूद इसका बड़ा व्यापक उपयोग होता था, और इस कथन में अतिशयोक्ति की अधिक गुंजाइश नहीं है कि भारत और पश्चिमी यूरोप के बीच प्रत्यक्ष व्यापार का मूलाधार गोल मिर्च थी। यूरोप में मसालों की मांग की अधिकता को समझने के लिए उस समय के सामाजिक जीवन की कुछ जानकारी आवश्यक है। अपेक्षाकृत उत्तर की ओर पड़ने वाले देशों में मांस बहुत खाया जाता था, लेकिन उन दिनों कृषि की जो पद्धति प्रचलित थी उसके अंतर्गत मांस के लिए जानवरों का वध ग्रीष्म और पतझड़ के मौसम में ही किया जा सकता था और इन मौसमों में मारे गए जानवरों के मांस को ही पूरे साल की जरूरत के लिए सुरक्षित रखना पड़ता था। मांस को दो तरीकों से सुरक्षित रखा जाता था नमक लगाकर या 'पाउडर लगाकर'। पाउडर लगाकर सुरक्षित रखने की

विधि के लिए भारी मात्रा में मिश्रित मसालों का उपयोग करना पड़ता था, और उस काल के अंग्रेजी साहित्य में 'पाउडर लगे' मांस के उल्लेख की बहुलता से इस विधि का महत्व निर्दशित होता है। इस सीमा तक तो मसालों को इस काल में प्रायः आवश्यकता की वस्तुओं की कोटि में रखा जा सकता है, लेकिन आवश्यकता की दृष्टि से जितनी मांग हो सकती थी, उसमें उपभोक्ताओं की रुचि के कारण भारी वृद्धि हो जाती थी। मांस, मुर्गी, बतख, शिकार के पशु-पक्षी, मछली, फल और यहां तक कि रोटी; हर खाद्य को मसालों के उपयोग से इस तरह सुगंधित कर दिया जाता कि आज वैसा किया जाए तो उसे रुचिहीनता ही कहा जाएगा। इस का कितना व्यापक चलन था, इसे समझने के लिए चार्ल्स द्वितीय के शासन काल में पाकशास्त्र में जो क्रांति आई उससे पहले घरेलू व्यवस्था के विषय में प्रकाशित पुस्तकों का अध्ययन आवश्यक है। इस प्रकार उस काल के मापदंड से देखें तो इन मसालों की मांग बहुत अधिक थी और कम से कम इंग्लैंड में तो बहुत आरंभ में इस मांग ने एक संगठित रूप धारण कर लिया था जो संस्था आरंभ में 'गिल्ड आफ पेपर्स' (गोल मिर्च व्यापारी संघ) नाम से प्रसिद्ध थी उसी ने बाद में 'लंदन कंपनी आफ ग्रोसर्स' (लंदन किराना कंपनी) का रूप ले लिया। मूल संस्था, अर्थात 'गोल मिर्च व्यापारी संघ' का अस्तित्व हेनरी द्वितीय के शासन काल में था, और 1345 में इसकी सदस्यता 'गोल मिर्च व्यापारियों तथा मसाला व्यापारियों' तक ही सीमित थी। इन वस्तुओं का महत्व इसी बात से सिद्ध हो जाता है। इस कंपनी का कारोबार पंद्रहवीं सदी में कितना विस्तृत था इसका अंदाजा इस बात से मिलता है कि 1447 में इसे 'सभी प्रकार के मसालों और वाणिज्य वस्तुओं के व्यापार की देखरेख का दायित्व सौंपा गया। इन वस्तुओं में सभी प्रकार की वाणिज्य वस्तुओं, मसालों और किसी भी प्रकार से दवा के काम आने वाले औषधों के अलावा सौंफ, जीरा, गोल मिर्च, अदरक, लौंग, जावित्री, दारचीनी और इलायची शामिल थे।

जैसा कि एक पिछले अनुच्छेद में बताया जा चुका है, पंद्रहवीं सदी के अंत में भारतीय समुद्रों से जिन वस्तुओं को मंगवाने की जरूरत थी वे मुख्यतः मिस्र के रास्ते प्राप्त की जाती थीं। इन्हें बहुत लंबे रास्ते से ढोया जाता था, जिस पर भारी खर्च पड़ता था। मलाबार तट पर जहाज की पूरी लदाई हो सकती थी। ऐसी स्थिति में अंशतः तो स्थानीय गोल मिर्च लादी जाती थी और अंशतः मलक्का या उसके भी पूर्व से लाए गए मसाले और औषध। अदन या मोचा में जहाज बदल लिया जाता था और स्वेज की खाड़ी में माल उतार दिया जाता था। वहां से माल थल मार्ग या जल मार्ग से भूमध्य तट तक पहुंचाया जाता था। मिस्र से होकर माल ले जाने के लिए भारी चुंगी देनी पड़ती थी। यहां माल इटली के व्यापारियों के हाथों में जाता था और उसे वेनिस या जिनेवा ले जाते थे। वहां से समुद्री मार्ग से उसे और भी पश्चिम भेजा जा सकता था, या आल्प्स के पार ले जाकर राइन नदी के रास्ते एंटवर्प तक पहुंचाया जा सकता था, जो उन दिनों पश्चिमी यूरोप का मुख्य वितरण केंद्र था। इस प्रकार पुर्तगाल के सामने इस व्यापार को हथियाने के लिए सक्रिय होने का स्पष्ट आकर्षण था। इस व्यापार में भारी लाभ की आशा थी और जिस अनुपात में उन्हें लाभ होता

उसी अनुपात में वेनिस वासियों को अर्थात पुर्तगालियों के अपने शत्रुओं को तथा उससे पूर्व में बसे ईसाई संसार के शत्रुओं को हानि होती। इसके अतिरिक्त अनजान समुद्रों में पहुंचने और ईसाई धर्म के प्रचार का मार्ग प्रशस्त करने की भी संभावना थी। लेकिन पहला स्थान व्यापार का था, और आरंभ में हम पुर्तगाली कमांडरों को व्यापार के लिए ही वार्ता चलाते हुए पाते हैं। ध्यातव्य है कि कालीकट के मुसलमान व्यापारियों के साथ पुर्तगालियों का पहला खुला झगड़ा गोल मिर्च को लेकर ही हुआ और कोचीन में अपने पैर जमाने के उस संकल्प का कारण बहुत हद तक यही था कि इस बंदरगाह में इस वस्तु की प्राप्ति की सुविधा थी। कुछ साल बाद जब पुर्तगालियों ने भारतीय व्यापारियों को परवाने देने की पद्धति आरंभ की तो उसमें मसालों को शामिल नहीं किया गया और खास कर गोल मिर्च के व्यापार पर पुर्तगाल की शाही इजारेदारी कायम रखी गई। बहुत काल बाद 1585 में लिस्बन से चलने वाले बेड़े के साथ जो अनुबंध किया गया उसमें 30,000 क्विंटल, यानी लगभग 1750 टन गोल मिर्च के वार्षिक आयात की व्यवस्था रखी गई। समकालीन मापदंड से देखते हुए यह माला सचमुच विशाल थी।

जहां पुर्तगाल गुड होप अंतरीप के रास्ते इस व्यापार का विकास कर रहा था, स्पेन अमेरिका के रास्ते पूर्वी द्वीप समूहों से मसाले मंगवा रहा था, और 1527 में ही राबर्ट थार्न नामक एक अंग्रेज मसालों के इस नये व्यापार के विषय में लिखता है कि अगर पुर्तगाल के राजा का अनुकरण करते हुए 'व्यापारी बन जाएं' तो यह बहुत लाभदायक रहेगा। लेकिन यूरोप के बाजार में पुर्तगाल ने अपनी प्रमुख स्थिति कायम रखी—खासकर गोल मिर्च के मामले में। गोल मिर्च का आयात अधिकांशतः भारत से होता था, इसलिए स्पेनियों के लिए इस व्यापार पर आधिपत्य जमाना आसान नहीं था। इसके अलावा जब तक पुर्तगाल के साथ इंग्लैंड की राजनीतिक अनबन नहीं हुई तब तक इंग्लैंड के पास भी शिकायत का कोई कारण नहीं था। क्योंकि वहां इनकी जो कीमतें ली जाती थीं, वे बहुत अधिक नहीं थीं। लिस्बन में गोल मिर्च विपुल माला में आती थी और डच तथा अंग्रेज व्यापारी उसे वहां खरीद कर इंग्लैंड, फ्लैंडर्स तथा जर्मनी के मुख्य उपभोक्ता बाजारों में वितरित कर देते थे।

पुर्तगाल पर स्पेन का प्रभुत्व हो जाने से इस व्यापार की व्यवस्था खतरे में पड़ गई। डचों की स्पेन से लड़ाई चल रही थी। लिस्बन का बंदरगाह डच सौदागरों के लिए बंद था, फलतः गोल मिर्च की कीमत बहुत बढ़ गई और अंत में इस वस्तु के प्राप्ति स्रोतों को जहाज भेजने का फैसला किया गया। लेकिन आरंभ में डच गोल मिर्च के लिए भारत नहीं आए थे। उनके जहाज जावा और सुमात्रा में अन्य मसालों के साथ गोल मिर्च भी लाद लिया करते थे। उनके बेड़े पुर्तगालियों के बेड़ों से सफलतापूर्वक लोहा लेते रहे, और सोलहवीं सदी के अंत तक पूर्वी द्वीपों के साथ उनका व्यापार भलीभांति प्रतिष्ठित हो गया। भारत के साथ उनका संबंध कुछ बाद में विकसित हुआ। उन्होंने पाया कि यूरोप से वे ऐसी कोई चीज नहीं ला सकते जो सीधे मसालों के द्वीपों में ही बिक जाए। भारतीय वस्त्र व्यापार सर्वस्वीकृत माध्यम था। फलतः उन्होंने यूरोप को गोल मिर्च तथा दूसरे मसाले मुहैया करने के अपने मुख्य कारोबार के सहायक धंधे

की तरह भारत में अपनी फैक्ट्रियां स्थापित कीं।[16]

जिन इरादों से अंग्रेज व्यापारी पूर्वी दुनिया में आए वे मूलत: वैसे ही थे जैसे कि डच लोगों के। इन दिनों इंग्लैंड की स्पेन के साथ घोर शत्रुता चल रही थी। अंग्रेजों ने देखा कि डच लोगों को लिस्बन के व्यापार से किस तरह दूध की मक्खी की तरह निकाल दिया गया था। उन्हें ऐसी आशंका हुई कि ऐसा ही निषेध उन पर भी लागू किया जा सकता है। इंग्लैंड में गोल मिर्च का भाव बहुत तेजी से बढ़ा। इसके प्रतिकार स्वरूप जो पहला कदम उठाया गया वह यह था कि भूमध्य सागर के रास्ते पूर्वी दुनिया के उत्पादनों का प्रत्यक्ष व्यापार करने के लिए अनेक कंपनियों का संगठन किया गया। यह कदम पूरी तरह सफल नहीं हुआ, और जब सोलहवीं सदी के अंत में डच लोगों ने, जिन्होंने अब गोल मिर्च के बाजार पर अधिकार कर लिया था, इसकी कीमत बहुत बढ़ा दी तो उसका उत्तर अंग्रेज व्यापारियों ने पहली ईस्ट इंडिया कंपनी की स्थापना करके दिया। कंपनी को जो 'पेटेंट-उद्योग पत्र' दिया गया वह बहुत सामान्य शब्दावली में तैयार किया गया था। इसके उद्देश्य थे: राज्य का सम्मान, नौपरिवहन की क्षमता में वृद्धि और व्यापार का विकास। इन उद्देश्यों से गुड होप अंतरीप और मैगलान के जलडमरूमध्य के बीच, जहां कहीं भी 'व्यापार और परिवहन' की आवश्यकता हो वहां व्यापार, करने की अनुमति दी गई। प्रथम समुद्री यात्रा के प्रायोगिक स्वरूप को स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया गया! कंपनी के प्रारंभिक उद्देश्यों का अधिक स्पष्ट वर्णन 1601 में बनाए गए कानूनों और अध्यादेशों की प्रस्तावना में हुआ है। उसमें कहा गया है कि पहली समुद्री यात्रा गोल मिर्च, मसालों, सोने तथा अन्य वाणिज्य वस्तुओं के व्यापार के इरादे से सुमात्रा, जावा और उसके निकटवर्ती क्षेत्रों की ओर की गई। इस उद्यम के संबंध में जो राय सामान्यतया प्रचलित है उसका सही सही खुलासा परकास के उस वाक्य से होता है जिससे उसने पहली यात्रा का वर्णन आरंभ किया है : '1600 में लंदन के व्यापारियों ने मिलकर जहाजों और वाणिज्य वस्तुओं में लगाने के लिए बहत्तर हजार पौंड की राशि एकत्र की ताकि विदेश से मसाले तथा दूसरी वस्तुएं लाने के लिए ईस्ट इंडिया में व्यापार की संभावना की खोज की जा सके।' इस कथन में संपूर्ण तथ्य समाहित है। डच लोगों की तरह अंग्रेज भी पूर्वी दुनिया में मसालों की खरीददारी के लिए आए। आरंभ में उन्होंने जावा और सुमात्रा में कोशिश की। लेकिन यहां के बंदरगाहों में उनके प्रतिस्पर्धी पहले से ही जमे हुए थे, जिससे यहां व्यापार आरंभ करने में उन्हें बहुत कठिनाई महसूस हुई। फलत: उन्होंने खास भारत में भाग्य आजमाने का निश्चय किया और अपनी तीसरी यात्रा के एक जहाज को सूरत की ओर मोड़ दिया।

इस प्रकार एक के बाद एक तीन राष्ट्रों के जहाज भारतीय समुद्रों में मुख्यत: मसालों की खोज में आए। लेकिन ये ऐसे व्यापारी थे जो इस क्षेत्र में अपना व्यापार स्थापित करने को बहुत उत्सुक थे। फलत: बाजार की संभावनाओं की जानकारी के साथ साथ व्यापार तेजी से फैल चला। जहां तक खुद भारत का संबंध था, कारोबार के निर्यात पक्ष तक कोई कठिनाई नहीं थी, क्योंकि कुल मिलाकर भारतीय व्यापारी अपनी चीजें बेचने को बड़े तत्पर थे। इसके विपरीत,

यूरोप से लाई जाने वाली चीजों का भारत या उसके पड़ोसी देशों में कोई बड़ा या स्थाई बाजार नहीं था। आजमाइश के तौर पर लाई गई चीजों को खपाने में बार-बार असफल होने पर उन व्यापारियों ने यह सबक सीखा कि भारत के साथ व्यापार करने का सिर्फ एक तरीका है, चांदी निर्यात करना। मुगल दरबार में दो वर्ष तक रहने के बाद विलियम हार्किंस ने लिखा कि 'चांदी की भारत में प्रचुरता है, क्योंकि सभी राष्ट्र यहां चांदी के सिक्के लाते हैं और उसके बदले यहां की चीजें खरीद कर ले जाते हैं। भारत में यह सिक्का गाड़ दिया जाता है और आगे इसका चलन नहीं होता।' कुछ वर्ष बाद टेरी ने लिखा : 'जिस प्रकार सभी नदियों का प्रवाह समुद्र की ओर होता है उसी प्रकार बहुत से देशों की चांदी का प्रवाह इस देश की ओर है और जिस प्रकार नदी समुद्र में जाकर ठहर जाती है। उसी प्रकार यहां आकर चांदी ठहर जाती है।' चांदी के निर्यात की यह आवश्यकता व्यापार के मार्ग में एक गंभीर बाधा थी, क्योंकि उस काल की यूरोपीय सरकारों पर यह मान्यता हावी थी कि विदेश व्यापार के मूल्य को देश में लाई गई बहुमूल्य धातुओं की मात्रा में आंका जाना चाहिए। इसलिए वे सिक्कों को बाहर नहीं जाने देना चाहती थीं। इस सिद्धांत के दोषों का अथवा महत्वपूर्ण तथ्यों का विवेचन मेरे वर्तमान प्रयोजन से बाहर का विषय है। बहरहाल, यह सिद्धांत मौजूद था और भारत के साथ व्यापार करने वाले लोगों को उसका ध्यान रखना था। सनद में अंग्रेजी कंपनी को हर बाहरी यात्रा में चांदी की एक अधिकतम मात्रा बाहर ले जाने की अनुमति दी गई थी, लेकिन साथ ही उससे यह अपेक्षा भी की जाती थी कि वह अपना कारोबार इस ढंग से करेगी कि अंत में उतनी ही चांदी लौटकर देश में आ जाए। इस पिछली शर्त को तो भारतीय वस्तुओं को दूसरे यूरोपीय देशों में बेचकर पूरा किया जा सकता था लेकिन बाहर ले जाई जाने वाली चांदी पर जो मर्यादा लगी हुई थी वह एक बहुत बड़ी बाधा थी। कंपनी के व्यापारियों के प्रारंभिक पत्र व्यवहार में ज्यादा जोर इसी बात पर दिया गया है कि ऐसे बाजार की तलाश की जाए जिसमें उनकी चीजें बिक सकें, ताकि उनके चांदी के सीमित कोष में कुछ वृद्धि हो सके। अंत में जिस तरीके से इस कठिनाई को दूर किया गया, वह विचाराधीन विषय नहीं है, लेकिन यह कठिनाई थी, इसे बहुत साफ साफ समझ लेना चाहिए। सोलहवीं सदी के अंत में भारत अपने उत्पादनों की बिक्री के लिए अतिशय उत्सुक था, लेकिन बदले में चांदी के अलावा और कोई चीज खास मात्रा में लेने को तैयार नहीं था। भारतीय जनसाधारण के बीच यूरोपीय वस्तुओं की कोई खपत नहीं थी और ऊपरी वर्गों के लोग सिर्फ छोटी मोटी और नई नई किस्म की चीजें ही खरीदते थे और कोई वस्तु ज्यों ही अधिक मात्रा में बिक्री के लिए मुहैया की जाती, वे उससे ऊब उठते थे।

विदेश व्यापार का परिमाण

पिछले विभागों में हमने जिस व्यापार का वर्णन किया है, अब हमें उसके परिमाण का विचार करना चाहिए। भारतीय बंदरगाहों से बाहर जाने वाले या उनमें आने वाले माल के वजन अथवा उसकी कीमत के संबंध में हम निश्चित

संख्यात्मक निष्कर्षों पर पहुंच सकें, ऐसा संभव नहीं है, लेकिन ऐसे पर्याप्त तथ्य उपलब्ध हैं, जिनके आधार पर हम समुद्री व्यापार के परिमाण का एक मोटा अंदाजा लगा सकते हैं और यह समझ सकते हैं कि साधनों की तरक्की के परिमाण स्वरूप किस हद तक परिवर्तन आए। इन तथ्यों तथा आंकड़ों को समझने के लिए मौसमी हवाओं के प्रभाव का ख्याल रखना जरूरी है। आज नियमित नौपरिवहन से हमारा इतना अधिक परिचय हो गया है कि आश्चर्य नहीं यदि हम उनकी नवीनता को भूल जाएं और यह मान लें कि हमेशा से यही स्थिति रही है कि कोई भी जहाज उसके मालिक की इच्छा के अनुसार चाहे कभी और कहीं यात्रा कर सकता है। लेकिन जिन दिनों जहाज को चलाने का साधन हवा थी उन दिनों तो वह कब किधर जाएगा, यह आदमी की इच्छा के बजाय मौसम पर निर्भर था, और एशिया के समुद्रों में आमतौर पर साल में कोई जहाज केवल एक ही चक्कर पूरा कर पाता था। इस काल में नौपरिवहन जिन बातों पर निर्भर था उनको भारत के पश्चिमी तट पर वाणिज्य की धारा की ओर दृष्टिपात करने पर समझा जा सकता है। दक्षिण पश्चिम मानसून आज की ही तरह जून में आरंभ होता था, और जब तक इसका जोर कम नहीं होता था तब तक कोई जहाज बंदरगाह में प्रवेश करने या वहां से चलने की हिम्मत नहीं कर सकता था। प्रतिकूल हवाओं के कारण रवानगी असंभव हो जाती थी और यद्यपि पश्चिम से आने वाले जहाज हवा के साथ भारत की ओर बढ़ सकते थे, किंतु इस मौसम में सुरक्षा प्रदान करने वाले चंद बड़े बंदरगाहों में से किसी में प्रवेश करने की अपेक्षा इस बात की संभावना अधिक रहती थी कि जहाज तट पर ही नष्ट हो जाए। फलतः मई से लेकर सितंबर के आरंभ तक बंदरगाह बिल्कुल बंद रहते थे।[17] व्यापार का मौसम मानसून का जोर कम होने पर आता था। इस समय पश्चिम में आने वाले जहाज तट पर पहुंचने का साहस कर सकते थे, लेकिन पहुंचने का समय भी सीमित था। पतझड़ के मौसम में हवाएं धीरे धीरे दक्षिण पश्चिम से उत्तर की ओर बहने लगती हैं, इसलिए पालदार जहाजों के लिए अपेक्षाकृत अधिक उत्तर में पड़ने वाले बंदरगाहों में पहुंचना उत्तरोत्तर अधिकाधिक कठिन होता जाता है। फलतः समय निकल जाने पर हो सकता था कि ऐसे जहाज चुनिंदा बाजार न पकड़ पाएं। उत्तर से बहने वाली हवाएं, बेशक, रवानगी के अनुकूल थीं, लेकिन इस मामले में भी समय का बड़ा महत्व था। पालदार जहाज दक्षिण पश्चिम मानसून के विरुद्ध नहीं चल सकते थे, इसलिए उन्हें भारत से काफी जल्दी निकल जाना पड़ता था, ताकि पूर्व की ओर जाना हो तो सीलोन से और यदि पश्चिम की ओर जाना हो तो गुड होप अंतरीप से अगले मानसून के आरंभ के पूर्व ही आगे बढ़ जाएं। इस प्रकार पश्चिमी तट पर पश्चिमी व्यापार की व्यस्तता का मौसम सितंबर से जनवरी तक रहता था और मलक्का के साथ होने वाले व्यापार का मौसम अप्रैल तक चलता था। इसी तरह अन्य तटों के भी कारोबार के अपने मौसम थे। और चूंकि जहाज मालिक को रवानगी और पहुंच दोनों के समय का ख्याल रखना पड़ता था, इसलिए किसी भी समुद्री यात्रा के लिए जो अवधि सुलभ हो सकती थी वह बहुत छोटी समय-सीमाओं के बीच पड़ती थी। यद्यपि यह बहुत देर से यात्रा आरंभ करता तो पहुंचने की

या कम से कम इतने समय में पहुंचने की आशा नहीं कर सकता था कि वह उसी मौसम में वापसी यात्रा भी कर सके।

व्यापार का क्रम किस प्रकार मौसमों से निर्धारित होता था, इसके कुछ और भी उदाहरण दिए जा सकते हैं। भारत आने वाले कैरेक जहाजों को लिस्बन से ईस्टर से पूर्व प्रस्थान कर जाना पड़ता था। देर हो जाने पर उनके लिए गुड होप अंतरीप पार करना असंभव हो जा सकता था और तब फिर यूरोप लौट कर उन्हें अगले साल तक प्रतीक्षा करना पड़ सकता था। अगर वे समय से गुड होप अंतरीप का चक्कर पूरा कर लेते थे तो अफ्रीका और मैडागास्कर के बीच वे उत्तर की ओर आगे बढ़ते हुए मानसून का जोर कम पड़ने की राह देखते रहते थे और ज्यों ही उसका जोर कम पड़ता वे अपना रुख मोड़ देते थे और अरब सागर पार करके गोआ पहुंच जाते थे। लेकिन तब भी यदि उत्तरी हवा आरंभ हो जाती थी तो जहाजों को इस रास्ते से ले जाना असंभव हो जाता था। फलतः यदि गुड होप का चक्कर पूरा करने में उन्हें देर हो जाती थी और कभी कभी देर हो ही जाती थी—तो वे गोआ पहुंचने का प्रयत्न न करके जहाजों का रुख सीधे कोचीन की ओर मोड़ देते थे। इस तरह वे सितंबर या अक्तूबर में भारत पहुंचते थे, और उन्हें लदान पूरा होते ही वापसी यात्रा आरंभ कर देनी पड़ती थी, ताकि अगले मानसून के आरंभ होने के पूर्व वे गुड होप के आगे निकल जाएं। अगर वे देर कर देते तो उन्हें मोजांबिक में शरण लेनी पड़ती थी। इस तरह उन्हें वर्ष का अच्छा खासा हिस्सा व्यर्थ खो देना पड़ता था और साथ ही जहाजों को भी गवा बैठने का खतरा रहता था। जहां तक लाल सागर में नौ-परिवहन का संबंध था, बाब-अल-मनदेब के जलडमरूमध्य को पार करने का सब से अच्छा समय अप्रैल था। इसलिए भारत से जहाज मार्च महीने के आसपास चलते थे। मई और जून महीने मोचा या जद्दा में, जहां कहीं व्यापार की वस्तुएं सुलभ होतीं, बिताते थे। लौटते हुए जहाज आमतौर पर सोकोत्रा द्वीप में तब तक विश्राम करते थे जब तक कि मानसून इतना कमजोर नहीं पड़ जाता था कि भारत की निरापद यात्रा की जा सके। वे सितंबर तक भारत पहुंच जाने की आशा करते थे। जहां तक बंगाल की खाड़ी का संबंध है, सीजर फ्रैडरिक से हमें मालूम होता है कि किस प्रकार हर साल एक ही जहाज में एस० टामे (मद्रास) से पेगू को कपड़े का निर्यात किया जाता था। यह जहाज 6 सितंबर को प्रस्थान करता था! था। लेकिन कभी कभी पूरा भार लादने के लिए जहाज को 6 सितंबर के बाद भी प्रतीक्षा करनी पड़ती थी, और सीजर फ्रेडरिक के ही शब्दों में 'अगर 12 तारीख तक प्रतीक्षा करनी पड़ जाती है तब यदि उसे अपनी यात्रा पूरी किए बिना वापस न आना पड़े तो यह बहुत बड़ी बात होगी है।' कारण, जहाज के पेगू पहुंचने के पहले ही पूर्वी हवा चलने लग सकती थी, और चूंकि तीन चार महीने तक हवा के रुख में किसी तरह के बदलाव की आशा नहीं की जा सकती थी, इसलिए जहाज को वापस मद्रास लौटना पड़ता था और उस पर माल ज्यों का त्यों लदा रह जाता था। इसी तरह हमें ऐसे उदाहरण भी मिल सकते हैं कि जहाज अक्सर 'मानसून को पकड़ने में चूक' जाते थे और फलतः उन्हें मलक्का या मकाओ या अन्य एशियाई बंदरगाहों में रुके रहना पड़ता था। इन सभी

समुद्रों में मौसम सब से बड़ा निर्णायक तत्व था, और जो जहाज ठीक मौसम में नहीं चल पाता उसे अगले अनुकूल मौसम के आगमन तक बंदरगाह में पड़े रहना पड़ता था।

इन परिस्थितियों में किसी विशेष मार्ग पर जहाजों में ढोये जाने वाले माल के परिमाण का पता लगाना अपेक्षाकृत आसान है, क्योंकि यदि हमारे साधन सूत्र हमें इस बात की जानकारी देते हों—और वास्तव में वे अक्सर ऐसी जानकारी देते हैं—कि उस मार्ग के लिए उपयुक्त मौसम में उस पर कितने जहाज चलते थे तो साल भर में उसके कुल व्यापार का अनुमान लगाने के लिए सिर्फ इतना ही जरूरी रह जाता है कि हम उसमें उपयोग किए जाने वाले जहाजों की क्षमता का अंदाजा लगाएं। आज की ही तरह सोलहवीं सदी में भी जहाजों की क्षमता की इकाई जहाजरानी 'टन' थी, लेकिन बीच के काल में इस इकाई के परिमाण में अंतर आ गया है। मगर जो बात दोनों कालों के जहाजरानी टनों के बारे में समान रूप से कही जा सकती है वह यह है कि जहाजरानी टन वजन की नहीं, बल्कि क्षमता की इकाई है। इसलिए उसका विचार तौल के पौंडों में नहीं, बल्कि घन फुटों में किया जाना चाहिए। विभिन्न समयों में दर्ज किए गए जहाजरानी टनों की तुलना बहुत ही अनिश्चित है। परिशिष्ट 'घ' में मैंने इस पर विचार किया है, लेकिन प्रस्तुत प्रयोजन के लिए सब से अच्छा यही है कि हम उस इकाई को ही ध्यान में रखकर चलें जो सोलहवीं सदी के अंत में सामान्य उपयोग में थी। विचाराधीन काल के यूरोपीय लेखक जब 'टन' का उल्लेख करते थे तब उनका तात्पर्य होता था; 60 घनफुट माल रखे जाने लायक स्थान। उदाहरण के लिए जब वे 200 टन भार के भारतीय जहाज का उल्लेख करते थे तब उनका तात्पर्य यह होता था कि उनकी राय में 'उसमें लगभग 12,000 घनफुट माल आ सकता था। बेशक उन्होंने जो कुछ लिखा है वह अनुमान पर ही आधारित है, उन्होंने उन जहाजों की नाप नहीं ली थी', जिन के आकार का उन्होंने उल्लेख किया है, लेकिन उनमें से अधिकांश को अपने काम का बहुत ठीक इल्म था, और उन्होंने जो मोटे किस्म के आंकड़े दिए हैं उन्हें एक उचित मर्यादा के भीतर विश्वसनीय माना जा सकता है।

भारतीय समुद्रों में काम में लाए जाने वाले सौदागरी जहाजों को चार श्रेणियों में बांटा जा सकता है—कैरेक, हज-जहाज, साधारण भारतीय जहाज और जंक। लेकिन इनके अलावा दो और किस्मों के जहाजों का भी कुछ ख्याल रखना होगा। इनमें से एक तो था गैली किस्म का युद्धपोत और दूसरी थी तट नौका, जो कभी कभी भारतीय जल सीमा के बाहर भी जाया करती थी। लिनशाटेन का कहना है कि जिस बेड़े के साथ उसने लिस्बन से प्रस्थान किया उसमें शामिल जहाजों का आकार 1400 से 1600 टन तक था। कुछ बाद में पाइरार्ड ने लिखा कि उसके समय में इन जहाजों की क्षमता 1500 से 2000 टन तक होती थी। वैसे इससे छोटे आकार के कैरेकों का भी उल्लेख हुआ है, लेकिन हम यह मान सकते हैं कि यूरोपीय जल मार्ग पर चलने वाले जहाजों का औसत आकार 1800 टन होता था और चीन तथा जापान को जाने वाले जहाजों का उससे कुछ कम। और जहां तक हाजी जहाजों का संबंध है, भारत

और लाल सागर के बीच इस तरह के हजार टन के जहाजों के चलने का उल्लेख तो पंद्रहवीं सदी के संदर्भ में भी मिलता है, और विचाराधीन काल में लिखते हुए पाइरार्ड बताता है कि कुछ जहाज बहुत कम-हजार से बारह सौ-टन के होते थे। 1612 में जब सर हेनरी मिड्लटन ने भारतीय जहाजों से हरजाना वसूल किया, उस समय उसने 'रहीमी' (1500 टन) 'हसनी' (600 टन) और 'मुहम्मदी' इन तीन जहाजों की नाकेबंदी की। ये तीनों जहाज सूरत के थे। सर हेनरी ने 'मुहम्मदी' का आकार 150 टन बताया है, लेकिन कैप्टेन सैरिस द्वारा ली गई नाप के अनुसार निश्चय ही वह 1500 टन के आसपास रहा होगा, और मैं समझता हूं 150 टन भूल से लिखा गया। इसी काल में जिन अन्य जहाजों का उल्लेख हुआ है वे हैं दीव द्वीप की 'सालमती' (450 टन) और डाबुल का 'कादिरी' (400 टन)। इस तरह हम हाजी जहाजों का आकार 400 टन से 1500 टन तक मान सकते हैं।

कैरेक और बड़े हाजी जहाज उन दिनों यूरोप में काम में लाए जाने किले व्यापारिक जहाजों की अपेक्षा बहुत विशाल थे। लेवेंट कंपनी के बेड़े में 1600 में औसतन 175 टन आकार के 30 जहाज थे, और 1596–97 में इंग्लैंड में बनाए गए 57, 'बड़े' जहाजों का औसत आकार 200 टन था।[18] तथा उनमें से सब से बड़े की क्षमता 400 टन थी। आज इन जहाजों को छोटी नौकाओं की संज्ञा दी जाएगी। ये काफी लंबी और कठिन यात्रा कर सकते। ईस्ट इंडिया कंपनी द्वारा भेजे गए पहले बेड़े में 200 टन और 260 टन के जहाज शामिल थे। जिस फ्रांसीसी अभियान में पाइरार्ड ने यात्रा की थी उसमें एक जहाज की क्षमता 400 टन थी और एक की 200 टन। 1607 में डेविड मिडलटन 115 टन क्षमता के 'कैरेट' नामक जहाज से इंग्लैंड से रवाना हुआ और मलक्का द्वीपों में लादे गए माल के साथ वापस लौटा। इसलिए इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि ऊपर हमने जिन दो विशेष श्रेणियों के जहाजों का वर्णन किया है उनकी तुलना में साधारण भारतीय सौदागरी जहाज बहुत छोटे होते थे। दरअसल उन विशेष श्रेणियों के जहाजों का निर्माण खास किस्म के व्यापार के लिए किया जाता था। इस काल में परकास, लिनशाटेन, पाइरार्ड, और जोर्डाइन के विवरण में जितने भी समुद्रगामी जहाजों का उल्लेख हुआ है, (हाजी जहाजों को छोड़कर) उन सब की क्षमता 180 और 190 टन के बीच बताई गई है, और यह क्षमता शायद अतिरंजित ही है।[19] जैसा कि पहले कहा जा चुका है, इन लेखकों द्वारा दिए गए आंकड़े अनुमान पर आधारित हैं, लेकिन ये अनुमान अनुभवी लोगों द्वारा लगाए गए हैं, और जिस मार्ग विशेष के बारे में ऐसे संकेत नहीं मिलते कि उस पर 200 टन से बड़े या छोटे जहाज चलते थे उसके संबंध में साधारण व्यापारिक जहाजों का औसत आकार 200 टन मान लेना मुझे समीचीन प्रतीत होता है।

जंक शब्द से विशेष रूप से चीनी ढंग से बनाए गए जहाज का बोध होता है, जिसके अग्रभाग और पृष्ठभाग दोनों का आकार समान होता था।[20] विचाराधीन काल में जंक भारत बहुत कम आते थे, लेकिन मलक्का और बेंटम नियमित रूप से आते थे। जोर्डाइन कहता है कि चीन से आने वाले जंक 300 टन के या उससे बड़े होते थे। परकास में उद्धृत विभिन्न लेखकों के अनुसार

उनका आकार अधिकतम 400 टन से लेकर न्यूनतम 30 टन तक होता था इस प्रकार उनकी क्षमता औसतन जहाजों से बहुत भिन्न नहीं थी।

इस काल में गैली और दूसरे युद्धपोतों[21] का उपयोग व्यापार के लिए अपवाद स्वरूप ही होता था। उनकी खास खूबी यह थी कि उन्हें चप्पुओं से चलाया जा सकता था, और चप्पू चलाने के लिए उनमें सैनिकों के अलावा गुलाम या कैदी भी होते थे। जहां तक मुझे मालूम है, भारतीय समुद्रों में चलने वाली गैलियों के मालिक सिर्फ पुर्तगाली और तुर्क थे। तुर्कों की दो तीन गैलियां लाल सागर के बंदरगाहों में रहती थीं, लेकिन इस जल क्षेत्र के बाहर वे उनका उपयोग सिर्फ लड़ाई में करते थे। पुर्तगालियों की शायद दर्जन भर गैलियां नियमित रूप से उपयोग में रहती थीं और उनका इस्तेमाल आम तौर पर पश्चिमी तट के 'जल-दस्युओं' के खिलाफ छोटे जहाजी बेड़े की सुरक्षा के लिए किया जाता था, लेकिन कभी कभी एक दो गैलियां मलक्का या कोलंबो को खाने पीने की चीजें लेकर भी जाती थीं। जब पर्याप्त संख्या में कैरेक उपलब्ध नहीं रहते थे तब उन्हें गोल मिर्च लादकर यूरोप भी भेजा जाता था। उनकी क्षमता 800 टन तक होती थी और फालकाओं ने उनकी औसत क्षमता 550 टन बताई है।

और अंत में हमें तट-नौकाओं पर विचार करना है। ये कभी-कभी विदेश व्यापार में भाग लेती थीं और ओरमुज, लाल सागर, पेगू तथा कुछ अन्य स्थानों को जाती थीं। उनकी क्षमता का उल्लेख विरल है, लेकिन इस तरह के जिस सब से बड़े जहाज का जिक्र है वह 60 टन का था, और इस श्रेणी की नौकाओं की क्षमता का औसत शायद 30 से 40 टन का मानना उचित होगा। लेकिन चूंकि ऐसे बड़े जहाजों का उपयोग विदेश व्यापार के लिए किया जाता होगा, इसलिए वर्तमान प्रयोजन के लिए उनका औसत हम 50 टन मान सकते हैं। उनके नाम कई हैं और उलझन पैदा करने वाले हैं, क्योंकि हरेक तट पर उनका अलग नाम होता था। अरब तट पर हम 'जलबा' नाम का प्रयोग होते देखते हैं, फारस की खाड़ी में 'नराद' और मलाबार तट पर 'प्रोआ' का। लेकिन ये सब काम एक ही तरह के करते थे, और जहां तक मैं समझता हूं उनमें से कोई भी 60 टन से अधिक क्षमता वाला नहीं था। जिन जहाजों का उपयोग किया जाता था उनकी क्षमता के संबंध में इतनी जानकारी हासिल कर लेने के बाद, अब हम भारत से आरंभ होने वाले विभिन्न मार्गों पर व्यापार के परिमाण का अनुमान लगाने की कोशिश कर सकते हैं। आइए, हम पश्चिम से शुरू करें। यूरोप के साथ होने वाले प्रत्यक्ष व्यापार के परिमाण का अंदाजा तो सहज ही लगाया जा सकता है। 1590 से 1599 तक सिवाय 33 कैरेकों के भारत से कोई भी जहाज यूरोप को नहीं गया[22] और अगर हम कैरेक की औसत क्षमता 1800 टन मानें तो वार्षिक क्षमता 6000 टन आती है।

अफ्रीकी तट के संबंध में हमें मालूम है कि मोजांबिक के साथ होने वाला व्यापार राज्य या उसके नामजद लोगों के लिए सुरक्षित था और सोफाला तथा दूसरे बंदरगाह भारत के साथ मोजांबिक स्थित केंद्र से ही व्यापार करते थे। दो साधारण जहाज मोजांबिक के लिए पर्याप्त रहे होंगे, ऐसा जान पड़ता है। अपेक्षाकृत अधिक उत्तर के बंदरगाहों तथा सोकोत्रा के साथ होने वाले व्यापार

की तफसीलें मेरी निगाह में नहीं आई हैं, लेकिन अगर इनके साथ व्यापार होता भी था तो बहुत छोटे पैमाने पर होता होगा। इस पूरे तट के संबंध में उदारता के साथ अनुमान लगाया जाए तो वह 1000 टन से अधिक नहीं बैठेगा।

जहां तक लाल सागर के साथ होने वाले व्यापार का संबंध है, हमें मालूम है कि वह एक ही बंदरगाह में केंद्रित था और जोर्डाइन ने लिखा है कि जिस साल वह वहां पहुंचा, छोटे बड़े लगभग पैंतीस जहाज विभिन्न स्थानों से मोचा आए, जबकि दो-तीन छोटे जहाज अदन पहुंचे। ये सभी जहाज भारत से नहीं आए थे। जहाजों की जो संख्या बताई गई है उनमें स्वेज, मस्कट और आसपास के बाजारों से तथा पेगू, मलक्का और सुमात्रा से आए जहाज भी शामिल थे। दो मौसमों में सर हेनरी मिडलटन इस जल क्षेत्र में सक्रिय था। उस दौरान उल्लिखित जहाजों में से एक तिहाई भारत के बजाय अन्य स्थानों से यहां आए थे। स्वेज या आसपास के तटों से आए जहाजों से मिडलटन का कोई सरोकार नहीं था। गरज यह है कि उसके अनुभव से ऐसा संकेत मिलता है कि भारत से कुल मिलाकर शायद बीस जहाज आए होंगे। डाउनटन ने 1612 में रोके गए जहाजों की तफसीलें बताई हैं। इनमें सभी भारतीय हाजी जहाज तथा कुछ और जहाज शामिल थे। हाजी जहाजों की कुछ क्षमता 4000 टन थी और बाकी 200 टन। इन आंकड़ों के आधार पर लाल सागर में भारतीय जहाजों की कुल 'टन' क्षमता 10,000 से कुछ कम मानी जा सकती है, अर्थात इनमें से अधिक से अधिक 5000 टन क्षमता के हाजी जहाज रहे होंगे, और शायद अन्य व्यापारिक जहाजों की क्षमता भी 4000 टन से ज्यादा नहीं रही होगी, यद्यपि संख्या में ये हाजी जहाजों से बहुत अधिक थे।

इस काल में अरब तट तथा ओरमुज के साथ भारतीय व्यापार के परिमाण का अनुमान लगाने में सहायता देने वाले आंकड़े मुझे नहीं मिले हैं। फारस से लाई गई अधिकांश वस्तुएं परिमाण में अधिक होने के बजाय कीमती ज्यादा होती थीं, और सिक्कों के रूप में ढली चांदी तथा रेशमी वस्त्रों के आयात के लिए बहुत कम टन क्षमता की जरूरत रहती होगी। बेशक घोड़े के व्यापार के लिए अधिक स्थान की जरूरत थी, लेकिन इस काल में यह व्यापार पहले की तरह बड़े पैमाने पर नहीं होता था। वस्तुओं की सूचियों का ख्याल रखते हुए मैं यह निष्कर्ष निकालना चाहूंगा कि यहां इस्तेमाल की जाने वाली कुल टन क्षमता लाल सागर की अपेक्षा काफी कम थी। इसलिए यदि हम इनकी क्षमता 10,000 मान लें तो वास्तविकता को कम करके बताने का कोई खतरा नहीं रह जाता, और हम निष्कर्ष रूप में यह कह सकते हैं कि सीलोन तथा अन्य द्वीपों के साथ होने वाले छोटी मोटी वस्तुओं के व्यापार को छोड़कर पश्चिम में पड़ने वाले देशों के साथ भारत का कुल व्यापार 30,000 टन से कम परिमाण का था और शायद 25,000 टन से अधिक का नहीं था।

अब भारत की दूसरी दिशा में पेगू, मलक्का, जावा और सुमात्रा के साथ होने वाले व्यापार की दिशा में हमें विचार करना है। पेगू के साथ होने वाला व्यापार कुछ काल के लिए बिखर गया था, लेकिन उसके सामान्य परिमाण का अंदाजा हम सीजर फ्रैडरिक और फिच के कथनों से लगा सकते हैं। पेगू एस०

टामे (मद्रास) से हर साल एक 'विशाल' जहाज की आशा रखता था। इसी तरह वह एक जहाज की आशा बंगाल (जिसे मैं श्रीपुर मानता हूं) से रखता था और ऐसा जान पड़ता है कि इन्हीं दो जहाजों की पहुंच एक व्यापार वर्ष की मुख्य घटना होती थी। लेकिन इनके अलावा बंगाल के बंदरगाहों और कोरोमंडल तट से कुछ छोटे जहाज भी वहां पहुंचते थे, क्योंकि यदि मौसम का ख्याल रखकर चला जाता तो तट नौकाएं भी वहां तक पहुंच सकती थीं। पेगू के समुद्री बंदरगाहों और तेनासरीम जाने वाले छोटे बड़े कुल जहाजों को मिलाकर उनकी क्षमता 5000 टन मानें तो इस बात की गुंजाइश नहीं रह जाती कि हम उनकी क्षमता को घटा कर आंक रहे हैं।

मलक्का के साथ भारत के व्यापार पर दो किश्तों में विचार किया जाना चाहिए। एक किश्त के अंतर्गत उन जहाजों को रखना चाहिए जो सीधे मलक्का से भी आगे निकल जाते थे और दूसरे में उन जहाजों को जो मलक्का में ही अपनी यात्रा समाप्त कर देते थे। पहले के अंतर्गत आने वाले जहाज गोआ या कोचीन से चलकर चीन और जापान पहुंचते थे। इस व्यापार पर राज्य का एकाधिकार था, और पाइरार्ड के अनुसार हर साल 'दो-तीन' जहाज चलते थे, लेकिन पुर्तगाली विवरणों को देखने से मुझे लगता है कि कभी कभी एक ही कैरेक का इस्तेमाल होता था। जो भी हो, इस यात्रा में असाधारण आकार के जहाजों का ही उपयोग किया जाता था। इस व्यापार को हम अधिक से अधिक तीन हजार टन मान सकते हैं। मलक्का से सीधे आगे निकल जाने वाले एक ही और खेवे की संभावना दिखाई देती है। वह खेवा मुलुक्कास द्वीपों तक जाता था। कभी कभी तो इस प्रयोजन के लिए एक-आध गैलिअन जहाज का उपयोग होता ही था। इस खेवे के जहाजों की कुल क्षमता 1000 टन मानी जा सकती है। जहां तक सिर्फ मलक्का तक जाने वाले जहाजों का संबंध है, हमें पूर्वी तथा पश्चिमी दोनों तटों तथा बंगाल से वहां पहुंचने वाले जहाजों का भी विचार करना है। गोआ और कोचीन पहुंचने वाले जहाजों की क्षमता का अंदाजा इस बात से लगाया जा सकता है कि 1558 में जब डच बेड़े की उपस्थिति के कारण वापसी यात्रा पर चलने वाले व्यापारिक जहाजों के लिए यह आवश्यक हो गया कि वे एक साथ यात्रा करें तब उस खेवे में दो चीन के जहाज, दो मलक्का में लादे गए और दो जंक शामिल हुए। चीन से चलने वाले जहाजों का उल्लेख हम पहले ही कर चुके हैं। इसलिए उन दो जहाजों को छोड़कर बाकी की क्षमता मुश्किल से 1000 टन आएगी। इस काल में पश्चिमी तट पर पुर्तगालियों के हाथों में जितना नौपरिवहन था उसके अलावा नौपरिवहन का परिमाण बहुत कम था, और अगर इस प्रसंग में पुर्तगाली खेवे का परिमाण सामान्य से कुछ कम था तो भी इस तट पर पूर्व से पहुंचने वाले कुल जहाजों की वार्षिक क्षमता 3000 टन से अधिक नहीं रही होगी। पूर्वी तट पर एक जहाज एस० टामे आता था, और मुझे लगता है कि वह असाधारण आकार का था। शायद नेगापट्टम और मछलीपट्टम में भी जहाज पहुंचते थे, यद्यपि मुझे इसका कोई निश्चित लिखित प्रमाण नहीं मिला है। हां, बंगाल के बंदरगाहों से यहां अनिश्चित संख्या में जहाज पहुंचते थे, जिनमें अन्य वस्तुओं के अलावा चावल भी होता था। सही आंकड़ों के अभाव में हम

इस मार्ग पर होने वाले कुल व्यापार को कुल मिलाकर 10,000 टन मान सकते हैं। मैं नहीं समझता कि यह व्यापार इतना वड़ा रहा होगा; लेकिन मैं इस वात का खास ख्याल रख रहा हूं कि कहीं किसी तथ्य को कम करके आंकने की भूल न होने पाए। इन आंकड़ों के आधार पर भारत तथा मलक्का और उससे आगे के देशों के वीच होने वाले व्यापार का कुल परिमाण 17,000 टन से अधिक नहीं होगा। प्रतिस्पर्धी वंदरगाह अचिन के संवंध में हमें यह जानकारी मिलती है कि व्यस्तता के मौसम में इस वंदरगाह में सोलह-अठारह जहाज रहते थे। इनमें से कुछ पेगू और सियाम से आए होते थे और शेप गुजरात, मलावार, कालीकट और वंगाल से। हर स्थान के कितने जहाज थे, यह नहीं वताया गया है, लेकिन शायद ज्यादातर भारत से ही आते थे, और इस वंदरगाह पर हम कुल भारतीय व्यापार को लगभग 3000 टन क्षमता का मान सकते हैं। वैंटम के वारे में मुझे कोई ऐसा प्रमाण नहीं मिला है, लेकिन जोर्डाइन ने, जो वहां कुछ समय ठहरा था, लिखा है कि हर साल '3, 4, 5', या 6' जंक चीन से आते थे और उनकी क्षमता 3000 टन या इससे कुछ अधिक नहीं होती थी। इस आधार पर हम भारत और जावा के वीच होने वाले व्यापार का परिमाण अधिक से अधिक 2000 टन मान सकते हैं, जिसमें स्थानीय उत्पादन को शामिल कर लिया गया है और इस वात के लिए गुंजाइश रखी गई है कि कुछ चीनी वस्तुएं दूसरे स्थानों को भी जाती होंगी।

इस प्रकार भारत के पूर्व में पड़ने वाले देशों के साथ भारत का व्यापार कुल 27,000 टन का है। मैं समझता हूं यह वढ़ा कर लगाया गया अनुमान ही है, लेकिन जो भी हो, पूर्व और पश्चिम दोनों को मिला कर देखें और प्रायद्वीप के छूट के दोनों ओर के द्वीपों के साथ होने वाले व्यापार का भी ख्याल रखते हुए सोचें तो कहना होगा कि इस काल में भारत के विदेश व्यापार का कुल परिमाण 60,000 टन से कम ही था। आज के टन के हिसाब से मोटे तौर पर यह परिमाण 24,000 और 36,000 'नेट' टन के वीच आएगा। 1911 से 1914 तक प्रतिवर्ष भारत से माल लेकर प्रस्थान करने वाले जहाजों की क्षमता 67,50,000 आधुनिक टन से कुछ अधिक थी,[23] और मैंने जो तफसीलवार अनुमान पेश किए हैं उनके संवंध में यद्यपि वहुत कुछ अनिश्चितता हो सकती है, लेकिन मैं समझता हूं कि दोनों कालों के कुल व्यापार परिमाणों में जो भारी अंतर है उससे अकवर के काल से वाद से होने वाले परिवर्तन का वहुत ठीक निदर्शन हो जाता है, और यह भी स्पष्ट हो जाता है कि जहाजरानी के परिमाण में कम से कम दो सौ गुनी वृद्धि हुई है। व्यापार की सामान्य धारा का जो वर्णन यहां प्रस्तुत किया गया उससे संकेत मिलता है कि मूल्य की दृष्टि से यह अंतर निश्चय ही उतना वड़ा नहीं होना चाहिए। कम कीमत वाली चीजें वहुत कम वाहर भेजी जाती थीं, और एक टन औसत माल की कीमत उस हालत में वहुत अधिक होती होगी जव उस माल में आज वहुत वड़े पैमाने पर वाहर भेजे जाने वाले अनाज, तिलहन और कच्चे माल के वजाय कपड़ा, मसाले और रेशमी वस्त्र शामिल होते थे। लेकिन इस औसत मूल्य का कोई मोटा अंदाजा देना भी संभव नहीं है। इस संवंध में सूचना के एकाध स्रोत किसी जहाज के नष्ट हो जाने से होने वाली भारी क्षति के किस्से ही हैं, लेकिन इस तरह के कथनों के

अतिरंजित होने की इतनी अधिक संभावना है कि उन्हें यहां उद्धृत करना बेकार होगा। भारत जिन चीजों का व्यापार विदेशों के साथ करता था उनके बारे मे यही कहा जा सकता है कि वे परिमाण में बहुत थोड़ी लेकिन अपेक्षाकृत अधिक कीमती थी। लेकिन इस व्यापार के मूल्य का ठीक अंदाजा पाने के लिए परिवहन के पूर्व की अवस्था में और परिवहन के पश्चात की अवस्था में वस्तुओं की कीमतो में अंतर स्पष्ट करना आवश्यक है। परिवहन के खर्च और उस में समाई जोखिम की लागत को देखते हुए निर्यात मूल्य में बहुत अधिक वृद्धि करने की जरूरत पड़ती थी, और कारोबार की मुख्य विशेषता थी उन्हीं वस्तुओं का व्यापार करना जिनकी ढुलाई के पूर्व और ढुलाई के बाद की कीमतों में इतना अधिक अंतर हो कि मुनाफे की पूरी गुंजाइश रहे। यह मुनाफा इतना अधिक रखा जाता था कि आज का कोई भी व्यापारी उतनी आशा नही कर सकता। मन द्वारा लिखित 'डिस्कोर्स आफ ट्रेड' में इस विषय में कुछ दिलचस्प जानकारी मिलती है। मन के अनुसार यदि यूरोप की सालाना जरूरत का सारा मसाला नील और कच्चा रेशम ईस्ट इंडीज मे खरीदा जाता तो उस पर 5,11,000 पौंड का खर्च बैठता, लेकिन यदि उतनी चीजें अलेप्पो में खरीदी जाती तो खर्च 1,465,000 पौंड बैठता, अर्थात इंडीज और अलेप्पो के बीच कीमतें लगभग तिगुनी हो जाती थी। आगे आंकड़े देकर उसने सिद्ध किया है कि जो माल भारत मे 1,00,000 पौंड में खरीदा जाता था वही समुद्री मार्ग से इंग्लैंड लाए जाने पर 4,92,000 पौंड का हो जाता था। ऐसे आकड़ों से हमे पता चलता है कि व्यापारी अपने लिए मुनाफे की कितनी अधिक गुंजाइश रखते थे। हमे चौगुनी या इससे भी अधिक कीमत पर चीजों के बेचे जाने के उदाहरण पढ़ने को मिलते है। इसलिए ऐसा निष्कर्ष निकालना अनुचित न होगा कि भारतीय समुद्रों में सफल व्यापार का मतलब यह था कि कि चीजों को जहां जहाज पर लादा गया था वहा उनकी जो कीमत थी उसकी अपेक्षा कम से कम दुगुनी तिगुनी कीमत वसूल की जाए, बल्कि यात्रा लंबी होने पर शायद इसमे भी अधिक कीमत ली जाती रही हो। लेकिन यह नहीं मान लेना चाहिए कि बिक्री की इन ऊंची कीमतों का मतलब कारोबार मे औसतन भारी मुनाफा था। कोई भी व्यापारी अपने व्यवसाय के लिए एक मे खरीदी चीज को चार में बेचकर ही अपने कारोबार को सफल बनाने की आशा रखता था, क्योंकि उसे जो पूंजी लगानी पड़ती थी, जितना ब्याज देना पड़ता था और क्षति का जो खतरा रहता था, उस सब को देखते हुए यह जरूरी था। माल को एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाने मे समय इतना अधिक लगता था कि लागत और ब्याज की मदें स्वभावतः बहुत ऊंची चली जाती थी। मौसम, शत्रुओं और जलदस्युओं से सचमुच भारी खतरा रहता था, और लंबी समुद्री यात्राओं में ऐसा भी होता था कि विनियुक्त पूंजी के बहुत बड़े हिस्से पर कोई लाभ ही नही होता था। हम देख चुके है कि दस साल के दौरान भारत और पुर्तगाल के बीच तैंतीस में से सोलह कैरेंट नष्ट हो गए। गरज यह कि अगर जहाजों और माल दोनों को मिलाकर देखें तो निर्यात का आधे से अधिक मूल्य तो यों ही नष्ट हो गया। भारत-जापान जलमार्ग पर यदि बाहर जाने वाले तीन में से दो जहाज सही सलामत अपने गंतव्य तक पहुंच जाते तो उनके मालिक

संतोष मानते थे। वापसी यात्रा में भी इसी दर से क्षति होती थी। इस तरह देश से तीन साल में चलने वाले नौ जहाजों में से आमतौर पर चार के ही लौटने की आशा रखी जाती थी। जो भारतीय जहाज छोटे मार्गों पर चलते थे उनको खतरा कुछ कम था, फिर भी काफी रहता था। अपने मालदाइव द्वीप समूह के प्रवास का पाइरार्ड ने जो विवरण दिया है उसके अनुसार तो वहां का जल क्षेत्र मृत्युपाश के समान था। पुर्तगाली वृत्त लेखकों ने लिखा है कि तटवर्ती जलदस्यु कीमती वस्तुओं से लदे जहाजों को अक्सर अपने कब्जे में कर लेते थे, और हमें यह भी मानना होगा कि भारतीय जहाज भी अक्सर नष्ट हो जाते होंगे, यद्यपि ऐसी घटनाओं को लिपिबद्ध करने से किसी को कोई सरोकार नहीं था।

समुद्री यात्रा में जो खतरे थे, उनके अलावा यह भय भी बना रहता था, कि हो सकता है, अपने गंतव्य पर पहुंचने पर माल लाभदायक ढंग से न बिक पाए। बाजार बहुत छोटे थे, एक ही जहाज के पहुंचने से किसी वस्तु के अभाव के स्थान पर उसके आधिक्य की स्थिति पैदा हो जा सकती थी। उस काल के व्यापारिक पत्राचार में कारोबार की अनिश्चितता का उल्लेख अक्सर हुआ है। उदाहरण के लिए, मछलीपट्टम के एक व्यापारी को हम यह शिकायत करते देखते हैं कि जवाहरात इतने मंहगे कि हैं उनमें पूंजी नहीं लगाई जा सकती, 'क्योंकि अराकान का जहाज इस साल पहुंचा ही नहीं।' खरीददारों की पहुंच का स्थानीय बाजार पर बहुत जल्द असर पड़ता था। एक अन्य व्यापारी लिखता है, 'हमारे जहाजों के पहुंचने पर सभी वाणिज्य वस्तुओं की कीमतें 40–50 प्रतिशत बढ़ जाती हैं।' तीसरा व्यापारी लिखता है कि अप्रत्याशित जहाजों के पहुंचने से स्थानीय बाजार में इतना अधिक कपड़ा आ गया था कि खपत की सूरत ही नजर नहीं आती थी। एक अन्य व्यापारी लिखता है कि उसके माल की अधिक मांग नहीं थी, यद्यपि अगर वह कुछ पहले पहुंच जाता तो 'सोने के भाव बिकता'। और मोटे तौर पर देखें तो सियाम के बारे में जॉन गर्ने की यह सारगर्भित उक्ति निराधार नहीं थी कि 'बाहर से लाई इन वस्तुओं के फलस्वरूप इनकी इतनी अधिकता हो जा सकती है कि इन्हें लाने का प्रयोजन ही सर्वथा विफल हो जाए।'

इन परिस्थितियों में इस बात का कोई मोटा अंदाजा लगा पाना भी कठिन है कि विदेश व्यापार से भारत कितना मुनाफा कमाता था। इसमें कोई संदेह नहीं कि सफल व्यापारी काफी धनाढ्य होते थे। हमें जो कुछ मालूम है, सफलता के बारे में ही मालूम है—विफलता के बारे में नहीं। हम यह तो निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि व्यापार से लाभ होता होगा, लेकिन साथ ही ऐसी आशंका भी रखें तो अनुचित न होगा कि –जैसा कि अत्यधिक उतार चढ़ाव वाले कारोबार में होता है–मुनाफे की दर बहुत ऊंची नहीं थी। मुनाफे का एक बहुत बड़ा हिस्सा पुर्तगालियों के हाथों में केंद्रित था। यूरोप, चीन और जापान, मलक्का, ओरमुज तथा मोजांबिक के साथ होने वाले प्रत्यक्ष व्यापार से जो भी लाभ होता था उन्हीं के हाथों में जाता था, और शेष व्यापार में से जितने पर उनका बस चलता था, उतने पर वे परवाना शुल्क या रिश्वत के रूप में भारी महसूल लगाया करते थे।[24] तथा जो शेष रह जाता था वही भारतीय व्यापारियों के मुनाफे का जरिया होता था।

तटीय एवं आंतरिक व्यापार

जैसा कि पहले के एक अध्याय में बताया जा चुका है, सोलहवीं सदी में भारत में परिवहन की परिस्थितियां ऐसी थीं जिससे व्यापारी अपना माल थल-मार्ग के बजाय जल मार्ग से भेजना ही ज्यादा ठीक समझते थे, और ये परि-स्थितियां खासतौर से पश्चिमी तट पर अधिक प्रबल थीं, क्योंकि वहां की भूमि बहुत असमतल और जंगल झाड़ों से भरी हुई है, और सच तो यह है कि आज भी[25] कराची से बंबई तक या बंबई से मंगलूर तक कोई रेल मार्ग नहीं है। इसलिए भारत के दोनों ओर के लिए तटीय व्यापार का महत्व था, लेकिन उसका संगठन एक सा नहीं था। जान पड़ता है, पूर्वी तट पर पूरे मौसम में दौरान छोटी नावें कमोबेश स्वतंत्रतापूर्वक चलती थीं, लेकिन पश्चिमी तट पर 'जल दस्युओं' का इतना अधिक भय रहता था कि सारी आमदरफ्त सशस्त्र रक्षकों के संरक्षण में होती थी। हर साल जब मानसून कमजोर पड़ जाता था, पुर्तगाली उत्तर और दक्षिण की ओर रक्षकों से लैस दस से बीस तक 'फ्रिगेट' या चुप्पू से चलने वाली नावें, जिनके साथ आमतौर पर एक या दो गैलियां हुआ करती थीं, भेजते थे। ये बड़े तटों पर पहरा देते थे, 'जल दस्युओं' के बंदर-गाहों में आने पर आक्रमण करते थे और समय समय पर कोचीन तथा गोआ के बीच या गोआ और कैंबेर के बंदरगाहों के बीच चलने वाली व्यापारिक नौकाओं के दल को संरक्षण देते थे। व्यापारी संरक्षण प्राप्त करने की आशा में प्रतीक्षा करते रहते थे, और इसलिए हम देखते है कि कैंबे गोआ तथा मध्यवर्ती बंदरगाहों के बीच का लगभग सारा व्यापार पूरे मौसम के दौरान समूह बनाकर चलने वाली संरक्षित नावों में होता था, जो सितंबर से मई महीने के बीच दो तीन खेवे लगाया करती थी। काफिला कहे जाने वाले ये समूह पूरी तरह से हवा के रुख पर ही निर्भर नहीं होते थे, क्योंकि इनमें जो नावें शामिल रहती थीं वे चप्पुओं से चलाई जा सकती थीं और उनके यात्रा आरंभ करने का समय कुछ परिस्थितियों पर निर्भर होता था, जिनमें शायद सबसे महत्वपूर्ण परिस्थिति यह थी कि गोआ को कब कितनी चीजों की जरूरत होती थी। कैंबे के काफिले में आमतौर पर 200 से 300 तक नावें होती थीं इस तरह इसकी कुल 'टन' क्षमता शायद 8-10 हजार होती होगी, यानी हर ओर से बीस से तीस हजार टन माल की ढुलाई होती होगी। इस तरह व्यापार का परिमाण बड़ा था लेकिन जो आंकड़ा दिया गया है वह इस कारण अनुचित नहीं जान पड़ता कि ये काफिले जो माल लाते थे उसका एक बहुत बड़ा हिस्सा गोआ या कोचीन से निर्यात किया जाता था और फिर उससे पुर्तगाली बस्तियों की गेहूं, दाल, तेल, शक्कर, फर्नीचर तथा विविध वस्तुओं की मांग की भी पूर्ति होती थी। इन काफिलों की सुरक्षा की व्यवस्था सर्वांगपूर्ण थी, ऐसा नहीं कहा जा सकता। कभी कभी भारी क्षति होती थी। 1608 में फिंच ने सुना कि ओरमुज से चलने वाले एक जहाज और दो नावों पर, कोचीन से चलने वाली पच्चीस में से सोलह नावों पर और दीव को जाने वाली तीस नावों पर 'जल दस्युओं' ने कब्जा कर लिया और पुर्तगाली विवरणों में भी इस तरह की क्षति के उल्लेख अक्सर देखने को मिलते हैं।

कोचीन और गोआ के बीच काफिले उसी ढंग पर चलाए जाते थे जिस ढंग पर कैंबे से प्रस्थान करने वाले काफिलों का संचालन होता था। लेकिन ये काफिले उतने बड़े नहीं होते थे और जान पड़ता है, एक मौसम के दौरान उनकी कुल क्षमता लगभग 10,000 'टन' होती थी। इस तट पर तीसरे मार्ग पर चलने वाले काफिले का स्वरूप कुछ भिन्न था। आमतौर पर होता यह था कि सीलोन के आसपास कहीं पर बंगाल तथा कोरोमंडल तट की नौकाएं उन जहाजों के साथ हो लेती थीं जो मलक्का तथा उसके पूर्व से आ रही होती थीं, और यहां से यह बेड़ा सशस्त्र जहाजों के संरक्षण में कोचीन पहुंचता था। इस तरह भारत के पूर्वी हिस्से से पहुंचने वाले जहाजों की क्षमता का अंदाजा देने वाला कोई आंकड़ा मुझे नहीं मिल पाया है, लेकिन निश्चय ही उनकी क्षमता काफी बड़ी थी, क्योंकि इस व्यापार की मुख्य वस्तु चावल होता था। इसी तरह पूर्वी तट के ऊपरी और निचले हिस्सों के बीच जो व्यापार होता था उसके परिमाण की ठीक जानकारी देने वाला भी कोई तथ्य मुझे नहीं मिल पाया है। एक पुर्तगाली लेखक का कहना है कि सोलहवीं सदी के आरंभ में उसने नेगापट्टम में 700 नावों को चावल लादते देखा।[26] इसे शायद किसी असामान्य व्यापारिक गतिविधियों का उदाहरण माना जा सकता है। जो आधे अधूरे विवरण उपलब्ध हैं, उनके आधार पर मैं यह निष्कर्ष निकालना चाहूंगा कि आमतौर पर इधर के व्यापार का परिमाण उतना बड़ा नहीं था जितना कि पश्चिमी तट का था, लेकिन फिलहाल उसे सही आंकड़ों में दिखा पाने का लोभ संवरण ही करना पड़ेगा।

जहां तक अंतर्देशीय जलमार्गों का संबंध है, पिछले अध्यायों में जो कुछ कहा जा चुका है। उसके बाद बहुत कम कहने की जरूरत रह जाती है। गंगा तथा सिंधु और उनकी सहायक एवं शाखा नदियों का पूरा उपयोग किया जाता था। इसी तरह बंगाल में जो छोटी छोटी धाराओं का जाल बिछा हुआ था उसका भी सही इस्तेमाल किया जाता था। इसमें कोई संदेह नहीं कि नदियां उत्तर भारत के मुख्य परिवहन मार्ग थीं। लेकिन सभी ऋतुओं में वे सुविधाजनक नहीं रहती थीं। बाढ़ के जोर और हवा के रुख पर बहुत कुछ निर्भर रहता था और संभव है कि उनके रास्ते होने वाला व्यापार बहुत हद तक मौसमी रहा हो। मौसम का प्रभाव थल मार्गों पर भी पड़ता था। वर्षा ऋतु में आमदरफ्त लगभग ठप्प रहती थी, और ग्रीष्म ऋतु में भी वह बहुत सीमित रहती थी, क्योंकि उन दिनों भारवाही जानवरों के लिए चारा पानी मिलना मुश्किल हो जाता था। सूरत के एक अंग्रेज व्यापारी को हम यह शिकायत करते पाते हैं कि चार महीने गर्मी के होते हैं और चार बरसात के, जिनके दौरान यात्रा नहीं का जा सकती और इसलिए वे व्यापार के लिए भी अनुपयुक्त हैं। सूरत से आगरा के दो रास्तों की चर्चा करते हुए टैवर्नियर ने मौसम के प्रभाव का बहुत अच्छा उदाहरण दिया है। राजपूताना से होकर गुजरने वाला पश्चिमी मार्ग उस काल में दूसरे मार्ग की अपेक्षा अधिक खतरनाक था, जिसका कारण यात्रियों के प्रति कबीलों और उनके सरदारों का रुख था, फिर भी व्यापारी समय बचाने के लिए इसी मार्ग को अधिक पसंद करते थे। यह मार्ग रेतीले प्रदेश से होकर गुजरता था, जिसमें नदियां बहुत कम थीं। इसलिए वर्षा के समाप्त होते ही इस पर मजे में यात्रा की जा

सकती थी। लेकिन मालवा से होकर गुजरने वाला अपेक्षाकृत निरापद रास्ता बाद में भी दो महीने तक यात्रा के लायक नहीं रहता था, क्योंकि उसकी मिट्टी गीली होती थी और बाढ़ के पानी से भरी नदियां बाधा उपस्थित करती थीं। इसलिए सामान्य यात्री यात्रा-पथ में पड़ने वाले प्रदेशों की मिट्टी के सूख जाने तक सूरत में बैठा प्रतीक्षा करता रहता और तब करहामपुर तथा ग्वालियर से होकर अपनी यात्रा तय करता था, लेकिन जो व्यापारी इस रास्ते से यात्रा करता वह उसके लिए यह असंभव था कि वह उत्तर से माल खरीद कर समय पर सूरत वापस आ जाए, ताकि सूरत से प्रस्थान करने के लिए तैयार जहाजों पर लादने के लिए उसका माल बिक जाए। इसलिए वह आगरा जाने के लिए वह अपेक्षाकृत अधिक खतरनाक पश्चिमी मार्ग को ही चुनता था। बाद में स्थिति इसके विपरीत हो जाती थी। तब राजपूताना में चारा पानी मिलना मुश्किल हो जाता था, और यदि कोई खास कारण नहीं होता था तो उत्तर से आने वाले यात्री स्वभावतः मालवा से गुजरने वाला रास्ता चुनते थे, क्योंकि इन दिनों इस पर अपेक्षाकृत कम कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था।

इस तरह अंतर्देशीय व्यापार दो बातों से प्रभावित होता था—एक तो मौसम से और दूसरे देश के अलग अलग हिस्सों में सुरक्षा की अलग अलग स्थितियों से। इन दो प्रभावों के लिए गुंजाइश रखते हुए, हम कह सकते हैं कि अंतर्देशीय व्यापार का नियमन आज की ही तरह कीमतों के स्तर में पाए जाने वाले अंतर से होता था। लेकिन चूंकि लागत और खतरे बहुत अधिक थे, इसलिए व्यापार का प्रवाह निरंतर चलता रहे, इसके लिए कीमतों में अधिक अंतर होना भी जरूरी था। इस काल में व्यापार की संभावनाओं का संकेत इस तथ्य से मिलता है कि जब युद्ध के फलस्वरूप फारस की खाड़ी में पहुंचने का रास्ता बंद हो गया, तब फारस के लिए जरूरी मसाले मछलीपट्टम से भारत को पार करके सीधे कंदहार को भेजा जाने लगा। कीमती वस्तुएं बहुत थोड़े परिमाण में दूर-दूर तक ले जाई जा सकती थीं। इसके और भी बहुत से उदाहरण दिए जा सकते हैं। उस समय व्यापार पर जो स्वाभाविक मर्यादाएं लगी हुई थीं वे चावल जैसे अनाजों के संबंध में, जो कीमत की दृष्टि से परिमाण में अपेक्षाकृत बहुत अधिक होते थे, ज्यादा स्पष्ट रूप से सामने आती थीं। चावल का व्यापार बनजारों के हाथों में केंद्रित था। उनकी प्रवृत्तियों का कोई समकालीन विवरण मेरी दृष्टि में नहीं आया है, लेकिन मंडी तथा टैवर्नियर जैसे कतिपय परवर्ती लेखकों ने कुछ तफसीलें दी हैं। अगर हम यह मान लें कि उन्होंने जो कुछ कहा है वह मूलतः विचाराधीन काल पर भी लागू होता है तो हम इस बात का कुछ अंदाजा लगा सकते हैं कि कितना अधिक माल एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाया जा सकता था। संभव है लगभग दस या बीस हजार भारवाही बैल रहे हों, जो प्रतिदिन छ: से आठ मील की यात्रा कर सकते थे। चूंकि हर बैल पर तीन हंड्रेडवेट[27] माल लादा जा सकता था, इसलिए कुल वजन कम से कम 1500 असली टन होगा। यह निस्संदेह बहुत बड़ा परिमाण है। आज मालगाड़ी के तीन-चार डिब्बे इतना माल ले जा सकते हैं, लेकिन इस तरह की गतिविधियां बराबर नहीं चलती थीं। स्पष्ट है कि रास्ते में इतने सारे जानवरों को चारा-पानी वर्ष के कुछ ही महीनों के दौरान दिया जा सकता था और अगर हम उनकी गति का ख्याल करें तो देखेंगे कि एक पूरे मौसम के दौरान जितना माल ढोया जाता होगा उतना कोई रेलवे एक हफ्ते से कम समय में उतनी ही दूरी तक ले जा सकता है। इस तरह भारत ने अंतर्देशीय व्यापार की ऐसी पद्धति का विकास कर लिया था जो उसके समुद्री व्यापार की ही तरह उस काल के

लिए काफी उल्लेखनीय उपलब्धि थी, लेकिन वर्तमान स्थिति की तुलना में वह नगण्य ही था इस अंतर को ध्यान में रखते हुए हम अंतर्देशीय व्यापार की मुख्य धाराओं का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करने की कोशिश कर सकते हैं। जहां तक उत्तर भारत का संबंध था, सब से प्रमुख तथ्य यह है कि आज की तरह खाद्यान्नों, तिलहनों और कच्ची कपास के भारी निर्यात जैसी कोई बात नहीं थी। दक्षिण के प्रदेशों की आबादी बहुत विरल थी और इसलिए वे आमतौर पर आत्मनिर्भर थे। इसके अलावा सड़क से माल ढोने में जो कठिनाइयों थी वे ऐसे भारी माल को ढोकर दूर तक ले जाने में बहुत अधिक बाधक होती होंगी। गंगा के रास्ते पश्चिम से पूर्व की ओर ले जाई जाने वाली मुख्य वस्तु नमक था। कपड़ा और नील सिंधु नदी के जरिए किए जाने वाले व्यापार की मुख्य वस्तुएं थीं। दूसरी ओर, बंगाल अपने उत्पादनों का अच्छा व्यापार करता था। बढ़िया किस्म की खाने-पीने की चीजें यहां से आगरा की ओर भेजी जाती थीं। समुद्र के रास्ते 'सारे भारत' को, अर्थात पश्चिमी तट को चीनी भेजी जाती थी और चावल उस दिशा में तथा सीलोन और मलक्का को भेजा जाता था। भारत के दूसरी ओर गुजरात प्रदेश आत्म निर्भर ही था। यहां समुद्री गतिविधि रखने वाले शहरी लोग बड़ी तादाद में रहते थे, जिनके लिए मुख्यतः उत्तर और पूर्व से खाद्यान्न मंगवाना पड़ता था। दकन से चावल आता था, और मालवा और राजपूताना से गेहूं। जब टामस रो ताप्ती की घाटी से होकर बुरहानपुर की यात्रा कर रहा था उस समय निस्संदेह मालवा और राजपूताना के साथ होने वाले व्यापार ने ही उसका ध्यान आकृष्ट किया था, और इस व्यापार के अस्तित्व से यह संकेत मिलता है कि उन दिनों मध्य भारत का विरल जनसंख्या वाला यह क्षेत्र अपनी जरूरत से काफी अधिक पैदावार करता था। इससे और दक्षिण की ओर के भीतरी प्रदेश से इसी तरह पैदावार बाहर भेजी जाती रही हो, इसका कोई प्रमाण मुझे नहीं मिला है, ऐसे व्यापार के मार्ग में पश्चिमी घाट बहुत बाधक था, और डेला वेला का कहना है कि माल असबाब पशुओं की पीठ के बजाय मनुष्य के कंधों पर अधिक ढोए जाते थे और उधर विभिन्न स्रोतों से हमें यह जानकारी मिलती है कि तटवर्ती शहरों के लिए खाने पीने की चीजें दूर दूर से समुद्री मार्ग से लाई जाती थीं कैंबे की खाड़ी से गेहूं तथा बंगाल और कोरोमंडल तट से चावल। प्रायद्वीप की दूसरी ओर चावल का निर्यात अधिक महत्वपूर्ण था, लेकिन मुझे इस बात का कोई संकेत नहीं मिला है कि यह थलमार्ग से देश के किसी दूरस्थ क्षेत्र से यहां लाकर बाहर भेजा जाता था। कुल मिलाकर देखें तो ऐसा नहीं लगता है कि थलमार्ग द्वारा कृषि उत्पादन के वितरण की कोई सामान्य प्रणाली उन दिनों भारत में कायम हो पाई थी, हालांकि खास क्षेत्रों में ऐसी स्थिति थी।

एक बात और है, जिसका उल्लेख अंतर्देशीय व्यापार के संदर्भ में आवश्यक है। सोलहवीं सदी के अंत में कुछ एसे कारण सामने आने लगे थे जिनके फलस्वरूप विभिन्न वाणिज्य वस्तुओं की कीमतों में बाद में भारी वृद्धि हुई, जिससे व्यापार का भी तेजी से विकास हुआ। 1610 के आसपास पुर्तगाली व्यापार के ह्रास की चर्चा करते हुए पाइरार्ड ने इसका मुख्य कारण डचों की स्पर्धा बताया है। लगता है, डच लोग खरीद बिक्री में बड़े कुशल थे, और बाजारों में उनके प्रवेश करने से कीमतें बहुत बढ़ गई। पाइरार्ड के ही शब्दों में इसका नतीजा यह हुआ कि जिस वस्तु को पुर्तगालियों को पहले एक सोल देना पड़ता था उसी के लिए अब चार, पांच सोल देने पड़ते थे।' कुछ वर्ष बाद लिखते हुए सर टामस रो ने अंग्रेज व्यापारियों के भारत आगमन के परिणाम का वर्णन लगभग ऐसे ही शब्दों में किया। ईस्ट

इंडिया कंपनी को 1618 में लिखे अपने अंतिम पत्र में वह आग्रहपूर्वक कहता है कि अंजोंग्र के व्यापार से भारत को कोई शिकायत हो, इसका कोई उचित कारण नहीं है, क्योंकि 'हम जितनी भी चीजों का व्यापार करते हैं उन सब की कीमतें हमने बढ़ा दी हैं।' आगे डच लोगों के साथ लगातार चलने वाली स्पर्धा के खतरे का उल्लेख करते हुए वह सलाह देता है कि दोनों राष्ट्रों को पूर्वी व्यापार को आपस में बांट कर इस स्पर्धा से बचना चाहिए। बाद के वर्षों के इतिहास से प्रकट होता है कि उसकी आशंकाएं निराधार नहीं थीं। तरह तरह की वस्तुओं की खरीददारी के लिए विदेशियों के देश के भीतरी भागों में प्रवेश करते जाने के फलस्वरूप उत्पादकों की वस्तुओं की कीमतों में बहुत ठोस वृद्धि हुई। लेकिन विचाराधीन काल में ये सारी गतिविधियां मुश्किल से आरंभ ही हो पाई थीं। देश का अंतर्देशीय व्यापार उन अनेक कारणों का परिणाम था जो अनिश्चित काल से काम करते आ रहे थे। मैं इसके परिमाण का कोई अनुमान पेश नहीं कर सकता। आधुनिक मापदंडों से देखने पर परिमाण निश्चय ही बहुत थोड़ा था, लेकिन समकालीन पैमाने से परखें तो बेशक वह एक बहुत ठोस उपलब्धि थी।

भारतीय व्यापार का संगठन

पिछले अनुच्छेदों में वर्णित बृहत व्यापार का संचालन अपेक्षाकृत बहुत थोड़ी सी जातियों या प्रजातियों के हाथों में था। इन जातियों या प्रजातियों के सदस्यों ने इस दिशा में विशेष कुशलता प्राप्त कर ली थी और मैं मानता हूं कि ऐसा कहना बिल्कुल सही होगा कि इन विशेष जातियों और प्रजातियों के अतिरिक्त अन्य लोगों के हाथों में आज की अपेक्षा बहुत कम व्यापार था। इस काल के साहित्य में तीन प्रमुख व्यापारिक जातियां हैं—समुद्रांचलों के मुसलमान, गुजरात के बनिये और कोरोमंडल तट के चेट्टी। पूर्वी समुद्रों में मुसलमानों की विशेष स्थिति मैं पहले ही बता चुका हूं। दरअसल भारत के दोनों ओर के सभी महत्वपूर्ण स्थानों में हमें उनकी उपस्थिति देखने को मिलती है—कभी जहाज मालिकों के रूप में तो कभी जलदस्युओं के और कभी अंतर्देशीय व्यापारियों के। इन तीनों धंधों को बिल्कुल अलग अलग लोग चलाते रहे हों, ऐसी बात नहीं थी। पाइरार्ड का कहना है कि मलाबार तट के जलदस्यु अच्छे व्यापारी भी बन जाते थे और जब दक्षिण पश्चिम मानसून के कारण उनके बंदरगाह बंद हो जाते थे तब वह यत्र तत्र जाकर अपनी चीजें बेचा करते थे। मुसलमानों ने भारतीय बंदरगाह पर अपनी प्रभुसत्ता का दावा कभी नहीं किया, लेकिन साथ ही वे विशेष सुविधा की स्थिति का उपभोग करते थे। वे स्थानीय अधिकारियों के साथ सौहार्दपूर्ण संबंध रखते थे, और अगर मेरा निष्कर्ष गलत न हो तो सामान्य लोगों से अधिक स्वतंत्रता का वे उपभोग करते थे। विदेशों के साथ उनका जो संबंध था उसने अवश्य ही उन्हें असाधारण रूप से व्यापक दृष्टिकोण प्रदान किया होगा, और अफ्रीका से लेकर मलक्का तक के समुद्रांचलों में उनके लिए विश्व नागरिक संज्ञा का प्रयोग किया जाए तो वह प्राय: ठीक ही होगा। गुजरात के नगरों के बनियों की स्थिति ज्यादा स्थानीय ढंग की थी और उन पर अधिकारियों की सत्ता की पकड़ अधिक थी, लेकिन वे थलमार्ग और जलमार्ग से भी काफी यात्रा करते थे, और वे बैंटम, लाल सागर के बंदरगाहों तथा अन्य दूरस्थ स्थानों में बसे हुए थे, ऐसी जानकारी भी हमें उस काल के विवरणों से मिलती है। तीसरी, यानी चेट्टी जाति के लोग, मैं समझता हूं भारत के पश्चिम के देशों में नहीं पहुंचे थे, लेकिन मलक्का जलडमरूमध्य तथा पूर्वी द्वीपसमूहों में

जाने-माने जाते थे, श्रौर भारतीय तटों पर उनकी स्वभावगत विशेषताश्रों से लोग इतनी अच्छी तरह परिचित थे कि जो पुर्तगाली खुले आम व्यापार वृत्ति अपना कर अपने समाज के लोगों की निगाह में गिर जाते थे उन्हें उपहासपूर्वक 'चेट्टी' कह कर पुकारा जाता था।

इस काल में उत्तर भारत की व्यापार करने वाली जातियों का स्पष्ट उल्लेख मुझे कहीं देखने को नहीं मिला है, लेकिन मैं समझता हूं, ऐसा मान लेने में कोई हर्ज नहीं है कि जो जातियां आज वाणिज्य व्यापार करती हैं वही तब भी करती थीं। उनके साथ-साथ वह फारसी श्रौर आरमीनियाई लोग भी व्यापार करते थे, जिनका मुख्य कारोबार कंदहार से होकर पश्चिम के साथ थल व्यापार करना था। भारत में इन्हें हम किसी एक नगर में लंबे समय तक जम कर रहते नहीं पाते हैं, बल्कि अपने कारोबार के सिलसिले में इधर-उधर यात्रा करते देखते हैं। इस तरह घूम घूम कर के अपना माल बेच देते थे श्रौर जब तक वापसी यात्रा के लिए पूरा माल नहीं खरीद लेते तब तक इनका भ्रमण क्रम जारी रहता था। यहूदी चीन तथा दक्षिण भारत के अन्य स्थानों में बसे हुए थे, लेकिन यदा कदा वे देश के भीतरी भागों की सड़कों पर भी देख जा सकते थे। कभी कभी यूरोपीय लोग भी निजी कारोबार करते देख जा सकते थे,' श्रौर यह कहना अनुचित नहीं होगा कि अंतर्देशीय तथा तटीय दोनों किस्म के व्यापार में यहां अनेक देशों के लोग लगे हुए थे। सच तो यह है कि कुछ मामलों में देशी व्यापारियों की अपेक्षा विदेशी व्यापारियों की स्थिति अधिक सुविधाजनक थी। व्यापारिक मंडी, श्रौर उससे भी अधिक व्यापारी का परिवार स्थानीय अधिकारियों के हाथों में एक प्रकार से बंधक हुआ करता था। इन अधिकारियों को आसान शर्तो पर कर्ज देकर या लागत से भी कम दाम में उनके हाथों अपनी चीजें बेचकर व्यापारी को उन्हें संतुष्ट करना पड़ सकता था। श्रौर अगर दुर्भाग्यवश व्यापारी इनका कोपभाजन बन जाता था तो अपना गुस्सा व जिन पारंपरिक रीतियों से उतारते थे उनकी स्मृति अब भी मिटी नहीं है। इसके विपरीत किसी अजनबी का तो सिर्फ उतना माल ही खतरे में रहता था जितना कि उस समय उसके पास होता था। कभी कभी उसके देश की प्रतिष्ठा उसकी रक्षा करती थी। जिस काल पर हम विचार कर रहे हैं उस काल में नई नई विदेशी चीजों की मांग इतनी अधिक थी कि प्रशासन आमतौर पर उस वर्ग के साथ पक्षपात करता था जो इस मांग की पूर्ति कर सकता था। सर टामस रो ने ईस्ट इंडिया कंपनी को सूचित किया, यहां आपको वे विशेष सुविधाएं मिलेंगी जो किसी भी अजनबी को मिलती हैं श्रौर अधिकार ऐसे मिलेंगे जिन्हें अपना बताने की हिम्मत यहां की प्रजा कभी नही कर सकती, श्रौर मैं मानता हूं कि उसके इस कथन को भारत के अधिकांश भाग की वस्तुस्थिति के संक्षिप्त विवरण के रूप में स्वीकार किया जा सकता है।

यह बात ध्यान में रखी जानी चाहिए कि इस काल में भारत में वाणिज्य संबंधी कोई कानूनी संहिता नहीं थी जो स्वदेशी श्रौर विदेशी व्यापारियों पर समान रूप से लागू होती। स्वदेशी व्यापारियों को देश के कानून के अधीन चलना पड़ता था श्रौर जैसा कि हम देख चुके हैं, यह कानून बहुत हद तक इसे लागू करने वाले अधिकारी के व्यक्तित्व पर निर्भर था। इसके विपरीत विदेशी व्यापारियों के साथ, व जिस देश के निवासी होते थे, उस देश की अंतर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा के अनुरूप व्यवहार किया जाता था, श्रौर वे आमतौर पर इस बात के लिए प्रयत्नशील रहते थे कि सत्ताधारियों के साथ न्यूनाधिक विधिपूर्वक उनकी संधि या समझौते हो जाएं, जिसमें वे शर्तें तय कर दी जाएं, जिनके अनुसार उन्हें

व्यापार करना है और साथ ही चुंगी की दरें भी निश्चित कर दी जाएं। पुर्तगालियों, डचों तथा अंग्रजों की बस्तियों के आरंभिक इतिहास में इस तरह की संधि के लिए चलाई गई वार्ताओं का काफी उल्लेख मिलता है। लेकिन मैं नहीं समझता कि व्यापारिक संधि समझौते की इस पद्धति का अविष्कार यूरोपीय व्यापारियों ने किया। इसके एक सदी पूर्व ही कालीकट तथा अन्य स्थानों में मुसलमान व्यापारी विशेष सुविधाजनक स्थिति का उपभोग कर रहे थे। जान पड़ता है, अधिकारियों तथा व्यापारियों के एक समूह के बीच हुए इसी तरह के किंतु शायद कुछ कम वैधानिक ढंग के समझौतों का यह परिणाम था, और एशियाई समुद्रों की जो स्थिति थी उससे ऐसा लगता है कि इस तरह के समझौते अक्सर हुआ करते थे।

चंद व्यापारिक जातियों के सदस्यों के बहुत बड़े क्षेत्र में फैले होने से स्पष्ट ही व्यापारिक संगठन के विकास में मदद मिली, और यह परिणाम खास कर विनिमय के मामले में स्पष्ट देखने को मिलता है। जब अंग्रेज व्यापारी पहले पहल सूरत पहुंचे, उसके शीघ्र बाद हम उन्हें हुंडियों द्वारा सौदे के भुगतान की पहले से मौजूद सुविधाओं का लाभ उठाते देखते हैं। इनका लाभ वे स्थानीय—जैसे सूरत और भड़ौंच के–व्यापार के सिलसिले में तो उठाते ही थे, सूरत और आगरा जैसे दूरस्थ क्षेत्रों के बीच चलनेवाले कारोबार के सिलसिले में भी उस विनिमय–पद्धति का प्रयोग करते थे। लेकिन यह पद्धति भारत की सीमाओं के अंदर ही प्रचलित नहीं थी। जब व्यापारियों के एक दल को फारस भेजा गया तो उसे निर्देश दिया गया कि आगरा में वह या तो लाहौर के लिए अथवा इस्पहान के लिए हुंडियां ले ले, और उसे एक साखपत्र दे दिया गया, ताकि फारस पहुंच कर वह सुविधानुसार इंग्लैंड के लिए या आगरा के लिए हुंडियां लिख दे। यह प्रणाली वास्तव में कैसे काम करती थी, इसका कोई समकालीन विवरण मुझे नहीं मिला है, लेकिन मैं समझता हूं, ऐसा माना जा सकता है कि उसकी मुख्य विशेषताएं आधी सदी बाद टैवर्नियर द्वारा वर्णित इस पद्धति की विशेषताओं से भिन्न नहीं थी। उसके अनुसार जिस व्यापारी को सूरत के लिए माल खरीदने के निमित्त पैसे की जरूरत होती थी वह देश के आगरा तक के किसी भी स्थान में सूरत के लिए दो महीने की अवधि की हुंडी लिखकर माल खरीद सकता था, आगरा से पूर्व की ओर ढाका, पटना, या बनारस में उसे आगरा के लिए हुंडी लिखनी पड़ती थी और आगरा में वह हुंडी सूरत की हुंडी से भुनाई जा सकती थी। टैवर्नियर के अनुसार हुंडी पर लिए जाने वाले शुल्क की दरें काफी ऊंची थीं जो अहमदाबाद में एक डेढ़ प्रतिशत से शुरू होती थीं और बनारस में बढ़कर छः प्रतिशत तथा ढाका में दस प्रतिशत हो जाती थीं।[28] लेकिन साथ ही टैवर्नियर यह भी बताता है कि हुंडियों में जोखिम बहुत अधिक थी, क्योंकि यदि माल रास्ते में चोरी चला जाए तो हुंडी का भुगतान नहीं हो सकता था। इस प्रकार हुंडी शुल्क में परिवहन की जोखिम और व्याज की प्रचलित दर दोनों शामिल थीं। टैवर्नियर आगे यह भी बताता है कि यदि स्थानीय सरदार व्यापार में हस्तक्षेप करते या मार्ग शुल्क की खातिर माल को किसी खास मार्ग से ले जाने पर विवश करने की कोशिश करते तो शुल्क की दरें एक-दो प्रतिशत और बढ़ सकती थीं। इस तरह के विघ्न खासतौर से आगरा से अहमदाबाद के मार्ग पर अक्सर उपस्थित किए जाते थे। आगे उसने लिखा है कि ओरमुज, मोचा और बैंटम, बल्कि फिलीपीन द्वीपसमूह तक को भेजे गए माल की बाबत सूरत में इस तरह का उधार सौदा होता था। इस उधार सौदे के शुल्क की दरें बहुत ऊंची (ओरमुज के लिए 16 से 22 प्रतिशत और अधिक दूर के बंदरगाहों के लिए और भी

ऊंची दरें) थीं, लेकिन इन दरों में भी जहाज के नष्ट होने और समुद्री डाके पड़ने की जोखिम के खिलाफ बीमे की रकम शामिल होती थीं, और यह तो हम देख ही चुके हैं कि इस तरह की जोखिम आमतौर पर कितनी ज्यादा होती थी।

इस प्रकार साख पर सौदा करने की पद्धति उन दिनों विद्यमान थी और इसकी परिधि में बहुत बड़ा क्षेत्र आता था तथा इसमें राजनीतिक सीमाओं का कोई ख्याल नहीं रखा जाता था। इस चीज को उस काल की व्यापारिक नैतिकता के उच्च स्तर का द्योतक माना गया है और इस मान्यता की पुष्टि करने वाला उदाहरण देना भी संभव है। लेकिन दूसरी ओर इस बात के उदाहरण देना भी उतना ही संभव है कि भारतीय व्यापारियों को अंतरात्मा या ईमानदारी का कोई खयाल नहीं था। लेकिन मैं समझता हूं कि इन साक्ष्यों को विस्तार से प्रस्तुत करना व्यर्थ है, क्योंकि इनकी जो सही व्याख्या हो सकती है वह बिल्कुल स्पष्ट है। जिन अन्य राष्ट्रों को भारत के समान व्यापार का दीर्घ अनुभव था उनके व्यापारियों की तरह भारतीय व्यापारियों ने भी अपनी एक पारंपरिक व्यापारिक नैतिकता का विकास किया था। अपनी गतिविधियों के लिए उन्होंने कुछ मर्यादाएं स्वीकार कर रखी थी, और इन मर्यादाओं के अंदर उन पर विदेशी व्यापारी और देशी व्यापारी भी भरोसा रख सकते थे। विदेशी व्यापारियों की भी अपनी परंपराएं थी, लेकिन उनकी परंपराएं भारतीय परंपराओं से भिन्न थी। कभी कभी उन्हें यह देखकर सुखद आश्चर्य होता था कि जिन स्थितियों का लाभ वे बेझिझक उठा सकते थे उनका लाभ भारतीय व्यापारी नहीं उठाते थे, लेकिन कभी कभी उन्हें यह भी देखने को मिलता था कि भारतीय व्यापारी ऐसा आचरण कर बैठते थे जो उनकी दृष्टि में अनुचित था। व्यापार के संबंध में भारत की पारंपरिक नैतिकता सर्वांगपूर्ण नहीं थी और न है। इसकी खूबी यह थी कि इसने एक ऐसी प्रणाली प्रस्तुत की जिसके अंतर्गत कारगर ढंग से व्यापार किया जा सकता था, और इस तरह की अन्य प्रणालियों की तरह इस में भी उन लोगों के साथ काफी अच्छा बरताव होता था जो 'इस खेल के नियमों को' जानते थे, यद्यपि जो अजनबी इस खेल में हाथ डालते थे उन्हें अनुभव प्राप्त करने की भारी कीमत चुकानी पड़ती थी। ऐसे अजनबियों में से कुछ ने बाद की पीढ़ियों के लाभ के लिए अपने अनुभवों से बनी धारणाओं को लिपिबद्ध भी कर दिया। इन धारणाओं का महत्व दरअसल इस बात में निहित है कि इसे भारतीय व्यापारियों और कारोबारी लोगों के स्तर और योग्यता की जानकारी प्राप्त होती है। आज की ही तरह सोलहवीं सदी में भी उन्हें उच्चतम कोटि के व्यापारियों की श्रेणी में रखा जाना चाहिए। यूरोपीय यात्रियों ने कभी कभी उन्हें यहूदियों से भी श्रेष्ठ बताया है, और उस काल के बाजार में यहूदियों का जो प्रतिष्ठित स्थान था उसको समझने वालों के लिए यह साक्ष्य निर्णायक होना चाहिए। इस विषय में टैवर्नियर द्वारा कहे गए सराहना के शब्दों को उद्धृत करना शायद उचित होगा, क्योंकि अपने व्यापक अनुभवों के कारण वह वस्तुस्थिति का बहुत सही पारखी बन गया था। उसका कहना है : 'तुर्की साम्राज्य में सर्राफे का काम करने वाले यहूदी आमतौर पर असाधारण योग्य माने जाते हैं, लेकिन भारत के सर्राफों के कदमों में बैठकर कुछ सीख सकें, इस लायक भी वे मुश्किल से माने जा सकते हैं।'

छठे अध्याय के साधन सूत्र

अनुच्छेद–1—सोलहवीं सदी के आरंभ में मुसलमान व्यापारियों की स्थिति की सबसे अच्छी जानकारी बारबोसा, वरथेमा और डेकाडास की प्रारंभिक जिल्दों के अध्ययन

से प्राप्त की जा सकती है। व्हाइटवे में पुर्तगालियों की शक्ति के विकास का संक्षेप में अच्छा विवरण प्रस्तुत किया गया है। पुर्तगालियों के रुख के कारण व्यापार के मार्गों में हुए परिवर्तन के लिए देखिए बाराबोसा 353, 358 और पाइरार्ड अनुवाद, i 279। मलाबार के दस्युओं का सबसे अच्छा विवरण पाइरार्ड, अनुवाद, i 438–447 में मिलेगा। वैसे उनका उल्लेख उस काल के सभी लेखकों ने किया है, लेकिन पाइरार्ड को उनका अवलोकन करने के बहुत से अवसर प्राप्त हुए थे। एक पुर्तगाली प्रजा एक जलदस्यु से परवाना लिया था, इसका वर्णन हे, 831 में है, यह बात एक पुर्तगाली स्रोत से ही मालूम होती है, और इसलिए शायद सच है, क्योंकि राष्ट्रीय अभिमान के विरुद्ध जाने वाली यह बात बिना किसी आधार के नहीं लिखी जा सकती थी। अकबर के जहाजों को परवाने देने का उल्लेख डेकाडास X, i 441 आदि में है, और इसका जिक्र मुसलमान वृत्त लेखकों ने भी किया है, जो इलियट, हिस्ट्री, V 403 में देखा जा सकता है। विजयनगर के साथ पुर्तगालियों की संधि की शर्तें सेवेल 186, में दी गई है। एक ओर पुर्तगालियों के साथ और दूसरी ओर जलदस्युओं के साथ जमोरिन के संबद्ध का जिक्र बाद के डेकाडास में हुआ है।

अनुच्छेद-2—लहरी बंदर का विवरण परकास I, vi, 49 में देखा जा सकता है। इस बंदरगाह के जहाजों के बारे में जो कथन मेरी दृष्टि में आए है वे सिर्फ परकास I, iii 273 (अ स्माल आर्क आफ सिंध) और वही, 307; (अ स्माल सेल) में है। कैंबे के बंदरगाहों का वर्णन उस समय के लगभग सभी लेखकों ने किया है। काफिले के लिए देखिए खासतौर से पाइरार्ड, अनुवाद, iii 245 और जलदस्युओं द्वारा पहुंचाई गई क्षति के उदाहरणों के लिए देखिए परकास, I, vi, 21 में फिच। चोल के लिए देखिए लिनशाटेन, अ० 10, और पाइरार्ड, अनुवाद, *ii* 259 देबुल के लिए देखिए जोर्डाइन *198*।

गोआ की व्यापारिक प्रवृत्तियों का शायद सबसे अच्छा विवरण यह है जो पाइराड की जिल्द 2 में मिलता है, लेकिन जो लोग इसके बारे में विस्तृत जानकारी चाहते हों और कोचीन के बारे में भी जानने की इच्छा रखते हैं। उन्हें बादवाले डेकाडास का अध्ययन करना चाहिए। जापान की समुद्री यात्रा के लिए देखिए पाइरार्ड अनुवाद ii 175 और उसके बाद के पृष्ठ। लाल सागर की परिस्थितियों का सबसे अच्छा वर्णन जोर्डाइन 74 में मिलता है और ओरमुज तथा पूर्व अफ्रीकी तट की परिस्थितियों की जानकारी के लिए डेकाडास की बाद की जिल्दें देखनी चाहिए। मोजंबीक और ओफीर एक ही थे, इसका एक (लेकिन एकमात्र नहीं) उदाहरण परकास, *II, vii, 1022* में मिलता है। पैराडाइज लास्ट में मिल्टन ने 'सोफाला', जिसे ओफीर माना जाता था', के बारे में लिखा है।

सीलोन के लिए देखिए पाइरार्ड, अनुवाद ii, 140 दसवें और बारहवें डेकाडास में इस द्वीप पर होने वाली लड़ाई के लंबे विवरण दिए गए हैं। पेगू के साथ कोरोमंडल के व्यापार के लिए देखिए परकास, ii, x, 1718, 1733, 1939। बंगाल के बंदरगाहों के संदर्भ परिशिष्ठ 'सी०' में दिए गए हैं। पुर्तगाली अधिवासियों की स्थिति का अध्ययन है, 728 और बाद के पृष्ठों में दिए गए मिशनरियों के विवरणों से किया जा सकता है।

अनुच्छेद–3—पेगू के बंदरगाहों और उसके व्यापार के सीजर, फ्रैडरिक बल्बी तथा फिच द्वारा किए गए वर्णन परकास II, x 1716, 1725, 1737 में मिलेंगे। 'कासमिन', 'सीरियम', और 'मर्तबान' इंदराजों के अंतर्गत 'हाब्सन जाब्सन' भी देखिए। तेनासरीम के लिए देखिए बाराबोसा 369, परकास, II x, 1712, 1741, और 'टेवाय', 'टेनासरीम, तथा 'नीपा' इंदराजों के अंतर्गत हाब्सन-जाब्सन भी। मलक्का का कलासिकी विवरण

वारवोसा 370 आदि में मिलता है। चीनी नौपरिवहन में आई कमी की चर्चा यूल, कैथी, i 83 और वाद के पृष्ठों में हुई है। व्यापार के प्रतिस्पर्धी केंद्र के रूप में वैंटम के वर्णन के लिए देखिए जोर्डाइन 308। अचिन के लिए देखिए परकास I, iii, 123, 157।

दक्षिण अफ्रीका की परिस्थितियों का उल्लेख विभिन्न यात्रियों ने किया है, उदाहरण के लिए देखिए परकास I, iii 149। उससे उत्तर के व्यापार के स्वरूप की चर्चा वारावोसा 233 और पाइराडं, अनुवाद, ii 224 में हुआ है तथा उसका उल्लेख यत्र तत्र डेकाडास में भी मिलता है। लाल सागर के व्यापार के लिए देखिए जोर्डाइन, 77, 103, 353 और परकास I, iii में सर हेनरी मिडलटन और डाउनटन के विवरण। ओरमुज के लिए देखिए परकास ii, x, 1731 में फिच, वारावोसा 260 और लिनशाटेन अं० 6।

अनुच्छेद–4—पूर्वोत्तर मार्ग के संदर्भों के लिए देखिए रो, 97, हे 798, आईन, अनुवाद, II 172, 280, 312, और परकास I, iv, 434। कावुल का वर्णन मांसेरेट 617, में हुआ है, मैनरिक का अनुभव अ० 71 में है। गोइज की यात्रा का विवरण परकास III, ii 311 में और अंग्रेज व्यापारियों की यात्राओं के विवरण परकास I, ix, 519 में है।

अनुच्छेद–5—इस विभाग में यूरोप से संवंधित जिस सामग्री का विवेचन किया गया है उसका अध्ययन कनिंघम, थोरोल्ड रोजर्स, हीथ, एप्सटीन और स्काट में किया जा सकता है। थोरोल्ड रोजर्स (V अ० 17) ने अंग्रेजी पाकविधि के वारे में, जिसमें मसालों की आवश्यकता अनिवार्य थी, वड़े रोचक ढंग से लिखा है, जो पाठक इस विषय की और अधिक जानकारी पाने की इच्छा रखते हों वे 1655, में लंदन से प्रकाशित टामस मफेट की छोटी सी पुस्तक हेल्थ्स इंप्रूवमेंट का अध्ययन करें। जिसका संशोधन परिवर्धन क्रिस्टोफर वेनेट ने किया है। घटनामूलक संदर्भ 'पेस्टन लेटर्स' में यत्र तत्र मिलते हैं।

पुर्तगाली उद्योग के पीछे काम करने वाले मंतव्यों और उनके संचालन का स्पष्ट विवेचन व्हाइटवे ने प्रस्तुत किया है। गोल मिर्च के निर्यात से संवंधित आंकड़े दसवें डिकाडा, II, 121 से लिए गए हैं, गार्सिया दा ओर्टा 367 वताता है कि पुर्तगाल में इसमें से वहुत थोड़े परिमाण की खपत थी, और उसने उसके अंतिम गंतव्य भी वताए हैं। यानी पर्चा का 'हकलुत' की दूसरी जिल्द में दी गई है। अंग्रेजी कंपनियों के एक 'पेटेंट पत्र' के लिए देखिए परकास, i iii, 140 : कानूनों और अध्यादेशों के लिए देखिए स्टीवेंस, 198 और स्वयं परकास के विवरण के लिए देखिए I, iii, 147।

भारत में चांदी के विपुल मात्रा में पहुंचने के वारे में दिए गए उद्धरण परकास I, *iii*, 221 और *II*, ix, 1470 से लिए गए हैं। भारत में अंग्रेजी माल वेचने के प्रयत्नों का अध्ययन लेटर्स रिसीव्ड की प्रारंभिक जिल्दों में किया जा सकता है।

अनुच्छेद–6—व्यापार पर मौसमों के प्रभाव का उल्लेख इस काल के अधिकांश लेखकों नें किया है। यूरोप से आरंभ की गई समुद्री यात्रा पर लंकास्टर के ज्ञापन को इसके उदाहरण के तौर पर देखा जा सकता है (फर्स्ट लेटर वुक 136) पुर्तगाली कैरेकों के यात्रा पथ का विवरण अन्य लेखकों के अलावा पाइराडं ने दिया है। (अनुवाद ii, 196 और आगे)। लाल सागर क्षेत्र के मौसम का वर्णन कई स्थलों पर हुआ है, जैसे दसवें डिकाडा, II 170 में। एस० टामे के जहाज से संवंधित जानकारी परकास, II, x, 1716 से प्राप्त हुई है।

जहाजरानी टन से संवंधित संदर्भ परिशिष्ट 'डी०' में वताए गए हैं। कैरेक के आकार के लिए देखिए लिनशाटेन अं० I, पाइराडं, अनुवाद ii, 180, परकास I, iii, 159। हाजी जहाजों के लिए देखिए मेजर 27, और परकास I, iii, 308, समकालीन

यूरोपीय जहाजों के लिए देखिए ओपनहिम 168–9, परकास I, iii, 8, 147 224, और पाइरार्ड अनुवाद I, 15, जंक के लिए देखिए जोर्डाइन 316 और तुर्की की गैलियों के लिए देखिए दसवा डिकाडा II 170। पुर्तगाली गैलियों की संख्या मैंने दसवें और ग्यारहवें डिकाडास में उल्लिखित रवानगियों को गिनकर निश्चित की है, उनके आकार का उल्लेख पाइरार्ड, अनुवाद ii, 180 और फालकाओ, 205 में हुआ है।

यूरोप जाने वाले कैरकों की संख्या दसवें और ग्यारहवें डेकाडास से ली गई है। पाइरार्ड (अनुवाद ii, 148) में मोजांबिक तथा कुछ अन्य बंदरगाहों के साथ होने वाले व्यापार के राज्य के निमित्त आरक्षित रखे जाने का उल्लेख हुआ है। लाल सागर के लिए देखिए जोर्डाइन, 77, 103, और परकास I, iii, 260 और बाद के पृष्ठ, पेगू के लिए देखिए परकास II, x, 1716 मलक्का के लिए पाइरार्ड अनुवाद ii 173, दसवां डेकाडा, I 212, 214 और बारहवां डेकाडा, 121 अचिन के लिए परकास, I, iii, 153, और बैंटम के लिए जोर्डाइन 316 देखें।

मन का 'डिस्कोर्स आन ट्रेड' परकास, I, v, 734 और आगे। जापान के रास्ते में जहाजों के नष्ट होने की दरें मैफियस के सिलेक्टेड लेटर्स 7 से उद्धृत हैं बाजारों के बहुत छोटे होने के विषय में तो बहुत से लेखकों ने लिखा है, जो उदाहरण दिए गए हैं वे लेटर्स रिसीव्ड ii, 59,84,112, iii 84 से लिए गए हैं।

अनुच्छेद–7—पाइरार्ड अनुवाद ii, 245 और आगे के पृष्ठों में पश्चिमी तट के काफिले का एक संक्षिप्त विवरण दिया गया है। काफिलों का उल्लेख अन्य बहुत से लेखकों ने भी किया है और आवागमन का विशद अध्ययन डेकाडास में किया जा सकता है। क्षतियों के बारे में फिंच के कथन परकास I, iv, 421 में, नेगापट्टम में होने वाले व्यापार के हवाले हाब्सन-जाब्सन (प्रविष्टि जोराफाइन) से लिए गए हैं।

थल यात्रा के लिए अनुकूल मौसमों का उल्लेख लेटर्स रिसीव्ड, I, 298 और टैवर्नियर 24 में हुआ है। मसालों के थल व्यापार का उल्लेख परकास I, iv, 520 में हुआ है। बनजारों का वर्णन टैवर्नियर 26 और आगे दिया गया है और ii मंडी, 95 में भी। गंगा के रास्ते होने वाले व्यापार के लिए जोर्डाइन 162 देखिए, सिंधु के रास्ते होने वाले व्यापार के लिए परकास I, iv, 485 देखिए। बंगाल के निर्यात व्यापार का उल्लेख पिछले अनुच्छेदों में हो चुका है, गुजरात के आयात के लिए देखिए आईन, अनुवाद, ii, 239 और रो, 88 पूर्वी और पश्चिमी घाटों के व्यापार के लिए देखिए डेला वेल 292।

सत्रहवीं सदी के आरंभ में कीमतों की वृद्धि के लिए देखिए रो 480 और पाइरार्ड अनुवाद ii, 203।

अनुच्छेद–8—मुसलमान व्यापारियों की बहुमुखी प्रतिभा का वर्णन पाइरार्ड अनुवाद, i, 447, में हुआ है। विदेशों में स्थित बनियों के लिए देखिए परकास I, iii, 166, 263, चेट्टियों के लिए बारावोसा 373, और लिनशाटेन, अं० 30 देखिए। आरमीनियाइयों और फारसियों के लिए रो, 439 और यहूदियों के लिए परकास I, iii, 232 देखिए। विशेष सुविधाओं के संबंध में रो का कथन पृष्ठ 467 पर है।

व्यापारिक समझौतों के लिए लेटर्स रिसीव्ड, IV 28, और परकास I, IV, 458 देखिए। विनिमय प्रणाली का पूर्णतम विवरण टैवर्नियर 23-25 में दिया गया है, इसका उल्लेख अक्सर लेटर्स रिसीव्ड में, जैसे, I, 25, ii, 228, 266 में हुआ है। भारतीय व्यवसायियों की टैवर्नियर द्वारा की गई सराहना पृष्ठ 18 पर देखी जा सकती है।

संदर्भ :

1. इस काल में इस क्षेत्र के सब से बड़े बंदरगाह कालीकट की महत्ता आज भी कपड़े के अंग्रेजी पर्याय कैलिको में सुरक्षित है। लगभग यह निश्चित है कि यह शब्द कालीकट या अंग्रेजों द्वारा किए गए उच्चारण 'कैलिकट' से ही निकला है। सूती कपड़े कालीकट में कोई ज्यादा नहीं बनते थे। लेकिन इसी बंदरगाह से जहाजों में लाद कर यूरोप को भेजे जाते थे, और इसी से उन्हें वह नाम मिला जिस नाम से वे पश्चिमी दुनिया में प्रसिद्ध हुए।
2. इस काल के जहाजों में नाविकों की जरूरत की इतनी सामग्री नहीं रखी जा सकती थी कि उसके सहारे मलक्का से लाल सागर तक की लंबी यात्रा की जा सकती। जब भारत के तट उनके लिए बंद हो गए तो सिर्फ मालदीव द्वीप समूह ही ऐसा स्थान रह गया, जहां वे अपने लिए भोजन और जल की व्यवस्था कर सकते थे। फलतः इन द्वीपों के आसपास नौचालन में जो खतरे थे उनका सामना उन्हें करना ही था।
3. डच जहाज सर्वप्रथम 1596 में गुडहोप अंतरीप का चक्कर लगाकर आगे बढ़े, लेकिन उनकी प्रारंभिक जल यात्राओं का उद्देश्य मलक्का से पूर्व के द्वीपों तक पहुंचना था, 1609 तक वे कोरोमंडल तट पर एक स्थान में प्रतिष्ठित हो चुके थे। इंग्लैंड की ईस्ट इंडिया कंपनी के पहले बेड़े के जहाज 1602 में सुमात्रा पहुंचे। उनके तीसरे बेड़े का एक जहाज अगस्त, 1608 में एक भारतीय बंदरगाह पर पहुंचा।
4. इसका 'शब्द' स्पष्टीकरण पिछले अध्याय में किया जा चुका है।
5. सिंध नदी के बंदरगाहों के लिए देखिए हाब्सन-जाब्सन में 'दिऊल-सिंध' और 'लैरीबंदर' ये दो इंदराज, और लांगवर्थ डेम्स कृत बारबोसा (i, 105-106) के अनुवाद में टिप्पणियां। इलियट की हिस्ट्री की पहली जिल्द में अरब भूगोल वेत्ताओं से जो उद्धरण अनूदित रूप में दिए गए हैं उनमें देवल का उल्लेख बारबार हुआ है। बारबोसा (पृ० 266) ने 'दिऊल राज्य' के बारे में लिखा है। पुरेहास (I, iii. 238) में सालबैंक ने सिर्फ सिंध का उल्लेख किया है, पेटन (वही I, iv, 495) ने दिऊल का जिक्र किया है, विथिंगटन (वही I, iv, 485) ने लारीबंदर का उल्लेख किया है। वर्तनी के तरह तरह के अंतर के साथ यह नाम अन्यत्र भी आता है।
6. प्रमाण स्रोत में 'फ्रिगेट' शब्द का प्रयोग हुआ है। बाद के काल में अंग्रेजी साहित्य से परिचित लोग इस शब्द से भ्रम में पड़ सकते हैं, क्योंकि बाद में इस शब्द का प्रयोग बड़े युद्ध पोत के अर्थ में होने लगा, जो आकार में सिर्फ बड़े-बड़े व्यापारिक जहाजों से ही छोटा होता था। सत्रहवीं सदी के आरंभ में इस शब्द का प्रयोग हमेशा उसी अर्थ में किया जाता था जो अर्थ पाठ में बतलाया गया है। इसी तरह काफिला का एक गलत अर्थ हंटर के 'द इंडियन इंपायर' (1892 संस्करण) के पृष्ठ 423 पर दिया गया है। उसमें कहा गया है, 'गोआ से कैंबे या सूरत को जाने वाले पुर्तगाली व्यापारियों के एक बेड़े में 140 के या 250 कैरेक (विशाल पुर्तगाली व्यापारिक पोत) होते थे।' इस काल में भारतीय समुद्रों में एक समय में कभी भी दस से अधिक कैरेक नहीं रहे। मुझे किसी भी कैरेक के कैंबे की खाड़ी में प्रवेश करने का कोई उल्लेख नहीं मिला है, और यह लगभग निश्चित है कि यदि किसी कैरेक ने कभी प्रवेश किया होगा तो वहां से निकल नहीं पाया होगा। सर विलियम हंटर संदर्भ की भूल से इस भ्रम में पड़ गए। इस संदर्भ का प्रयोग करते हुए उन्होंने उनकी यथार्थता की पुष्टि करने की कोशिश नहीं की। यही कारण है कि वे 'फ्रिगेट' के स्थान पर कैरेक का प्रयोग कर गए, जिसके फलस्वरूप काफिले की क्षमता वास्तविक क्षमता से चालीस गुनी अधिक बता दी गई।
7. पश्चिमी तट पर स्थित पुर्तगाली केंद्र अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए आसपास के क्षेत्रों में सुलभ वस्तुओं की अपेक्षा तट-व्यापार से प्राप्त होने वाली चीजों पर अधिक निर्भर थे। पाइरार्ड (अनुवाद, ii, 245) ने सूरत तथा कैंबे से प्राप्त होने वाली वस्तुओं की एक लंबी सूची दी है। इसमें खाने पीने की चीजों के अलावा कागज, पलंग, अलमारियां, अफीम और मोम शामिल थे। बंगाल के साथ होने वाला तट व्यापार भी इस क्षेत्र के लिए बहुत महत्वपूर्ण था।
8. बारबोसा (पृ० 281) ने एक स्थान के बारे में लिखते हुए उसका नाम ताना मजंदू बताया है

और कहा है कि यह 'एक बहुत अच्छा प्राकृतिक बंदरगाह' है और यहां काफी व्यापार होता है। लेकिन विशेषणों के प्रयोग में उसने इतनी उदारता से काम लिया है कि 'काफी' शब्द का मतलब कुछ ज्यादा नहीं माना जा सकता। हाब्सन-जाब्सन में इस नाम को थाना-बंबई का वाचक बताया गया है, लेकिन बारबोसा के अनुवाद (i 152, टिप्पणी) में लांगवर्थ डेम्स ने सुझाया है कि इस शब्द समुच्चय के दूसरे हिस्से से शायद माहिम का बोध होता है, जो बंबई के उत्तर में बसा हुआ है।

9. भटकल और बैटकुल के संबंध में अक्सर उलझन हो जाया करती है। भटकल आधुनिक नक्शों में भी दिखलाया जाता है और बैटकुल करवार के निकट भटकल और गोआ के बीच स्थित था। सोलहवीं सदी की अनिश्चित वर्तनी में तरह तरह से लिखे गए इस शब्द का मतलब कब भटकल है और कब बैटकुल, यह तय करना अक्सर कठिन होता है। हाब्सन-जाब्सन में ये दोनों इंदराज देखिए।

10. सेवेल ने (ए फारगाटन इंपायर, पृ० 156-210 में) इस बात पर जोर दिया है कि पुर्तगालियों की शक्ति के ह्रास का एक कारण विजयनगर के व्यापार का पतन था। यदि पुर्तगाली शासन में ईमानदारी और कार्यकुशलता होती तो यह आघात उसके लिए घातक नहीं होता, क्योंकि तब वह ऐसी स्थिति में अपनी व्यापारिक गतिविधियों के लिए दूसरे रास्ते ढूंढ सकता था। लेकिन पुर्तगाली शक्ति ह्रासोन्मुख थी और विजयनगर के पतन ने पुर्तगाली शक्ति के आसन्न विघटन में तेजी ला दी।

11. ढाका से कोई 15 मील पूर्व में सोनारगांव स्थित था। ढाका 1608 में बंगाल की राजधानी था। किसी विदेशी यात्री ने, मेरा ख्याल है, ढाका का उल्लेख नहीं किया है।

12. ध्यातव्य है कि 'इंडीज' को अर्थात इस शब्द के व्यापकतम अर्थों में इससे जिस क्षेत्र का बोध होता है उस क्षेत्र को स्पेन और पुर्तगाल ने आपस में बांट लिया था। विचाराधीन काल में पुर्तगाल कुछ समय के लिए स्पेन के राजा के अधीन हो गया था, किन्तु दोनों राष्ट्रों के व्यापारिक हितों की पृथकता को पूरी तरह से कायम रखा गया, और भारतीय समुद्रों में जो कुछ भी किया जाता था, सब पुर्तगाल के 'राजा' के नाम पर किया जाता था, हालांकि वास्तव में पुर्तगाल के राजा के स्थान पर स्पेन का राजा ही प्रतिष्ठित था। कौटो ने दोनों राष्ट्रों की पारस्परिक प्रतिद्वंद्विता के कई उदाहरण दिए हैं, जैसे कि चीन के बाजार में उनकी होड़ (12 वां डेकाडा, 243)।

13. जोर्डाइन, जो 1609 में मोचा में था, कहता है (पृ० 103) की हाल में यह मंडी जद्दा से उठ कर यहां आ गई है।

14. टेरी का कहना है कि 'आगरे से चीन की दीवार तक' पहुंचने में दो साल से अधिक लग जाता था। (परकास II, ix 1468)।

15. यह स्पष्ट कर देना शायद आवश्यक है कि बाद में इस शब्द का अर्थ बदल गया। विचाराधीन काल में इसका मतलब निर्माण केंद्र नहीं बल्कि ऐसा व्यापार केंद्र था जहां फैक्टर अर्थात गुमाश्ते या एजेंट रखे जाते थे।

16. कहीं कहीं तो बंदरगाहों के बंद रहने का सिलसिला और भी लंबा चलता था, क्योंकि मानसून के कारण बंदरगाहों के प्रवेश मार्ग में रेत के टीले बन जाते थे, और इन अवरोधों के दूर होने में कुछ हफ्ते निकल जाते थे। पाइरार्ड (अनुवाद i, 437) बताता है कि कोचीन में ऐसा ही होता था, लेकिन उसके संपादक ने इस कठिनाई का कारण कुछ और बताया है।

17. 'बेड़े' शब्द का प्रयोग ध्यातव्य है, हमें 'विशाल' 'बड़े' या 'लंबे' जहाजों का उल्लेख अक्सर देखने को मिलता है और इन विशेषणों का आज के संदर्भ में लगाने का प्रलोभन हमें हो सकता है। लेकिन पाठ में बताई गई बातों से स्पष्ट हो गया होगा कि बड़े जहाजों का औसत वजन 200 टन से भी कम हो सकता था लगभग इसी वजन के जहाजों का उल्लेख 'विशाल' जहाजों के रूप में भी हुआ। मुझे लगता है कि इन विशेषणों से क्षमता की भिन्नता के बजाय बनावट के अंतर का ही संकेत मिलता है।

18. इन लेखकों ने जितने जहाज देखे उन सब का आकार नहीं बताया है लेकिन फिर भी बहुत से

'जहाजों के आकार से संबंधित बातें बताई गई हैं। मैं समझता हूं, इन लेखकों ने छोटे जहाजों की बजाय बड़े जहाजों के आकार का उल्लेख करना ही जरूरी माना होगा। इस तरह उन्होंने जिन जहाजों का आकार बताया है उनका औसत कुल जहाजों के औसत आकार से अधिक होगा, बड़े जहाजों के आकार के उल्लेख की प्रवृत्ति हाजी जहाजों के आकार के जिक्र से स्पष्ट है। टेरी जैसे व्यक्ति ने भी, जिसने अधिकतर यात्रा थल-मार्ग से की, लिखा है कि ये जहाज 'अत्यधिक बड़े आकार के होते हैं। मैं समझता हूं, उनमें से कुछ की क्षमता तो चौदह या सोलह सौ टन होती है।'

19. हाब्सन-जाब्सन के लेखकों ने जंक शब्द की परिभाषा (देखिए प्रविष्टि जंक) 'एक बड़े पौर्वात्य जहाज, विशेष कर चीनी जहाज' के रूप में की है। जिस काल के विषय में मैं लिख रहा हूं उससे संबंधित लगभग बीस उदाहरणों की तुलना करने के बाद मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि पाठ में जो परिभाषा दी गई है वह अधिक समीचीन है। यह गार्सिया दा ओर्टा द्वारा दिए गए विवरण (जिसे हाब्सन-जाब्सन में उद्धृत किया गया है) पर आधारित है। गार्सीया दा ओर्टा ऐसे मामलों में बहुत सावधान था, और पूरी संभावना है कि उसने अपने समय के पुर्तगाली नाविकों द्वारा स्वीकृत अर्थ ही यहां दिया है। जिन उद्धरणों का मैंने यहां जिक्र किया है, उन सब में जंक नामक जहाज के मलक्का से पूर्व की ओर से आने का उल्लेख हुआ है। कुछ चीन से आते थे और कुछ जावा तथा उसके निकटवर्ती द्वीपों से। लेकिन इस शब्द का प्रयोग हाब्सन-जाब्सन में दिए गए व्यापकतर अर्थ में भी हुआ है। कैप्टन सैरिस ने इस जहाज का उल्लेख बार बार भारतीय जहाज के रूप से किया है। (परकास I, iv, 348 आदि) और मंडी ने इस शब्द का प्रयोग सूरत के जहाजों के लिए किया है, जिसमें हाजी जहाज भी शामिल हैं, (ii, 30)।

20. इसमें मैं गैली और गैली के सुधरे हुए रूप गैलिअन तथा गैलीज को भी शामिल कर रहा हूं। छोटी गैलियां, जिन्हें गैलिअट कहते थे, शायद तट नौकाओं की श्रेणी में रखी गई हैं।

21. भारत के सांख्यिकी विभाग द्वारा जारी किए गए 'टेबुल्स आफ ट्रेड ऐंड शिपिंग' के अनुसार 1911-14 में ब्रिटिश भारतीय बंदरगाहों से प्रतिवर्ष औसतन 8,154,000 टन माल बाहर भेजा गया। इसमें से बर्मा के बंदरगाहों से भेजे गए माल को घटा दिया गया है और भारत के फ्रांस तथा पुर्तगाल अधिकृत क्षेत्रों से जितना निर्यात हुआ होगा—और जिसके सही आंकड़े मुझे नहीं मिल पाए हैं—उतना जोड़ दिया गया है, और इस तरह मैं पाठ में दिए गए आंकड़ों तक पहुंचा हूं।

22. साक्ष्यों को देखने से मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा हूं कि ये महसूल किसी निश्चित सूची के अनुसार नहीं वसूल किए जाते थे, बल्कि इनके लिए सौदेबाजी होती थी। फिच ने लिखा है (परकास, I, iv, 422) एक हाजी जहाज पर आरंभ में एक लाख महमूदी (40 हजार रुपये) की मांग की गई, लेकिन अंत में 1000 रीअल (2000 रुपये) और कुछ भेंट पर सौदा तय हुआ।

23. अर्थात जिन दिनों यह पुस्तक लिखी गई थी।

24. उनका माल 20,000 मोइयो, अर्थात लगभग 15,000 टन बताया गया है, इसलिए ये नावें बहुत छोटी-छोटी रही होंगी—हरेक की क्षमता औसतन 20 टन से कुछ ही अधिक रही होगी।

25. टैवर्नियर के अनुसार यह भार 300 से 350 लीवर तक होता था जबकि मंडी इसे चार बड़े मन अर्थात उस समय के हिसाब से 220 पौंड बताता है। आजकल सामान्यतया एक बैल पर चार आधुनिक मन, यानी 330 पौंड लादा जाता है।

26. उदाहरण के लिए, फिच बताता है कि जब वह आगरा पहुंचा तो उसने 'कैप्टेन टामस बायज को तीन फ्रांसिसी सिपाहियों, एक डच इंजीनियर और अपने लड़के तथा नौकर के साथ हाल में ही ईसाई संसार से आए वेनिस के एक व्यापारी के साथ देखा' (परकास I, iv, 427)।

27. ये दरें स्पष्ट ही जिस अवधि तक पूंजी फंसी रहती थी उस अवधि के लिए लिया गया शुल्क होती थी और इन्हें आधुनिक बैंकरों द्वारा ली जाने वाली वार्षिक दरें नहीं समझना

चाहिए। टैवर्नियर को कारोबार का अच्छा अनुभव था, और अगर ये वार्षिक दरें होती तो उसने उनका औचित्य सिद्ध करने के लिए कुछ कहना जरूरी नही समझा होता। कुछ वर्ष बाद मंडी (ii, 290) ने पाया कि झालावाड़ और अहमदाबाद के बीच शुल्क की दर 8 से 10 प्रतिशत तक थी।

7
जीवन स्तर

I. विषय-प्रवेश

हमने भारत की आवादी को जिन वर्गो में वांटा था उनमें से प्रत्येक वर्ग के संसाधनों का विवेचन हम कर चुके, और इन संसाधनों का उपयोग किस ढंग से किया जाता था, इससे संवंधित समस्त उपलब्ध जानकारी को सुविन्यस्त रूप में प्रस्तुत करना अव शेष रहता है, दूसरे शब्दों में हमें सोलहवीं सदी के अंत में विद्यमान जीवन स्तर का वर्णन करने की चेष्टा करनी है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस काल के साहित्य में इस विषय में पूर्ण या सुव्यवस्थित विवेचन जैसी कोई चीज नहीं मिलती, क्योंकि जैसा मैं कह चुका हूं, भारतीय लेखक अपने काल की वस्तुस्थिति को, चाहे वह जैसी भी हो, स्वाभाविक या आवश्यक मानकर स्वीकार कर लेते थे, और विदेशी लेखक सिर्फ उन्हीं चंद परिस्थितियों का उल्लेख करके संतोष मान लेते थे जो उन्हें किसी कारण से विशेष आकृष्ट करती थीं। इसलिए जो जानकारी उपलब्ध है वह अपूर्ण और आंशिक है, लेकिन यदि इस जानकारी में यह दोष है तो कुछ गुण भी है और वह है इसका पूर्वग्रहों से रहित होना। जिन प्रेक्षकों के कथनों का हमें सहारा लेना है उनका चिंतन किसी सिद्धांत से परिचालित नही होता था और न उन्हें किसी सिद्धांत को सिद्ध करने की ही फिक्र थी।[1] इस वात की गुंजाइश रखकर चलना होगा कि उनसे कभी कभी भूलें होती होंगी, लेकिन ऐसी शंका करने का कोई कारण नहीं है कि उनके कथन पूर्वग्रह से दूपित हो सकते हैं अथवा उन्हें अपनी किसी पूर्वग्रहीत धारणा का औचित्य सिद्ध करने की चिंता रही होगी और सामान्यतया हम तथ्यों को उसी रूप में स्वीकार कर सकते हैं जिस रूप में वे पेश किए गए हैं यद्यपि कभी कभी उन्हें प्रस्तुत करने वालों द्वारा निकाले गए निष्कर्पो को अस्वीकार करके चलना जरूरी हो सकता है।

इन आंशिक कथनों को एक सुसंवद्ध विवरण प्रस्तुत करने योग्य ढंग से आपस में जोड़ने का काम इस कारण से आसान हो जाता है कि हमारे साधन स्रोत में जो कथन मिलते है उनमें पारस्परिक अंतर्विरोध वहुत विरल है। देश काल के अंतर का खयाल तो रखना ही पड़ेगा, लेकिन समकालीन विवरणों से मन पर जो सव से निश्चित छाप पड़ती है वह यह है कि उनमें तात्विक एकरूपता है। जव भी कोई यात्री क्षण भर के लिए वास्तविकता को अनावृत्त करता है तो हमें जिस चित्र की झांकी मिलती है उसकी मुख्य विशेपताएं हमें परिचित सी जान पड़ती हैं, और जानकारी की जो एक के वाद एक मदें हमारे सामने पेश होती हैं वे, हम जो कुछ पहले ही जान चुके हैं, उसके प्रकाश में सहज ही समझ में आ जाती है। इसलिए हमारे साक्ष्यों के स्वरूप को देखते हुए भारत को एक इकाई मानकर अपनी वात कहने का हमारा प्रयत्न उचित सिद्ध होता है, अलवत्ता, हमें इस वात का ध्यान वरावर रखना होगा कि जो वात समग्र भारत के वारे में कही जाती है, जरूरी नहीं कि वह

आवादी के एक एक व्यक्ति पर लागू होती हो। मुझे इसमें कोई संदेह नहीं कि दरवारों में मितव्ययी और कृपण दरवारी भी होते होंगे, और इक्के दुक्के किसान और कारीगर भी समृद्ध और धनवान भी होते होंगे, लेकिन इससे इस सामान्य तथ्य में कोई अंतर नहीं पड़ता कि अधिकांश दरवारी विलासिता में गर्क थे और जनसाधारण सामान्यतया अत्यंत गरीव; आज की अपेक्षा भी अधिक विपन्न था। इस एकरूपता के पक्ष में जो साक्ष्य मिलते हैं उनकी विश्वसनीयता का सही वोध प्राप्त करने के लिए स्रोत-सामग्री का अध्ययन स्वयं करना आवश्यक है। आगे अनुच्छेदों में मैंने इन साक्ष्यों के स्वरूप का अंदाजा देने के लिए पर्याप्त सुविन्यस्त रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। लेकिन संदर्भ से अलग कर लिए जाने के कारण अनुच्छेदों की शक्ति अनिवार्यत: क्षीण हो गई है। दरअसल इस देश की यात्रा करने वाले सभी समकालीन यात्रियों के यात्रा विवरणों का पूरा अध्ययन करके ही हम इनके प्रत्यक्ष और उससे भी अधिक यत्र तत्र विखरे पड़े प्रासंगिक कथनों के महत्व को समझ सकते हैं। जिस समरूपता का मैंने जिक्र किया है वह आगे के विभागों में अपने आप दिखेगा, लेकिन उसके एक वहुत ही महत्वपूर्ण उदाहरण का उल्लेख यहां किया जा सकता है। जेसुइट मिशनरी मांसेरेट ने 1480 में अकवर के दरवार में आयोजित स्वागत समारोह का विशद विवरण दिया है,[2] अन्य जेसुइट मिशनरियों ने 15 वर्ष वाद सुदूर दक्षिण के हिंदू दरबारों का वर्णन किया है और दोनों विवरणों में से किसी एक की मुख्य वातें दूसरे की मुख्य वातों से पूरा-पूरा मेल खाती हैं।[3] कुछ अंतर अवश्य है, लेकिन उनका कारण अधिकांशत: जलवायु और परिवेश का अंतर है। दक्षिण में हम उत्तर के ऊनी कपड़ों का स्थान सूती कपड़ों को लेते देखते हैं—वैसे ही जैसे गेहूं के आटे के वदले चावल का उपयोग होते पाते हैं। लेकिन इस तरह की छोटी छोटी चीजों का कोई महत्व नहीं है। दरवारी जीवन की मुख्य विशेषताओं की दृष्टि से उत्तर और दक्षिण में जैसी एकरूपता देखने को मिलती है वह चकित करने वाली है। लेकिन छिटपुट उद्धरणों से इस संपूर्ण साक्ष्य की पूरी महत्ता का वोध नहीं हो सकता। उसके ठीक वोध के लिए हमें इन विवरणों को पूरा पूरा पढ़ना चाहिए, और अपने आपको यथासंभव विवरणकार की स्थिति में रखते हुए तथा देश और जनता को उन विवरणकारों की दृष्टि से देखना चाहिए। इसी तरह हम उस परिवेश का पूर्ण और संतोषजनक चित्र पा सकते हैं जिसमें उन्होंने अपने अनुभव प्राप्त किए थे।

जिन परिस्थितियों का मैंने संकेत दिया है उसका एक परिणाम यह है कि हमें समाज के शेष हिस्सों की अपेक्षा उच्चतर वर्गो के वारे में अधिक जानकारी मिलती है। जैसा कि मैं ऊपर कह चुका हूं, हमारे साधन स्रोतों से लेखकों ने उन्हीं वातों को लिपिवद्ध किया जिन्होंने उनको अधिक आकृष्ट किया, और इसमें संदेह नहीं कि दरवारी लोग जैसा जीवन व्यतीत करते थे वह उन्हें बहुत दिलचस्प लगा, लेकिन सामान्य जनों के भोजन, वस्त्र अथवा आवास में उन्हें वैसा कुछ नहीं दीखा जिसका वे रोचक वर्णन करते। लोग लगभग नंगे रहते थे, इतना कह लेने के वाद ऐसे लोगों के कपड़ों के वारे में कहने को रह ही क्या जाता है? और इसी तरह जिस घर में फर्नीचर के नाम पर सिर्फ एक-दो खाटें और खाने पीने के कुछ वरतन भांड़े हों उस घर के फर्नीचर का क्या वर्णन किया जा सकता है? कुछ लेखकों ने तो सामान्य जन को अपने विवरण में कोई स्थान ही नहीं दिया है। उदाहरण के लिए कांटी को ले सकते हैं, जो कहता है कि देश के निवासी 'सोने से जड़े पर्यकों पर रेशमी गद्दों पर सोते हैं।' यह ऐसा कथन है कि जिसकी मर्यादाएं स्वत: स्पष्ट हैं। लेकिन कुछ अन्य

लेखकों के मामले में बात इतनी स्पष्ट नहीं है, और इनके संबंध में विशेष सावधानी बरतने पर ही हम यह निश्चित कर सकते हैं कि किसी कथन विशेष का संबंध सामान्यतः सभी लोगों से है, अथवा किसी छोटे से ऐसे वर्ग के लोगों से जिसमें लेखक की विशेष रुचि थी। यह मूल सामग्री स्रोतों के अध्ययन का एक अतिरिक्त कारण है, और यहां हम इस बात को एक बार दोहरा देना अनुचित न होगा कि आगे जो अनुच्छेद दिए गए हैं उनमें उपलब्ध साक्ष्यों का पूर्ण विवरण नहीं बल्कि उन साक्ष्यों के सामान्य स्वरूप के संकेत का प्रयत्न भर किया गया है।

II. उच्चतर वर्ग

उच्चतर वर्गों की आर्थिक स्थिति का वर्णन बहुत थोड़े से शब्दों में किया जा सकता है। जैसा कि हमने तीसरे अध्याय में देखा, उनकी आय उन्हें आमतौर पर पैसे के रूप में प्राप्त होती थी, या कम से कम इस रूप में कूती जाती थी। और जब हम उस काल में आवश्यकता और उचित सुविधा की वस्तुओं की कीमतों का विचार करते हैं तो पाते हैं कि उनकी आय सचमुच बहुत अधिक थी। इस तरह अभिजात वर्ग के लोगों के पास विनियोग के लिए अथवा विलासिता पर व्यय करने के लिए काफी अतिरिक्त धन रहता था। लेकिन सच्चे अर्थों में विनियोग के प्रसंग बहुत विरल थे। जिन तरीकों से आज हम परिचित हैं वे तब देखने तक को नहीं मिलते थे। राजकीय ऋण खुलेआम बाजारों में जारी नहीं किए जाते थे। स्टाकों और शेयरों का कोई अस्तित्व नहीं था, और जमीन पर किसी का कब्जा शासक की मर्जी पर निर्भर था, तथा सिवाय घर बनाने या बगीचे लगाने के और किसी प्रयोजन से वह खरीदी नहीं जा सकती थी। यह संभव है कि पैसा व्यापारियों के यहां जमा किया जाता रहा हो, लेकिन मुझे ऐसे चलन का कहीं कोई प्रमाण नहीं मिला है। जो भी हो, आधुनिक भारत में जिस तरह बैंकों में पैसा जमा किया जाता है उस तरह व्यापारियों के यहां तो नहीं जमा करवाया जाता होगा। शायद कुछ दरबारी स्वयं व्यापारिक उद्यमों में हाथ डालते थे। हम जानते हैं कि अकबर के परिवार के सदस्यों ने ऐसा किया था, और यह मानना असंगत नहीं होगा कि अन्य दरबारियों ने भी उनका अनुकरण किया होगा।[4]

व्यापार से भिन्न, उद्योग में—जैसा कि हम देख चुके हैं—पूंजी के विनियोग की लगभग कोई गुंजाइश नहीं थी, और व्यापार जोखिम का काम था, जिसमें साधारण लोगों के सफल होने की संभावना उनकी अपेक्षा बहुत कम थी जो अपना सारा ध्यान उसी में लगाते थे। शायद कुछ दरबारी और अधिकारी इस ओर आकृष्ट हुए, लेकिन आमतौर पर जो पैसा तुरंत खर्च नहीं किया जाता था वह बाद में खर्च करने के लिए नकद या जेवरों के रूप में रख लिया जाता था, या शायद इस आशा में रख छोड़ा जाता था कि उसके मालिक की मृत्यु पर उस संचित राशि को अधिकारियों की नजर से छिपाए रखा जा सकेगा।[5]

लेकिन इस काल की सबसे प्रमुख विशेषता धन-संचय नहीं, बल्कि उसका व्यय थी। सम्राट और राजा वैभव विलास का जो उदाहरण प्रस्तुत करते थे, उसका अनुकरण उनके दरबारी और राजकर्मचारी करते थे, और इसके लिए देश के शक्ति साधनों का उपयोग तो होता ही था, लेकिन ये लोग विदेशों से आयात की गई नई-नई चीजों को ज्यादा पसंद करते थे। सच तो यह है कि सरकारी तौर पर विदेशी व्यापारियों को जो प्रोत्साहन दिया गया उसका कारण बहुत हद तक यही था कि ये व्यापारी दरबारियों और राज्याधिकारियों की इस तरह की अजस्र मांग को पूरा कर सकते थे। स्वाभाविक था

कि खाने की चीजों के मामले में विदेशी वस्तुओं के प्रति इस मोह की सब से कम गुंजाइश थी। अधिकांश खाद्य पदार्थ देश के ही अन्न और मांस से तैयार किए जाते थे। खाद्य पदार्थों के संबंध में विदेशी वस्तुओं के प्रति उनकी विशेष रुचि का परिचय मसालों के भरपूर उपयोग (जिसकी चर्चा हम पिछले अध्याय में कर चुके हैं।) बर्फ तथा ताजे फलों जैसी सहायक खाद्य सामग्री मंगवाने की व्यवस्था में मिलता है। बर्फ की जरूरत पूरी करने के लिए क्या इंतजाम था, यह अबुल फजल ने तफसीलवार बताया है और यह जानकारी दी है कि जहां आम लोग सिर्फ गर्मी के दिनों में बर्फ का इस्तेमाल करते थे, दरबारी और अमीर उमरा बारहों महीने करते थे। उस समय के सेर से एक सेर बर्फ के लिए 20 दाम तक देने पड़ सकते थे, लेकिन सामान्य कीमत दस दाम के आस-पास थी, यदि क्रय-शक्ति में हुए परिवर्तन को ध्यान में रखकर सोचें तो एक पौंड बर्फ की कीमत एक रुपये से अधिक थी, और इस तरह यह निश्चय ही विलास-सामग्री की श्रेणी में रखी जाने लायक चीज थी। लगता है, मुगल लोग फलों के विशेष प्रेमी थे। बाबर ने भारतीय फलों के बारे में पारखी व्यक्ति की तरह लिखा है। अकबर ने अपनी गृहस्थी के इस विभाग की व्यवस्था में बहुत उदारता से काम लिया, और जहांगीर ने तो अपने संस्मरणों में फलों की जरूरत पूरी करने की अपनी उत्तम व्यवस्था पर बार बार हर्ष प्रकट किया है। जहां तक विदेशी फलों को देश में पैदा करने का संबंध है, निस्संदेह अकबर का, प्रयत्न संपूर्ण देश के लिए लाभदायक सिद्ध हुआ, लेकिन बुखारिस्तान और समरकंद जैसे सुदूर स्थानों से मुख्यतः अपने उपयोग के लिए फलों के आयात की व्यवस्था को विलासिता की कोटि में ही रखा जायेगा। बुखारिस्तान से मंगवाए एक खरबूजे की कीमत लगभग ढाई पौंड बैठती थी। लेकिन भोजन पर होने वाला खर्च अगर बढ़ा था तो इसलिए नहीं कि इस तरह की सहायक खाद्य सामग्री का उपयोग होता था या वह बहुत पौष्टिक होता था, बल्कि इसलिए कि उसमें बहुत अधिक प्रकार के व्यंजन शामिल रहते थे। कहते हैं, स्वयं अकबर भोजन किस कोटि का है, इसकी बहुत कम परवाह करता था, लेकिन उसके रसोईघर में सभी देशों के रसोइये, प्रति दिन ऐसे ऐसे व्यंजन तैयार करते थे जो अमीर उमरा के बूते से बाहर की चीज थे। परोसे गए भोजन के प्रकार बहुत अधिक होते थे और हर प्रकार में शामिल व्यंजन तो उससे भी ज्यादा होते थे। यदि हम सर टामस रो को दिए आसफ खां के भोज का टेरी द्वारा किए गए उस वर्णन की तुलना, जिसे अक्सर उद्धृत किया जाता है, अबुल फजल द्वारा पेश किए गए अकबर के दस्तरखान के विवरण से करें तो हमें इस बात का काफी सही अंदाजा मिल सकता है कि उस काल के बड़े बड़े लोगों के यहां खाने-पीने की कैसी कैसी चीजें जुटाई जाती थीं और भोजन पर किस तरह मुक्तहस्त होकर व्यय किया जाता था। मैं समझता हूं ऐसा अनुमान लगाना अनुचित नहीं होगा कि अपेक्षाकृत कम साधन-संपन्न दरबारी भी अपनी सामर्थ्य भर इन बड़े लोगों का अनुकरण करने की कोशिश करते थे।

ये लोग अपनी पोशाक पर भी इसी तरह खर्च करते थे। न केवल यह कि इनके पास बहुत सी पोशाकें होती थीं, बल्कि उन पोशाकों में लगाई गई सामग्री भी अत्यधिक मूल्यवान होती थी। अगर अबुल फजल की बात सच हो तो अकबर भोजन की अपेक्षा वस्त्र में बहुत अधिक दिलचस्पी लेता था। उसने न केवल कई पोशाकों के नाम बदल दिए, बल्कि उनकी सिलाई और उनमें प्रयुक्त सामग्री में भी बहुत से परिवर्तन किए। उसका वस्त्रागार इतना बड़ा था कि उसके वर्गीकरण की एक विस्तृत प्रणाली आवश्यक हो गई थी। लेकिन जब हमें यह जानकारी मिलती है कि उसके लिए प्रतिवर्ष 1,000 पूरे

जोड़े वनवाए जाते थे तो हमें इस वात के लिए भी गुंजाइश रख कर चलना होगा कि दरवार में ग्राने वाले लोगों को पुरस्कार या प्रतिष्ठा के प्रतीक स्वरूप शायद पोशाकें देने की भी चलन थी। ग्रवुल फजल हर साल ग्रपने वस्त्रागार के सभी कपड़े ग्रपने नौकर चाकरों में वांट दिया करता था ग्रौर तरह तरह के प्रासंगिक उल्लेखों से ज्ञात होता है कि पोशाकों का विपुल भंडार रखना दरवारी जीवन की एक सामान्य विशेषता थी। जैसा कि ग्राईन-ए-ग्रकवरी में दी गई सूची से प्रकट होता है, पोशाक वनाने में प्रयुक्त सामग्री ग्रनेक प्रकार की होती थी। ग्राईन, की सूची में ग्रायात की गई सामग्री को एक प्रमुख स्थान दिया गया है। सूती कपड़ा 150 रुपए तक प्रति थान के हिसाव से खरीदा जा सकता था। ऊनी कपड़ा प्रति थान 250 रुपए तक ग्रौर रेशमी 300 रुपए तक में प्राप्त किया जा सकता था। वेलवूटेदार मखमल ग्रौर किमखाव के लिए 700 रुपए प्रति थान तक देने पड़ सकते थे ग्रौर एक उदाहरण तो ऐसा है जव 15000 रुपए देने पड़े। ग्रवुल फजल के ग्रनुसार एक थान में इतना कपड़ा होता था कि उससे एक पूरी पोशाक वन जाय, ग्रौर इसके ग्राधार पर हम इस वात का एक सामान्य ग्रनुमान लगा सकते हैं कि दरवार में लोगों के ध्यान ग्राकर्षित कर सकें, इसके लिए दरवारी ग्रपने वस्त्रागार को भरा पूरा रखने के निमित्त कितना ग्रधिक खर्च करता होगा। जहां तक ग्राभूपणों का संवंध है, कोई तफसीलवार विवरण देने की ग्रावश्यकता नहीं है। ग्राभूपण भारी मात्रा में पहने जाते थे। ये लोग कीमती पत्थरों की तलाश में रहते थे ग्रौर उन पर कितना खर्च होता है, यह ऐसे पत्थरों की सुलभता पर निर्भर था।

मैं ऐसा मानना चाहूंगा कि ग्राभूपणों को छोड़कर दरवारी ग्रपनी गृहस्थी की किसी भी मद पर उतना खर्च नहीं करता था जितना ग्रपने ग्रस्तवल पर। प्रतिष्ठा ग्रौर वैभव की स्थिति कायम रखने के लिए काफी वड़ी संख्या में हाथी-घोड़े रखना ग्रावश्यक था ग्रौर इन जानवरों की साज सज्जा पर खर्च की ग्रपरिमित संभावना थी। हाथियों की कीमतें कितनी भी हो सकती थीं। ग्रवुल फजल के ग्रनुसार 100 से लेकर एक लाख तक के हाथी हो सकते थे। श्री मंतो के लिए उपयुक्त घोड़ों की कीमत 200 से 1000 जान पड़ती है।[6] ग्रगर हम चारे ग्रौर दाने के सस्ते होने का ख्याल रखें तो भी कीमती जानवरों से भरे वड़े वड़े ग्रस्तवल के रख-रखाव का खर्च वहुत वैठता होगा। जहां तक साज-सज्जा का संवंध है, ग्रांख मूंद कर ग्रवुल फजल के इस कथन को स्वीकार कर लेना चाहिए—कि उसका वर्णन नहीं किया जा सकता, यद्यपि यहां हम इस वात को ध्यान में रख सकते हैं कि हाथी को वांधने की जंजीर लोहे, चांदी या सोने में से किसी भी धातु की हो सकती थी।[7] सच तो यह है कि इस मद में किए जाने वाले खर्च की कोई सीमा नहीं थी। शिकार ग्रौर जुग्रा, जो ग्राज की ही तरह उन दिनों भी साथ-साथ चलते थे, मनोरंजन के व्ययसाध्य साधन थे, ग्रौर कम से कम ग्रकवर के ग्रधीन प्रमुख दरवारियों लिए इनमें शरीक होना ग्रावश्यक था। दांव पर लगाई जाने वाली रकमों पर कभी-कभी मर्यादा लगी हुई होती थी, लेकिन जव यह रिवाज प्रचलित था तो इस तरह की मर्यादाएं कितनी कारगर होती होंगी, इसका ग्रनुमान तो सहज ही लगाया जा सकता है।

मैं समझता हूं, जहां तक दरवारियों का संवंध है, ग्रावास व्यवस्था खर्च की महत्वपूर्ण मद नहीं थी, क्योंकि दरवार का स्थान वदलता रहता था, ग्रौर जो लोग दरवार में रहते थे, जान पड़ता है, वड़े-वड़े शिविर उनके घरों का काम करते थे। इन शिविरों में तड़क-भड़क पर पैसा खर्च करने की संभावनाएं प्रायः ग्रसीम थीं, क्योंकि तंवुग्रों की संख्या ग्राकार ग्रौर सजावट सिर्फ इस वात पर निर्भर थी कि किसी दरवारी में प्रदर्शन की कितनी

आकांक्षा है। शाही शिविर उनके सामने बहुत ऊंचा स्तर पेश करता था। अबुल फजल ने मखमल और किमखाब की सजावट और कैनवस के पर्दों को बांधने के लिए रेशमी डोरियों का उल्लेख किया है, और हम बेझिझक ऐसा मान सकते हैं कि आधुनिक भारत में शिविर शब्द से जिस प्रकार के अस्थाई आवास का बोध होता है, किसी भी प्रमुख दरबारी का शिविर उसकी अपेक्षा बहुत अधिक प्रभावोत्पादक दृश्य प्रस्तुत करता था। फर्नीचर के संबंध में आज की जैसी विविधता नहीं थी, क्योंकि मेजों, कुर्सियों और पलंगों का सामान्य उपयोग नहीं होता था। किंतु गलीचों, चारपाइयों और आईनों का प्रयोग खूब होता था, और उन पर कोई अपनी सामर्थ्य के अनुसार चाहे जितना खर्च कर सकता था।

रहन-सहन का तौर तरीका ऐसा था जिसके लिए बहुत से घरेलू नौकरों की जरूरत होती थी, और जैसा कि मैं पिछले एक अध्याय में कह चुका हूं, इतने सारे लोगों को इस तरह से रोजगार में लगाया जाना इस काल की एक महत्वपूर्ण आर्थिक विशेषता है। यदि एक दरबारी की गृहस्थी लगभग उतनी ही विस्तृत रही हो जितनी विस्तृत गृहस्थी का संकेत अबुल फजल ने दिया है तो मानना होगा कि उसे प्राय: सौ सेवकों की जरूरत होती होगी—हर हाथी के लिए चार, हर घोड़े के लिए दो-तीन, रसोई घर के लिए पूरी एक मंडली, तंबू उखाड़ने गाड़ने के लिए दो भीड़ (एक सामने के तंबू के लिए और दूसरा पीछे के तंबू के लिए), पर्याप्त सामान ढोने वाले, मशालचियों का समूह तथा किसी प्रतिष्ठित गृहस्थी के लिए आवश्यक अन्य चाकर टहलुए। यद्यपि गुलाम बड़े सस्ते थे और मजदूरी इतनी कम थी कि तब एक रुपए में उतना ही श्रम खरीदा जा सकता था जितना आज सात रुपये में खरीदा जा सकता है, फिर भी कुल खर्च अवश्य ही बहुत अधिक बैठता होगा और नौकर-चाकरों की यह भीड़ सिर्फ मुगल दरबार की ही विशेषता नहीं थी, बल्कि यह चीज देश के लगभग सभी हर हिस्से में देखी जा सकती थी। चाहे कोई यात्री पश्चिमी तट का वर्णन कर रहा हो या वह दकन के किसी दरबार का विवरण दे रहा हो, अथवा कोई जेसुइट मिशनरी विजयनगर के किसी सरदार के परिवेश के बारे में बता रहा हो या कोई राजदूत गोआ के दरबार में अपना अनुभव सुना रहा हो, हर मामले में हमारे सामने एक ही तरह की तसवीर उभरती है, और ध्यातव्य है कि अन्य बातों की तरह इसके संबंध में भी गोआ के पुर्तगालियों ने देश की परिपाटी का अनुकरण किया, और कोई भी 'रुतबेदार आदमी' सेवकों, परिचरों और अफ्रीकी गुलामों के एक पूरे जुलूस के बिना सड़क पर निकल जाये, यह नहीं हो सकता था।

अब तक जितना देख चुके हैं उससे अपने संपूर्ण पर्यवेक्षणों के आधार पर निकाले गए लाएट के इस निष्कर्ष का औचित्य शायद काफी हद तक सिद्ध हो जाता है कि दरबारियों की विलासिता का वर्णन करना कठिन है, क्योंकि उनके जीवन का एकमात्र उद्देश्य यही प्रतीत होता है कि हर प्रकार के सुख और आनंद का उपभोग चरम सीमा तक करो। लाएट की इस राय की तुलना हम रो के इस सूत्र वाक्य से कर सकते हैं: 'उनका जीवन उद्दाम विलासवृत्ति और प्रचुर संपत्ति के विचित्र सम्मिश्रण के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।' खर्च की एक मद का उल्लेख करना अभी शेष है। मेरा तात्पर्य सम्राट और प्रभावशाली व्यक्तियों को दी जाने वाली भेंटों से है। दरअसल यह उस समय की तहजीब का एक तकाजा बन गया था, और भेंट कितनी बड़ी है, यह सिर्फ इस बात पर निर्भर करता था कि भेंट

देने वाले की आकांक्षाएं कितनी ऊंची हैं। इस चलन को चोरी छिपे दी जाने वाली रिश्वत से अलग मानना चाहिए। भेंटें खुलेआम, बल्कि दिखावे के भाग से दी जाती थीं और वे प्रतिष्ठित प्रणाली का एक अंग थीं। अपने से बड़े आदमी के पास कोई भी खाली हाथ नहीं जा सकता था, और जिस प्रकार पिछली सदी के पूर्व तक सरकारी ओहदे पाने के लिए नजर की गई रकमों को अंग्रेज एक तरह का विनियोग मानते थे उसी प्रकार इस काल में तरक्की पाने के लिए दी गई भेंटें लगभग एक प्रकार का विनियोग समझी जा सकती हैं। भारतीय दरबारों के वातावरण में, जहां दरबारी की हैसियत और धन की प्राप्ति ही सब कुछ मानी जाती थी, भेंट-नजर की प्रथा ने ऐसा रूप ग्रहण कर लिया, जो उसके आज के अवशेषों से सर्वथा भिन्न था। नियुक्ति या तरक्की के लिए बहुत जोरों की होड़ मची रहती थी। दरबारी जीवन के वैभव के उपभोग के अवसर के रूप में उसी के पुरस्कृत किए जाने की संभावना रहती थी जिसकी भेंट सबसे अधिक स्वीकार करने योग्य होती थी। इसके परिणाम जहांगीर के तुजुक में देखे जा सकते हैं, जिसमें विशुद्ध आर्थिक दृष्टिकोण से एक के बाद एक बहुत से प्रत्याशियों की भेंटों का वर्णन और सराहना की गई है। संभव है, ज्यों ज्यों समय बीतता गया, यह प्रणाली अधिकाधिक भारी होती गई, और शायद जहांगीर को दी गई भेंटें अकबर को मिलने वाली भेंटों से अधिक कीमती होती रही हों, लेकिन इसमें संदेह नहीं कि यह चलन अकबर के शासन काल में भी था और जेसुइट मिशनरियों के विवरणों को देखने से साफ जाहिर हो जाता है कि सम्राट और उसी तरह दक्षिण के उसके समकालीन शासक किस आतुरता से भेंटें स्वीकार किया करते थे।

इस सब का स्वाभाविक परिणाम निश्चय ही दरबारियों की विपन्नता के रूप में सामने आया होगा और बर्नियर के साक्ष्य से प्रकट होता है कि सम्राट और उसी तरह दक्षिण के उसके समकालीन शासक किस आतुरता से भेंटें स्वीकार किया करते थे।

इस सब का स्वाभाविक परिणाम निश्चय ही दरबारियों की विपन्नता के रूप में सामने आया होगा और बर्नियर के साक्ष्य से प्रकट होता है कि सचमुच परिणाम यही हुआ। उसने लिखा है : 'मेरी मुलाकात बहुत कम धनाढ्य उमरों से हुई। उनमें से अधिकांश भारी कर्ज में हैं, ... बादशाह को दी गई कीमती भेंटों और अपनी विशाल गृहस्थी के कारण वे बर्बाद हो गए हैं।' अभिजात वर्ग की आर्थिक बर्बादी अपने आप में कोई बड़ी चीज नहीं थी, लेकिन जनसाधारण की आर्थिक स्थिति पर इसका जो प्रभाव पड़ा वह बहुत महत्वपूर्ण था। सूबेदारों और अन्य अधिकारियों को व्यवहारतः व्यापक सत्ता प्राप्त थी और जब उनके साधन चुकने लगे तो उसकी मार पड़ी किसानों और कारीगरों पर, और फलतः कोई कारण नहीं कि बर्नियर ने शाहजहां के शासन के अंतिम दिनों में जनसाधारण के दुःख दैन्य के जो चित्र प्रस्तुत किए हैं उनमें निहित बुनियादी सत्य में संदेह किया जाए। दरबारियों की विपन्नता एक सुदीर्घ प्रक्रिया का परिणाम थी, और यह माना जा सकता है कि साधारण लोगों की अवस्था में भी गिरावट क्रमशः आई, और वे अकबर के शासन काल में कुछ बेहतर स्थिति में थे, लेकिन उसके प्रशासन के आर्थिक प्रभावों का मूल्यांकन करते हुए हमें यह स्वीकार करना होगा कि उसने जनता की अवस्था को बिगाड़ने वाली प्रवृत्तियों को प्रश्रय दिया।

लेकिन ऐसा नहीं मानना चाहिए कि भारतीय दरबारों में हर व्यक्ति अपनी सामर्थ्य से बाहर खर्च करता था। बहुत से लोग ऐसा करते थे और मैं समझता हूं ऐसे लोगों की विशाल बहुसंख्या थी। लेकिन कुछ मितव्ययी लोग भी थे जो काफी बड़ी संपत्ति अर्जित कर लेते थे। इस संचित धन का क्या किया जाता था, इसके संबंध में दो शब्द कहना आवश्यक है। भारत में तो जिस हद तक इस धन का पता चल जाता था, उस हद तक यह मालिक की मृत्यु के बाद फिर शाही खजाने में पहुंच जाता था। किंतु यह बात किसी को पसंद नहीं थी, इसलिए जिसके पास धन होता था वह अपने जीवन काल में ही उसे ठिकाने लगा देने की कोशिश करता था। इसका एक तरीका तो भारी दहेज देना था। उदाहरण के लिए, राजा भगवान दास ने अपनी पुत्री को विशाल दहेज दिया था। बदायूंनी के अनुसार इसमें, 'घोड़ों की लंबी कतारें, एक सौ हाथी, अबिसीनिया, भारत और सिरेकासिया के गुलाम लड़की-लड़के, जवाहरातों से जड़े तरह तरह के स्वर्णपात्र, सोने की थालियां और चांदी के बर्तन, और तरह तरह की वस्तुएं शामिल थीं, जिनकी मात्रा का अनुमान लगाना असंभव है।' धन को निबटाने का दूसरा उपाय बड़ी-बड़ी इमारतें बनवाना था, और जैसा कि भारत की धरती का अवलोकन करने से स्पष्ट है, उस समय व्यावहारिक उपयोगिता की इमारतों के बजाय मकबरे और स्मारक बनवाने का चलन अधिक था।[8] कभी कभी लेकिन बहुत कम ही, किसी दरबारी को भारत छोड़ कर अपने मूल देश फारस या अन्यत्र जाने या हज के लिए अरब जाने की अनुमति दी जा सकती थी और तब साथ में उसे अपने संचित धन का कम से कम एक हिस्सा ले जाने की इजाजत मिलती थी। लेकिन इस तरह अनुमति शायद तभी दी जाती थी जब राजनीतिक कारणों से वांछनीय समझा जाता था, अन्यथा पैसे को देश से बाहर ले जाने की प्रवृत्ति पर कठोरता से अंकुश रखा जाता था। इस तरह संचित की गई भारी संपत्ति सिर्फ एक बोझ साबित हो सकती थी, और जहां कुछ लोग अंत में राज्य के लाभ के लिए ही धन-संग्रह करने में संतोष मान सकते थे, वहीं अधिकांश लोग अपना धन प्राप्त होते ही खर्च कर देते थे और उसी ढंग से खर्च करते थे जिसका वर्णन मैंने किया है।

III. मध्यवित्त वर्ग

अकबर के काल में सामाजिक श्रेणी-विन्यास में जो लोग मध्यवित्त के ऊपर या नीचे के वर्गों में आते थे उनके बारे में हमें जितनी जानकारी प्राप्त है उतनी स्वयं मध्यवित्त के विषय में उपलब्ध नहीं है। उनकी संख्या निश्चय ही बहुत छोटी थी, और उनके संबंध में हमारे प्रमाण-स्रोतों के मौन से हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि उनके जीवन में कम से कम कोई तड़क-भड़क तो नहीं ही थी। जैसा कि हम देख चुके हैं, पेशेवर लोग दरबार के अतिरिक्त अन्यत्र शायद ही मिल सकते थे, क्योंकि दरबार में वे कोई सरकारी दर्जा हासिल कर लेने की उम्मीद रख सकते थे। ऐसे जो लोग दरबार में थे वे न्यूनाधिक प्रचलित स्तर से ही जीवन व्यतीत करते थे। विभिन्न प्रशासनिक केंद्रों में छोटे छोटे अमले काफी बड़ी संख्या में रहे होंगे, लेकिन उनकी कोई झांकी कहीं शायद ही मिलती हो, और उस समय के वेतनमानों के बारे में कोई जानकारी सुलभ न रहने के कारण इस बात का अनुमान लगाना भी असंभव है कि आवश्यकता और उचित ढंग की सुविधा की वस्तुओं के सस्तेपन से वे

कहां तक लाभ उठा पाते होंगे। उस काल के ऐतिहासिक वृतांतों को—जिन्हें शायद इसी वर्ग के लोगों ने लिखा—पढ़ते हुए कभी कभी हम लक्ष्य करते हैं कि लेखकों का आर्थिक दृष्टिकोण ऐसे व्यक्तियों का दृष्टिकोण है जिन्होंने जीवन को बहुत कठिन पाया है। वे उन अवस्थाओं का कोई विशद विश्लेषण प्रस्तुत नहीं करते, लेकिन किसी राजवंश या किसी काल की विशेषताओं का वर्णन करते हुए वे खाद्य सामग्री की कीमतों की चर्चा ऐसे विस्तार से करते हैं जिससे लगता है कि यह विषय अत्यधिक महत्व रखता था। ऐसे अनुच्छेदों से मुझे लगता है कि शिक्षित वर्गों के लोग, जिनमें ये वृत्तलेखक भी थे, उन दिनों भी शायद वहुत-कुछ उसी आर्थिक अवस्था में थे जिसमें आज हैं, और अकबर काल के लिपिकों के लिए कीमतों के सवाल की अहमियत शायद कुछ कुछ वैसी ही थी जैसी कि आज के लिपिकों के लिए है, लेकिन जब तक इस प्रश्न पर सीधा प्रकाश डालने वाले अधिक साक्ष्य उपलब्ध नहीं होते तब तक कोई निश्चत निष्कर्ष निकालना उचित नहीं होगा।

इस काल में व्यापारियों के बारे में हमें इससे कुछ, लेकिन कुछ ही, अधिक जानकारी उपलब्ध है। हम देख चुके हैं कि उनकी आर्थिक स्थिति में शायद बहुत अंतर रहा होगा, और जहां उनके बीच कुछ बड़े संपन्न लोग थे वहीं उनकी औसत आय शायद बहुत बड़ी नहीं थी।[9] लेकिन अगर वे धनाढ्य थे तो उनके खर्च के संभावित रास्ते बहुत सीमित थे, क्योंकि तड़क-भड़क दरबारियों के लिए जितना वांछनीय था, इनके लिए उतना ही खतरनाक था। टेरी ने लिखा कि 'नगरों और कस्बों में ऐसे बहुत लोग हैं जो व्यापार और व्यवसाय करते हैं और बहुत धनी है, लेकिन उनके लिए यह निरापद नहीं है कि वे धनी दिखें भी, क्योंकि उस हालत में उन्हें स्पंज की तरह निचोड़ जाने लगेगा।' बर्नियर ने लिखा, 'धनी लोग अकिंचन दिखने का प्रयत्न करते हैं,' और यह भी कि 'लाभ चाहे जितना अधिक हो, उसे अर्जित करने वाले व्यक्ति को तो अकिंचनता का मुखौटा ही लगाए रहना है।' जहां तक देश के भीतरी हिस्सों का संबंध है, ये कथन शायद सामान्य रूप से सब पर लागू किए जा सकते हैं, और उनसे हमें इस बात को समझने में मदद मिलती है कि आज भी क्यों बहुत से व्यापारिक वर्गों के लोग मितव्ययिता बल्कि कृपणता से रहते हैं। किंतु पश्चिमी तट पर कारोबार करने वाले कुछ व्यापारियों को अपवाद मानना चाहिए। कालीकट में बसे मुसलमानों के बारे में बारबोसा का कहना है कि वे बहुत अच्छी पोशाकें पहनते थे, उनके घर बड़े बड़े थे और उनके पास बहुत से नौकर चाकर थे, और खाने पीने और सोने में उनकी आदतें बहुत विलासितापूर्ण थीं, हालांकि वह यह भी बताता है कि पुर्तगालियों के आगमन के बाद से उनकी स्थिति में काफी गिरावट आ गई थी। इसी लेखक का कहना है कि रांदेर में रहने वाले मुसलमान भी अच्छे वस्त्र धारण करते थे, उनके पास अच्छे घर थे और उन घरों को वे अच्छे ढंग से सज्जित रखते थे। एक सदी बाद डेला वेल सूरत के जीवन की स्वच्छंदता का उल्लेख करते हुए लिखता है कि उसे बताया गया कि वहां शान शौकत से रहने या अपने धन का प्रदर्शन करने में कोई खतरा नहीं था। उसने देखा कि आमतौर पर सभी एक सभ्य तरीके से रहते हैं। यहां 'सभ्य तरीके' का अर्थ इस बात को ध्यान में रखकर लगाना चाहिए कि स्वयं डेला वेल बहुत ही सभ्य सुसंस्कृत और सुरुचिपूर्ण व्यक्ति था। तटवर्ती क्षेत्रों की स्थिति अपवाद रूप थी, इसका कारण शायद यह था कि मुसलमान व्यापारियों

को विशेष सुविधाजनक स्थिति प्राप्त थी, क्योंकि उनकी वदौलत चुंगी के रूप में सरकार को बराबर राजस्व प्राप्त होता था और वे राजपुरुषों की प्रिय दुर्लभ वस्तुएं जुटाते रहते थे। चूंकि उन्हें ठीक ढंग से रहने की स्वतंत्रता थी, इसलिए वे अपनी रुचि के अनुसार आचरण करते थे, किंतु देश के भीतरी भागों के व्यापारी स्वतंत्रता की इस स्थिति से वंचित थे, और इसलिए परिस्थिति के तकाजे के मुताबिक वहुत शांत और सादा जीवन व्यतीत करते थे।

IV. निम्न वर्गों की आर्थिक स्थिति

अब हमें जनसाधारण, अर्थात किसानों, कारीगरों और मजदूरों के जीवन पर विचार करना चाहिए, उनके रहन सहन के तौर तरीकों के पूर्ण समकालीन विवरण जैसी किसी चीज की कोई जानकारी मुझे नहीं है। हमें जो कुछ प्राप्त है वह सिर्फ विदेशी पर्यवेक्षकों द्वारा दी गई उनके जीवन की झांकियों की एक शृंखला है। इन पर्यवेक्षकों ने उन्हीं तथ्यों को लिपिवद्ध किया जो उन्हें दिलचस्प प्रतीत हुए और जैसा कि पहले कहा जा चुका है, इन प्रासंगिक कथनों का महत्व इस वात में निहित है कि वे एक वड़ी सीमा तक एक दूसरे से मेल खाते हैं। किसी एक व्यक्ति ने किसी खास समय में भारत के किसी एक भाग में कोई खास वात देखी, इस तथ्य का अपने आप में कोई सर्वमान्य महत्व नहीं हो सकता, लेकिन जब हम अलग अलग रुचियों और धंधों के लोगों को लगभग एक तरह की वात का वर्णन करते देखते हैं और जहां उन्होंने उस तरह की वात देखी उसके स्थान भी जव अलग-अलग हों और उसके काल में कुछ वर्ष से ले कर एक सदी तक का अंतर हो, तव ऐसा प्रत्येक वर्णन संपूर्ण की यथार्थता को सिद्ध करने में किसी न किसी सीमा तक सहायक होता है, और इस तरह तो विभिन्न वातें हमारे सामने आती हैं उन सव को संयोजित करके यदि हम उस संपूर्ण चित्र के आसपास की कोई चीज वनाने का प्रयत्न करते हैं जो समकालीन लेखकों ने प्रस्तुत नहीं किया तो इसमें कुछ अनुचित नहीं। तथ्यों का एक समूह तो हमें भारतीय और विदेशी दोनों स्रोतों से प्राप्त होता है। तात्पर्य इन तथ्यों से है कि वंगाल को छोड़ कर लगभग पूरे देश में वारवार अकाल पड़ने की संभावना रहती थी, अकालों में लोग भारी संख्या में मृत्यु के ग्रास वनते थे, वच्चे ग़ुलाम वना लिए जाते थे, और मनुष्य, मनुष्य का भक्षण तक करता था। ये तथ्य सर्वथा असंदिग्ध हैं, और ऐसी विपत्ति का भय निश्चय ही लोगों के मन में सदा वना रहता होगा, लेकिन ये तथ्य अपने आप में हमारा अभीप्सित चित्र न होकर उस चित्र की पृष्ठभूमि है। मनुष्य द्वारा मनुष्य का भक्षण अकाल की अवस्था की सामान्य वात थी, लेकिन स्वयं अकाल इस देश और इस काल की सामान्य नहीं वल्कि कभी कभी प्रकट होने वाली एक असामान्य विशेषता थी। हमारे वर्तमान प्रयोजन के लिए इसका महत्व इस वात के साक्ष्य के रूप में है कि जनसाधारण के पास ऐसा कोई आर्थिक साधन नहीं था जिसका वह ऐसे कठिन समय में सहारा लेता। सोलहवीं सदी के आरंभ में वारवोसा ने कोरोमंडल तट के वारे में लिखा है कि यद्यपि यह क्षेत्र सव तरह से साधन संपन्न था, फिर भी यदि वर्षा नहीं होती थी तो दुर्भिक्ष से वहुत से लोग मौत के मुंह में चले जाते थे और वच्चे एक-एक रुपए से भी कम कीमत पर वेच दिए जाते थे। लेखक आगे वताता है कि ऐसे समय में किस प्रकार मलावार के जहाज खाने पीने की चीजें लेकर आते थे और वदले में

गुलामों को भरकर वापस लौटते थे। एक पीढ़ी बाद कोरिया ने उसे तट की आबादी के अत्यंत क्षीण हो जाने और मनुष्य द्वारा मनुष्य के भक्षण का उल्लेख किया है। कोरिया के एक दशक बाद बदायूंनी ने आगरा और दिल्ली के आसपास ऐसे ही दृश्य का वर्णन किया है। 1560 के आसपास सीजर फैंडरिक ने गुजरात में बच्चों की बिक्री का उल्लेख किया है। लिन शाटेन जब गोआ में था तब उसने देखा कि बेचने के लिए बच्चे लाए जा रहे हैं और वयस्क लोग गुलामी की तलाश में घूमते फिर रहे हैं। सोलहवीं सदी के अंत में फिर उत्तर भारत में अकाल पड़ा, और बहुत से साक्ष्यों से यह प्रकट होता है कि गुजारे के लिए लोग मौसम की कृपा पर निर्भर थे, और वर्षा न होने पर तुरंत सारा आर्थिक ढांचा भहरा जाता था। इस तरह इस चित्र की पृष्ठभूमि तो आसानी से समझ में आ जाती है।

असामान्य अवस्थाओं के बजाय सामान्य अवस्थाओं से संबंधित साक्ष्यों की तलाश करते हुए हम शुरुआत सबसे आरंभ के लेखकों से कर सकते हैं, जिन्हें किसी हद तक आधुनिक कहने में कोई हर्ज नहीं है। ये लेखक हैं इटली के कांटी और रूस के निकितिन। कांटी के पास सामान्य जनों के बारे में बताने को कुछ नहीं है, यद्यपि उच्चतर वर्गों की शान-शौकत का वर्णन उसने बड़े उत्साह से किया है। निकितिन ने 15वीं सदी के आरंभ में दकन और विजयनगर की यात्रा की थी: अगर उसके विवरण के अनुवाद का भरोसा किया जा सके[10] तो उसके अनुसार, 'देश की आबादी, जरूरत से ज्यादा है, लेकिन जो लोग देहात में रहते हैं वे बड़ी दयनीय अवस्था में हैं, जब कि दरबारी लोग अत्यंत समृद्ध हैं और विलासिता में डूबे रहते हैं।' दरबारियों के बारे में उसने जो बात कही है वह अकबर कालीन स्थिति से मेल खाती है और ग्रामीण लोगों की अवस्था के संबंध में उसकी उक्ति पर किसी को आश्चर्य नहीं होना चाहिए।

हमारा अगला प्रमाण-स्रोत बारबोसा है, जिसने सोलहवीं सदी के आरंभ में लिखा। मलाबार तट की गरीबी ने उसका ध्यान तत्काल आकृष्ट किया। वह आग्रहपूर्वक बताता है कि आम लोगों के खाने के लिए जहाजों में जो चावल आता था वह कितने घटिया किस्म का होता था। उसका कहना है कि उस क्षेत्र में निम्न वर्ग के कुछ लोग अत्यंत गरीब थे। कुछ लोग नगर में बेचने के लिए घास और लकड़ी लेकर आते थे, कुछ अन्य लोग कंदमूल और जंगली फलों पर गुजारा करते थे, वे पत्तों से अपने तन ढकते थे और जंगली जानवरों को खाते थे। इससे स्पष्ट है कि मलाबार तट में बहुत गरीबी थी, लेकिन ठीक ठीक किस हद तक, यह नहीं बताया गया है। ऐसी ही छाप बरथेमा के विवरण से भी पड़ती है। उसने भी लगभग उसी काल के विषय में लिखा है जिस काल के संबंध में बारबोसा ने लिखा है कि मलाबार तट पर एक स्थान में लोग बहुत गरीबी में गुजारा करते थे। उसने कालीकट तथा अन्य स्थानों के घरों के घटियापन का भी उल्लेख किया है और उसकी कीमत 'प्रति घर आधा ड्यूकाट या ज्यादा-से-ज्यादा एक-दो ड्यूकाट' बताई है। विजयनगर के बारे में वह कहता है कि आम लोग 'कमर पर कपड़े का एक छोटा सा टुकड़ा लपेटने के अलावा प्रायः नंगे ही रहते थे।' ये तथ्य अपने आप में संगत हैं, और उसने ऐसा कुछ नहीं कहा है जिससे प्रकट होता हो उसे कहीं भी सामान्य लोग समृद्ध अवस्था में भी देखने को मिले। वैसे उसने जिन स्थानों का वर्णन किया है उनमें से अधिकांश

के बारे में इस विषय में वह मौन ही है।[31]

बरथेमा और बारबोसा के लगभग चौथाई सदी के बाद हम विजयनगर के पुर्तगाली वृत्तलेखक पाइस और नुनिज के विवरणों पर आते हैं। उनके साक्ष्यों से जो तसवीर सामने आती है उसका वर्णन हम सेवेल के शब्दों में कर सकते हैं, जो राजस्व प्रणाली के संबंध में नुनिज के कथन को उद्धृत करने के बाद कहता है: 'यह वक्तव्य एक सर्वथा बाहरी स्रोत से आता है, इसलिए इससे इस आम धारणा की प्रबल पुष्टि होती है कि हिंदू शासन के अधीन सामंत और सरदार लोग दक्षिण भारत की रैयत पर भारी अत्याचार करते थे।' ये दोनों वृत्तलेख एक-दूसरे से सर्वथा स्वतंत्र रूप से लिखे गए, लेकिन इन दोनों के अन्य अनुच्छेदों से इस दावे की पुष्टि होती है कि जनसाधारण का घोर शोषण हो रहा था और वह अत्यंत गरीबी और कष्ट में जी रहा था।' यह साक्ष्य बहुत महत्वपूर्ण है, क्योंकि इसका संबंध उस काल से है जब विजयनगर अपनी समृद्धि की पराकाष्ठा पर था और इससे लगभग आज के मद्रास प्रांत के बराबर के क्षेत्र की अवस्था पर प्रकाश पड़ता है।

इसके बाद हमें लिनशाटेन का साक्ष्य मिलता है। उसने 1580 और 1590 के बीच पश्चिमी तट की अवस्था का वर्णन किया है। उसने गोवा में रहने वाले 'आम' भारतीयों की दरिद्रता की बहुत निश्चित तफसीलें पेश की हैं, और देहाती लोगों के जीवन का उन्होंने जो चित्र खींचा है वह तो और भी दयनीय है। वह कहता है, 'वे लोग बहुत गरीबी में जीते हैं, नंगे रहते हैं, और इतने गरीब हैं कि सिर्फ एक पेनी के लिए कोड़ों की मार खाने में भी नहीं हिचकेंगे, और ये इतना कम खाते हैं कि लगता है, मानो हवा पीकर जीते हों, इसी तरह ये सब लोग शरीर से ठिगने और कमजोर हैं।' लिनशाटेन के उपरांत हमें प्रारंभिक अंग्रेज यात्रियों के प्रासंगिक कथन देखने को मिलते हैं। हाकिंस ने 1610 के आसपास अपना कुछ समय आगरा के दरबार में बिताया था। साम्राज्य के बहुत बड़े हिस्से में जो अराजकता फैली हुई थी, उसका कारण वह ग्रामीण लोगों पर किया जाने वाला अत्याचार बताता है और कहता है कि ये लोग उन जागीरदारों के हाथों 'तबाह' होते रहते हैं जो अपनी जागीरों के अपने हाथों से निकल जाने के पहले ही अधिक से अधिक पैसा बना लेने को उतावले रहते हैं। आगरा से लाहौर के बीच के घनी आबादी वाले क्षेत्र के बारे में लिखते हुए, सालबैंक बताता है कि 'मुगल बादशाह की कुछ प्रजा बहुत धनी है, यानी प्रजा के ऐसे लोग जिन्हें उससे जमीन जायदाद हासिल होती है, लेकिन साधारण लोग इतने गरीब हैं कि उनमें से अधिकांश नंगे ही रहते हैं।' जोर्डाइन ने, जिसने सूरत से आगरे तक के क्षेत्र का अवलोकन किया था, कुछ समय बाद अपने अनुभव का सार इस सूत्र वाक्य में प्रस्तुत किया है कि भारत के लोग 'समुद्र में मछलियों की तरह रहते हैं—बड़ी मछलियां छोटी का भक्षण करती हैं।' इसके कुछ वर्ष बाद टामस रो ने यही बात किंचित विस्तारपूर्वक कही। उसके अनुसार, भारत के लोग 'उसी प्रकार रहते हैं जैसे समुद्र में मछलियां—बड़ी मछलियां छोटी को खाती हैं। क्योंकि पहले तो मालिक काश्तकार कृषक मजदूरों को लूटता है। फिर सभ्यजन उन काश्तकारों को लूटते हैं, सभ्यजनों में से भी जो बड़े हैं वे छोटों को लूटते हैं और राजा सबको लूटता है। जिन लोगों को अपने कारोबार और हानि-लाभ की ही चिंता थी और जिनका सामान्यजनों की अवस्था से कोई सीधा संबंध नहीं था, उन लोगों के इस प्रकार के

प्रासंगिक कथनों से हमारे विचाराधीन विषय पर थोड़ा ही सही लेकिन वहुत स्पष्ट प्रकाश पड़ता है। इस व्यापार के एक केंद्र के रूप में अंग्रेज व्यापारियों ने वंगाल में जो कुछ संभावनाएं देखीं उनके सार को यहां थोड़े शब्दों में प्रस्तुत कर सकते हैं। इन व्यापारियों को वताया गया कि सिर्फ भद्रजनों 'के वीच ही माल के खपने की संभावना थी और ऐसे लोगों की संख्या वहुत कम थी, तथा अधिकतर लोग वहुत गरीव थे।' इस वीच अपने पाइरार्ड पश्चिमी तट के जीवन के अपने अनुभवों को लिपिवद्ध कर चुका था, और आम लोगों के वारे में उसने लिखा कि वे 'सभी प्रदेशों में तिरस्कृत, नीच और अधम अवस्था में हैं—ठीक गुलामों की तरह।' 1624 के आसपास डेला वेल ने सूरत की भी ऐसी ही झांकी दी है, यद्यपि उन दिनों विदेश-व्यापार के विकास से इस क्षेत्र को वहुत लाभ हो रहा था। लगभग हर आदमी (यानी हर संपन्न आदमी) किस प्रकार नौकर-चाकरों से भरी-पूरी विशाल गृहस्थी चलाता था, इसका स्पष्टीकरण देते हुए वह वताता है कि लोगों की संख्या विशाल थी, मजदूरी वहुत कम थी और गुलाम रखने में लगभग कोई खर्च नहीं पड़ता था। कुछ वर्ष वाद डी लाइट ने संपूर्ण मुगल साम्राज्य के वारे में अंग्रेज, डच और पुर्तगाली स्रोतों से प्राप्त जानकारी का सार संक्षेप प्रस्तुत किया। यह लगभग सुविन्यस्त विवरण की कोटि में रखने लायक चीज है। इसमें वह कहता है, 'इन क्षेत्रों में आम लोगों की अवस्था अत्यंत दयनीय है,' मजदूरी की दरें वहुत कम हैं, मजदूरों को एक ही वक्त नियमित रूप से भोजन मिल पाता है, घर वहुत वुरी दशा में हैं और फर्नीचर तो उनमें लगभग नहीं ही है, और लोगों के पास ठंड के मौसम में शरीर को गर्मी पहुंचाने के लिए पर्याप्त कपड़े नहीं हैं। वाद के जिन यात्रियों ने ऐसी ही वातें लिखीं हैं उन्हें उद्धृत करने का मतलव विचाराधीन काल की सीमा का उल्लंघन होगा, लेकिन ध्यातव्य है कि सत्रहवीं सदी की समाप्ति के पूर्व यहां के लोगों की गरीवी की खवर इंग्लैंड में इतनी फैल चुकी थी कि उस समय के राजनीतिक विवाद में इसे एक दलील की तरह पेश किया जा सकता था।[11]

आम लोगों की अवस्था की इन झलकों को देखने से हमें वह आधार प्राप्त नहीं हो पाता जिसके सहारे हम आज की स्थिति से उसकी व्यौरेवार तुलना कर सकें। इनसे हम यह निष्कर्ष नहीं निकाल सकते कि उन दिनों आम जनता आज की अपेक्षा कुछ वेहतर या वदतर स्थिति में थी। लेकिन मेरी समझ से, उनसे इस कथन का औचित्य पर्याप्त रूप से सिद्ध हो जाता है कि स्तर की दृष्टि से कोई भारी परिवर्तन नहीं हुआ है, और पंद्रहवीं से लेकर सत्रहवीं सदी तक भारत की आवादी की विशाल वहुसंख्या समकालीन यूरोपीय स्तर से देखने पर अत्यंत गरीवी की अवस्था में थी और स्मरण रहे कि उस काल के यूरोप का भी स्तर आज की अपेक्षा वहुत निम्न था। इसलिए हम निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि कुल मिलाकर जनसाधारण की आर्थिक अवस्था वही थी जो आज है, और अव हम साक्ष्यों पर अधिक विस्तार से विचार करने का प्रयत्न कर सकते हैं ताकि हमें यह मालूम हो सके कि क्या उनसे गरीवी के परिमाण में किसी प्रकार के परिवर्तन का संकेत मिलता है।

V. भोजन, वस्त्र तथा अन्य विवरण

समकालीन विवरणों से यह स्पष्ट है कि पूरे भारत के आम लोगों के आहार में मूलतः वही चीजें तव भी शामिल थीं, जो आज हैं—अर्थात चावल, मोटे अनाज, दाल, वंगाल

तथा तटवर्ती क्षेत्रों में मछली और प्रायद्वीप के दक्षिणी हिस्से में मांस। मुख्यतः मालवा के शाही दरबार के अपने अनुभवों के बारे में लिखते हुए टेरी स्पष्ट बताता है कि 'निचले तबके के लोग' गेहूं नहीं खाते थे, बल्कि एक मोटे किंतु 'सुस्वादु अनाज' के आटे का इस्तेमाल करते थे। उसके विवरण का जिस क्षेत्र से संबंध है उसको देखते हुए हम मान सकते हैं कि यह 'मोटा अनाज' ज्वार रहा होगा। आगरा से लाहौर तक के मुगल सूबों में खेती की स्थिति को देखते हुए मुझे लगता है कि इस भाग के किसान आज की अपेक्षा गेहूं कम खाते होंगे। मोटे अनाजों की खेती खूब होती थी और वे स्थानीय उपभोग के लिए ही पैदा किए जाते होंगे। यदि आम लोग मोटे अनाज खाने के अभ्यस्त हों तो ऐसी संभावनाएं नहीं दिखाई देतीं कि दरबार के उपयोग के लिए गेहूं के आयात की जरूरत पड़ती होगी। लेकिन इस मुद्दे पर मुझे कोई प्रत्यक्ष साक्ष्य उपलब्ध नही हुआ है, क्योंकि किसी भी प्रमाण-स्रोत में उत्तर भारत के आम लोगों के भोजन का विवरण नहीं दिया गया है। इससे जो अधिक महत्व का प्रश्न है; भोजन की मात्रा का प्रश्न, जिसके बारे में लगभग मौन की स्थिति ही देखने को मिलती है। दरअसल इस विषय का थोड़ा बहुत जिक्र जिस एक लेखक ने किया है वह मेरी समझ से डी लाएट है, जिसने लिखा है कि उनका मुख्य आहार दाल और चावल मिलाकर बनाई गई 'खिचड़ी' थी, जिसे वे थोड़ा मक्खन मिला कर शाम के वक्त खाते थे, लेकिन दिन में सिर्फ भुनी हुई दाल या भुना हुआ कोई और अनाज खाते थे। इस तरह डी लाएट के अनुसार वे नियमति आहार प्रति दिन एक ही बार लेते थे। यह बात कही तो गई है आमतौर पर सब के बारे में, लेकिन इसे पूरे देश पर लागू होने वाला वक्तव्य समझना उचित नहीं होगा। इसी तरह आम लोगों के आवश्यकता से कम खाने के बारे में लिनशाटेन का जो स्पष्ट कथन है उसे भी हम पश्चिमी तट के अलावा, जहां उसने यह बात कही, शेष भारत पर लागू नहीं कर सकते। इन दो लेखकों के अलावा और किसी ने ऐसा कुछ नहीं कहा है जिससे प्रकट होता हो कि लोग आज की अपेक्षा कम या अधिक खाते थे।

जहां तक सामान्य लोगों के आहार के मुख्य सहायक पदार्थ तेल, घी, शक्कर और नमक का संबंध है, ऐसी सामग्री उपलब्ध नहीं है, जिसके आधार पर पूरे भारत पर लागू होने वाला कोई निष्कर्ष निकाला जा सके, लेकिन अबुल फजल ने इन वस्तुओं की कीमतों की जो सूची दी है उससे हम शाही शिविर और आसपास की स्थिति का काफी यथार्थ संकेत पा सकते हैं और उत्तरी भारत के वृहत्तर क्षेत्र की हालत का एक मोटा अंदाजा देने वाली सामग्री की तरह स्वीकार कर सकते हैं। उसके आंकड़ों से प्रकट होता है कि घी और तिलहन अनाजों के मुकाबले आज की अपेक्षा बहुत सस्ते थे और इस दृष्टि से निम्नतर वर्ग के लोगों की स्थिति उत्पादनों की हैसियत से तो नहीं लेकिन उपभोक्ताओं के रूप में आज से बेहतर थी। डी लाएट ने आम लोगों के आहार में घी का उल्लेख किया है, इस बात से भी हमारे इस निष्कर्ष की एक सीमा तक पुष्टि होती है। इसी तरह अन्य लेखकों ने इस विषय में प्रसंगवश थोड़ा-बहुत जो कुछ कहा है उससे भी यह निष्कर्ष संगत जान पड़ता है। इसके विपरीत नमक और कम से कम बेहतर किस्म का शक्कर आज की अपेक्षा महंगे थे। अनाजों के मुकाबले नमक की कीमत आज की बनिस्बत दोगुनी से भी ज्यादा थी, और इस बात को ध्यान में रखते हुए कि दरबार आमतौर पर ऐसे स्थानों में अवस्थित होता था जहां से संभरण के मुख्य केंद्र निकट हुआ करते थे, हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि देश के और भी दक्षिण और पूर्व के हिस्सों में इसकी कीमत ज्यादा ऊंची थी। शक्कर

के संबंध में स्थिति अधिक संदिग्ध है, लेकिन मैं समझता हूं, संभावनाएं पांचवें अध्याय में व्यक्त की गई इस राय के पक्ष में हैं कि शोधा हुआ शकर आम लोगों की सामर्थ्य से बाहर की एक विलास सामग्री थी, और लगभग सारी मिठाइयां गुड़ से ही बनाई जाती होंगी। मिठाइयां किस हद तक खाई जाती थीं, स्पष्ट नहीं है। यात्रियों ने ऐसा कुछ नहीं कहा है जिससे प्रकट होता कि वे आज की ही तरह आहार की मुख्य वस्तु थीं, और इन दिनों यूरोप में शकर इतनी अधिक व्ययसाध्य थी कि हमें ऐसा मानना चाहिए कि यदि सड़कों के किनारे बने विश्राम स्थलों में आमतौर पर उन्होंने लोगों को मिठाइयां खाते देखा होता तो उसका उल्लेख वे अवश्य करते। स्वयं मैं तो यह मानने के पक्ष में हूं कि बड़ी मात्रा में मिठाइयों का उपभोग भारतीय जीवन की अपेक्षाकृत नई विशेषता है, लेकिन इस रायके पक्ष में जो भी साक्ष्य है, सब नकारात्मक है और इसलिए उनके आधार पर कोई निश्चित निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता। आहार के उपर्युक्त सहायक तत्वों की स्थिति के संबंध में हुए परिवर्तनों को कुल मिलाकर शायद महत्वहीन माना जा सकता है। सस्ते नमक और शोधे हुए शकर से निश्चय ही उपभोक्ताओं को लाभ हुआ है, लेकिन घी की कीमत बढ़ने से उन्हें हानि भी हुई है, और संभव है कि साधारण किस्म के शकर की सुलभता स्थिति में आए परिवर्तनों से देश के अलग अलग भाग अलग अलग ढंग से प्रभावित हुए हों।

आवास के संबंध में तो स्थिति स्पष्ट ही है। देश के किसी भी भाग में आम लोगों के रहने के घरों के बारे में किसी यात्री ने सराहना का एक भी शब्द नहीं कहा है, और उन्होंने जिस तिरस्कार के साथ उनका वर्णन किया है उसे उद्धृत करना अनावश्यक है। टेरी आमतौर पर चीजों के चमकदार पहलुओं की ओर ही ध्यान देता था, लेकिन इस विषय में तो उसने भी लिखा है कि गांवों की झोपड़ियां दयनीय, विपन्न, छोटी और भद्दी होती थीं और भारत के सभी भागों के बारे में हमें इसी तरह के विवरण मिलते हैं। दुर्भाग्यवश आज भी उनकी अवस्था आमतौर पर लगभग वैसी ही है। देश के कुछ हिस्सों में—खास तौर से बंगाल और मध्यप्रदेश में हाल के वर्षो में कुछ प्रगति हुई है, और यथासाध्य सर्दी, गर्मी और पानी से बचाव के लायक घर बनवाए गए हैं, लेकिन इन अपवादों को छोड़कर, आम लोगों की आवास व्यवस्था का वर्णन आज भी लगभग उन्हीं शब्दों में किया जा सकता है जिन शब्दों में तीन सदी पूर्व किया गया था। वैसे इन वर्णनों के आधार पर उस काल की संपन्नता अथवा विपन्नता के परिमाण का कोई तुलनात्मक अनुमान पेश नहीं किया जा सकता है। इस बात के कुछ संकेत अवश्य मिलते हैं कि नगरों में आम लोग जिस तरह के घरों में रहते हैं उनकी अवस्था में कुछ सुधार हुआ है। उदाहरण के लिए, आगरा पर आज जोर्डाइन के इस कथन को लागू नहीं किया जा सकता कि नगर के अधिकतर हिस्सों में फूस के घर हैं, जो साल में एक-दो बार जलकर खाक हो जाते हैं। लेकिन इस मामले में जो परिवर्तन आज दिखाई देता है उसका कारण शायद यह है कि उन दिनों अधिकांश आगरा निवासियों को बराबर शाही शिविर के साथ यहां वहां जाने के लिए तैयार रहना पड़ता होगा, इसलिए वे अपने लिए स्थायी आवास बनाने का खर्च नहीं उठाना चाहते होंगे।

घरों में फर्नीचर बहुत कम होते थे, जैसा कि आज भी देखा जा सकता है डी लाएट के विवरण के अनुसार, मिट्टी के कुछ बर्तन भांडे, खाटें और बहुत पतले बिछावन, बस यही आम लोगों के घरेलू सामान थे। पश्चिमी तट के बारे में लिखते हुए लिनशाटेन कहता है कि 'बैठने सोने दोनों' प्रयोजनों के लिए फूस की चटाइयां लोगों का घरेलू सामान है, और 'उनकी मेजों, मेजपोशों और रूमाल-तौलियों' का काम केले के पत्ते करते हैं। इस तरह

के वर्णन मुख्य रूप में आज की स्थिति पर भी लागू होते हैं, लेकिन धातु की वस्तुओं और खासकर धातु के घरेलू वर्तनों के संवंध में निश्चित तौर पर परिवर्तन हुआ है। इन यात्रियों को अपरिचित और नई किस्म की चीजों में खास दिलचस्पी होती थी और आज पीतल या तांवे के जिन वर्तनों का आम उपयोग होता है, यदि उन दिनों वे उनकी निगाह में आते तो वे उनका उल्लेख अवश्य करते, क्योंकि अपने आकार और चमक के कारण तथा जिस खास ढंग से उन्हें काम में लाया जाता है उसकी वजह से वे विदेशी पर्यवेक्षकों का ध्यान विशेष रूप से आकृष्ट करते हैं, लेकिन वस्तुस्थिति यह है कि ऐसी घरेलू वस्तुओं का उल्लेख उन यात्रियों ने वहुत ही कम किया है। लिनशाटेन ने लिखा है कि गोआ के आम लोग 'तांवे के डिव्वे' से पानी पीते थे, लेकिन खाना पकाने के लिए मिट्टी के वर्तन का उपयोग करते थे। उसी क्षेत्र के ग्रामीण लोगों के वारे में उसने लिखा कि वे 'तांवे के डिव्वे से पानी पीते हैं, जिसमें टोंटी लगी रहती है और उनके घरों में धातु का केवल यह एक वर्तन होता है।' लेकिन इस लेखक के अलावा और किसी ने कहीं भी इस तरह के वर्तनों का उल्लेख नहीं किया है। पंद्रहवीं सदी में निकितिन और सत्रहवीं सदी में डी लाएट ने सिर्फ मिट्टी के वर्तनों का ही उल्लेख किया है[12] और टेरी ने भी पीतल के वर्तनों के वारे में कुछ नहीं कहा है, यद्यपि उसने रोटी सेंकने के 'लोहे के पतले तवे' का उल्लेख करने की सावधानी दिखाई है, और यदि उनकी निगाह में आते तो पीतल आदि के वर्तनों का उल्लेख करने में शायद वह चूकता नहीं। इस विषय में लेखकों के मौन से यह निष्कर्ष निकाला गया है कि इस काल में आम लोग आज की अपेक्षा धातुओं का वहुत कम उपयोग करते थे। इसकी संभावना तव और भी वढ़ जाती है जव हम धातुओं की भारी कीमतों (जो पहले के एक अध्याय में दी गई हैं) पर विचार करते हैं। स्मरण होगा कि तांवे के सिक्के आज की तरह प्रतीक-मुद्राओं के रूप में नहीं चलते थे, वल्कि उनका मूल्य उनमें प्रयुक्त धातु की कीमत पर निर्भर होता था। इस प्रकार पीने की प्याली या तश्तरी की कीमत लगभग उसके वजन के वरावर सिक्कों में अदा करनी पड़ती थी। अकवर के दरवार के आसपास तांवे की कीमत के तौर पर आज की अपेक्षा पांच गुना अनाज देना पड़ता था, और हम देख चुके हैं कि दक्षिण में भी यह धातु वहुत सस्ती नहीं रही होगी। इस तरह जितने वर्तन लोग आज रखते हैं उतने वर्तन यदि उस समय के लोग रखते होते तो उन कुल वर्तनों के योग का मतलव विपुल धनराशि होता। इस सव को देखते हुए यह निष्कर्ष अनुचित न होगा कि आम लोगों के लिए धातुओं की चीजें सामान्यतया विलासिता की वस्तुओं की कोटि में आती थीं, जिन्हें अपने पास रखने की इच्छा तो लोगों को उतनी ही रहती होगी जितनी आज है, लेकिन जो इतने महंगे थे कि आम लोग किसी भी हालत में उन्हें उतने वड़े परिमाण में प्राप्त नहीं कर पाते होंगे जितने वड़े परिमाण में वे उन्हें आज उपलव्ध हैं।

घरेलू सामान की अपेक्षा वस्त्रों के संवंध में हमें वहुत अधिक समकालीन साक्ष्य उपलव्ध हैं, लेकिन उसमें आमतौर पर जिस वात पर जोर दिया गया है वह है लोगों का नंगापन, और विभिन्न पहनावों की तफसीलें वताने की कोई खास कोशिश नहीं की गई है। पहनावे का महत्व जलवायु पर इतना अधिक निर्भर है कि उपलव्ध साक्ष्यों को दो हिस्सों में वांट कर उन पर विचार किया जाना चाहिए। एक हिस्से में हम दक्षिण भारत से संवंधित साक्ष्यों को लें, क्योंकि यहां कपड़े पहनना सिर्फ प्रचलन तथा प्रथा की वात थी। दूसरे हिस्से में उत्तर और मध्य भारत विषयक साक्ष्यों को रखें, क्योंकि इन हिस्सों में वर्ष के कुछ महीनों तक पर्याप्त कपड़े इस्तेमाल करना कार्यकुशल होने के लिए आवश्यक

है। दक्षिण में नंगे रहने का रिवाज बहुत पुराना है, और इस रिवाज को चौदहवीं सदी से लेकर बाद के सभी लेखकों के विवरणों में देखा जा सकता है। चौदहवीं सदी में मांटेकार्विनों के जान ने लिखा कि यहां दर्जियों की जरूरत नहीं होती, क्योंकि लोग कमर को ढकने के अलावा नंगे रहते हैं। 15वीं सदी में निकितिन ने लिखा कि दकन के हिंदू 'बिल्कुल नंगे बदन और नंगे पांव रहते हैं।' बारबोसा का कहना है कि दकन के हिंदू कमर से ऊपर नंगे रहते थे और सिर पर छोटी सी पगड़ी धारण करते थे। गुजरात के हिंदुओं के बारे में वरथेमा लिखता है कि 'उनमें से कुछ नंगे रहते हैं और कुछ लोग सिर्फ अपने गुप्तांगों को ढकते हैं।' विजयनगर के बारे में वह कहता है कि 'आम लोग शरीर के मध्य भाग में कपड़े का एक टुकड़ा लपेटने के अलावा नंगे ही रहते हैं।' फिच का कहना है कि 'गोलकुण्डा में स्त्री पुरुष सब शरीर के मध्य भाग में एक कपड़ा बांधने के अलावा और कोई वस्त्र नहीं पहनते।' लिनशाटन ने देखा कि गोआ के आसपास के किसान नंगे रहते हैं, सिर्फ उनके गुप्तांग वस्त्र से ढके रहते हैं।' डेला वेल ने गोआ नगर के लोगों के बारे में लिखा है : 'लोगों की संख्या बहुत है, लेकिन सब से ज्यादा गुलाम हैं—काले और अभद्र लोग, जो या तो अधिकांश नंगे रहते हैं या बहुत कम कपड़े पहनते हैं।' कालीकट के लोगों के बारे में वह कहता है कि 'जहां तक वस्त्रों का संबंध है, उनकी जरूरतें बहुत कम हैं, क्योंकि स्त्री पुरुष दोनों सिवाय इसके कि उनकी कमर से घुटने तक सूती या रेशमी कपड़े का एक टुकड़ा लटकता रहता है, नंगे ही रहते हैं।' डी लाएट ने आम लोगों के पहनावे का वर्णन नहीं किया। लेकिन उनका बिस्तर कितना कम होता था, इसका उल्लेख अवश्य किया है। यह पतला बिस्तर 'तेज गर्मी में तो सुविधाजनक' होता था, 'लेकिन मौसम के सचमुच ठंडा होने पर किसी काम का नहीं।' यह उक्ति ऊपर के कथनों के सार का काम कर सकती है। ध्यातव्य है कि कोट या कमर से ऊपर पहने जाने वाले वस्त्रों के बारे में, जिनका चलन आज सार्वजनिक तो नहीं फिर भी बहुत आम हो गया है, किसी ने कुछ नहीं कहा है।

उत्तरी भारत के बारे में सब से पहले तो हमें बाबर का कथन उपलब्ध है। उसके अनुसार 'किसान और निचले तबके के लोग प्रायः नंगे रहते हैं। वे लंगोटा नाम का एक कपड़ा बांधते हैं, जो लज्जा निवारण के लिए होता है और जो नाभि प्रदेश से सिर्फ दो बालिश्त नीचे पहुंचता है। इस लज्जा निवारक आवरण की गांठ पर से एक दूसरा टुकड़ा जांघों के बीच से ले जाकर पीछे खोंस लिया जाता है। स्त्रियां भी कपड़े का एक टुकड़ा बांधती हैं, जिसका एक हिस्सा कमर के गिर्द लिपटा रहता है और दूसरा सिर पर ओढ़ लिया जाता है।' यह वर्णन इतना तफसीलवार है कि इसे पर्याप्त मान लिया जा सकता है। सोलहवीं सदी के अंतिम वर्षों में फिच ने गंगा के मैदान में पहने जाने वाले वस्त्रों के बारे में लिखा है। बनारस में वह कहता है कि 'शरीर के मध्य भाग में एक छोटा सा कपड़ा बांधने के अलावा लोग नंगे रहते हैं। सर्दी के मौसम में, जो हमारे मई[13] महीने में पड़ता है, पुरुष रुई भरा कुरता और रुई भरी टोपी पहनते हैं। प्राचीन राजधानी नगर गौर के निकट टांडा में उसने लिखा : 'लोग सिर्फ कमर में एक छोटा सा कपड़ा बांधते हैं, और बाकी नंगे ही रहते हैं।' चटगांव के निकटस्थ बकोला के लोगों के बारे में भी उसने इन्हीं शब्दों का प्रयोग किया है। राजधानी नगर सोनारगांव के बारे में वह कहता है कि 'लोग अग्रभाग को छोटे से कपड़े से ढक लेते हैं, और शेष शरीर नंगा रखते हैं।' जहां तक बंगाल का संबंध है, इन कथनों की पुष्टि आईन-ए-अकबरी की इस उक्ति से भी होती है कि स्त्री

पुरुष सिर्फ एक ही कपड़ा पहनते हैं और शरीर के अधिकांश भाग को अनावृत रखते हैं। दुर्भाग्यवश, अबुल फजल ने साम्राज्य के अन्य सूबों के बारे में इस तरह की कोई जानकारी नहीं दी है। इसके लिए हमें ऊपर उद्धृत किए गए कथनों पर ही निर्भर रहना है। अलबत्ता आगरा से लाहौर तक के प्रदेशों के बारे में सालवैंक का यह सामान्य कथन हमारे काम का जरूर है कि 'आम लोग इतने गरीब है कि उनमें से अधिकांशतः सूती कपड़े के एक टुकड़े से अपने गुप्तांगों को ढकने के अलावा नंगे ही रहते हैं। इन विवरणों में जो बात सब से अधिक ध्यान खींचती है वह यह है कि इनमें शरीर के कमर से ऊपर के भाग के किसी भी वस्त्र का उल्लेख नहीं हुआ है। इस दृष्टि से ये विवरण निश्चय ही आज के उत्तर भारत पर लागू नहीं किए जा सकते। हमें यह आशा भी रखनी चाहिए कि आज पंजाब में जिस पगड़ी का इतना आम चलन है, वह अगर उन दिनों इस्तेमाल की जा रही होती तो बाबर जैसा सावधान लेखक उसका उल्लेख करने में कभी नहीं चूकता। अतः यह निष्कर्ष उचित जान पड़ता है, कि उन दिनों आज की अपेक्षा कपड़े कम पहने जाते थे। भारत के किसी भी हिस्से में आम लोगों द्वारा ऊनी कपड़े या कंबल के इस्तेमाल का कोई उल्लेख कहीं नहीं मिला है।

दक्षिण में पैरों से भी नंगे रहने की परंपरा है। मांटकार्विनो के जान का कहना है कि दर्जियों की तरह मोचियों की भी जरूरत वहां नहीं थी। जैसा कि हम देख चुके हैं, निकितिन के अनुसार भी दकन के लोग नंगे पांव रहते थे। पाइस भी विजयनगर के 'अधिकांश, यह लगभग सब' लोगों के बारे में यही कहता है। चूंकि लिनशाटेन ने गोआ के उच्चतर वर्गो के लोगों के जूतों का उल्लेख किया है, इसलिए आम लोगों के संबंध में इस विषय में उसके मौन को हम विशेष महत्वपूर्ण मान सकते हैं, जहां तक उत्तरी भारत का संबंध है, इस विषय के लगभग पूरे साक्ष्य नकारात्मक हैं। बारबोसा बताता है कि उसके समय में बंगाल नगर के आम लोग जूते पहनते थे, लेकिन इस एक अपवाद को छोड़ कर नर्मदा के उत्तर मुझे जूतों का उल्लेख कहीं नहीं देखने को मिला है, और यद्यपि यह तथ्य अपने आप में ऐसा नहीं है जिसके आधार पर कोई अंतिम निष्कर्ष निकाला जा सके, किंतु इस संबंध में बाबर के मौन से वास्तविक स्थिति का संकेत अवश्य मिलता है। संभव है कि जूते जिस हद तक आज पहने जाते हैं उसी हद तक तब भी पहने जाते हों, लेकिन अधिक संभावना इसके प्रतिकूल स्थिति के पक्ष में ही है। मैं मानता हूं कि जूते आज की अपेक्षा पूरे देश में कम पहने जाते थे, और यदि सचमुच बात ऐसी ही रही हो तो उसका कारण यह नहीं था कि चमड़े की कीमत अधिक थी, क्योंकि जैसा कि हम पहले के एक अध्याय में देख चुके हैं, कम से कम कच्चा चमड़ा तो विपुल परिमाण में उपलब्ध था। हम यह मान सकते हैं कि यद्यपि कीमतें कम थीं, फिर भी लोगो के पास इतने साधन नहीं थे कि जो चीजें उनके जीने के लिए परम आवश्यक नहीं थीं, उन पर वे कुछ भी खर्च कर सकें। अन्य पहनावों के संबंध में भी सामग्री की कीमतें शायद निर्णायक रही हों। अबुल फजल ने कीमतों के जो आंकड़े दिए हैं उन से प्रकट होता है कि अंत में कीमतें आंकी जाएं तो सूती और ऊनी दोनों तरह के कपड़े आज की अपेक्षा मंहगे थे। लेकिन सिर्फ कीमतों के आधार पर ही कोई निश्चित निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता। अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है कि जिस दिशा की ओर यात्रिओं के कथन संकेत देते हैं उसी की ओर कीमतें भी इशारा करती हैं, और इस तरह आम लोगों के नंगेपन का उन्होंने जो बार-बार उल्लेख किया है उसे समझना हमारे लिए अधिक आसान हो जाता है।

लगता है रहन-सहन के तौर-तरीके उसी ढंग के थे जिस ढंग के आज हैं, और मात्रा की दृष्टि से आज के खर्च से उनके खर्च की तुलना कर पाना असंभव है। तीर्थ यात्राएं काफी लोकप्रिय थीं, और परिवहन के तेज साधनों के अभाव में उन पर आज की अपेक्षा शायद अधिक खर्च वैठता होगा, लेकिन जितने लोग तीर्थ यात्राएं कर पाते थे उनके अनुपात की जानकारी हमें नहीं है। शादी-विवाह आज की ही तरह तड़क-भड़क के साथ संपन्न होते थे, लेकिन हम उससे संबंधित तब के और आज के खर्चों की तुलना करने की स्थिति में नहीं हैं। धातुओं और जवाहरातों के आभूषण खूब पहने जाते थे, लेकिन यह चलन ठीक किस सीमा तक था, यह दिखाने वाला कोई साक्ष्य उपलब्ध नहीं है और हमें जो जानकारी है उसका सार डेला वेल के शब्दों में प्रस्तुत किया जा सकता है, 'जिनके पास आभूषण हैं, वे अपने को सोने और जवाहरातों के आभूषणों से सजाते हैं। छोटी छुरियों, वटनों, आईनों आदि गैर जरूरी और छोटी-छोटी सुविधा की वस्तुओं पर खर्च करने की संभावना आज की अपेक्षा प्रायः निश्चय ही कम रही होगी, ऐसी चीजें वाजार में नहीं थीं और शायद उनकी आवश्यकता लोग अनुभव भी नहीं करते थे। लगता है, मदिरा अफीम और मादक पदार्थ देश के अधिकांश वाजारों में आसानी से मिल जाते थे, और जैसा कि मैंने पहले के एक अध्याय में कहा है, अकवर के विनियमों में जो प्रतिवंध देखने को मिलते हैं उन पर शायद ठीक ढंग से अमल नहीं किया जाता था, लेकिन जनसाधारण द्वारा इन वस्तुओं के उपभोग की कोई जानकारी हमें प्राप्त नहीं है। हम केवल इतना ही कह सकते हैं कि इन वस्तुओं का सेवन इतने वड़े पैमाने पर नहीं किया जाता था कि उसकी ओर विदेशी यात्रियों का ध्यान आकृष्ट होता। तंवाकू की सुलभता अभी आम नहीं हुई थी, और मुझे ऐसा कोई संकेत नहीं मिला है कि सामान्य लोग किसी देशी उत्पाद को धुएं के रूप में पीते थे, इसलिए हमें यही मानना होगा कि यह चलन अपेक्षाकृत नया है। ऐसा सोचना भी उचित जान पड़ता है कि मुकदमेवाजी पर वहुत कम पैसा खर्च किया जाता होगा। पेशेवर वकील नहीं होते थे, और मुझे इसमें संदेह है कि इस काल में ऐसे उच्चाधिकारियों की संख्या अधिक रही होगी जो रिश्वत में मोटी-मोटी रकमें देने में असमर्थ साधारण जनों के आपसी विवादों की छानवीन करने में अधिक समय देते रहे हों। दूसरी ओर, विभिन्न वर्गों के छोटे अधिकारियों की मांगें पूरी करने में लोग आज की अपेक्षा शायद अधिक पैसा खर्च करते थे, लेकिन इस मद में होने वाले खर्च का कोई निश्चित अनुमान लगाना असंभव है।

आम लोगों की अवस्था का पर्यवेक्षण तव तक पूरा नहीं हो सकता जव तक कि हम उन लागों के वारे में भी दो शब्द न कह दें जो उन्हें विना कोई दाम चुकाए मिलते थे। जहां तक राज्य की गतिविधियों का संवंध है, उनसे इन्हें इस तरह के वहुत कम लाभ मिलते थे। कुछ कच्ची सड़कें थी और वहुत से छोटे-छोटे पुल। चिकित्सा विषयक सहायता की कोई संगठित व्यवस्था नहीं थी और सार्वजनिक शिक्षा की किसी पद्धति का कोई संकेत मुझे नहीं मिला है'।[14] उद्योग और कृषि विकास योजनाओं के दिन अभी दूर थे। इसी तरह पशु-चिकित्सा और राज्य की अन्य आधुनिक गतिविधियों के दिन अभी दूर थे। इन सव मामलों में आज जनसाधारण पहले से अच्छी स्थिति में हैं। निःशुल्क सेवाओं से मिलने वाले लाभों का प्रश्न स्पष्ट नहीं है, लेकिन उन दिनों की जिन संस्थाओं के अवशेष आज भी देखने को मिलते हैं, यदि उन पर से कोई राय कायम की जाए तो मैं यह कहूंगा कि आम लोगों को इनका लाभ वहुत कम मिलता था, यद्यपि संभव है कि कुछ खास स्थानों को या कुछ विशेष वर्गों के लोगों को खूव लाभ मिलते रहे हों। किंतु मोटे तौर पर

यही कहा जा सकता है कि आम लोगों को अपनी सारी जरूरतें अपने ही मेहनत मशक्कत से पूरी करनी पड़ती थीं।

इस अध्याय के आरंभ में मैंने कहा है कि हमें मात्र जो छिट-पुट और आंशिक बयान उपलब्ध हैं उन्हें ऐसे सुसंगत और सुविन्यस्त रूप में सजा कर रखा जा सकता है जिससे अकबर की मृत्यु के समय भारत के आर्थिक जीवन की तसवीर जैसी कोई चीज हमें प्राप्त हो सके। मैं जो तस्वीर देखता हूं वह यह है : उच्चतर वर्गों के लोग, जिनकी संख्या बहुत कम थी और जिनमें बहुत बड़ा अनुपात विदेशियों का था, अपनी आवश्यकता से बहुत ज्यादा आमदनी का उपभोग करते थे, और आमतौर पर वे इस आमदनी को विलासिता और तड़क-भड़क की वस्तुओं पर खुले हाथों खर्च करते थे। देश के आर्थिक विकास के लिए वे लगभग कुछ नहीं करते थे और उनकी आय का जो हिस्सा खर्च नहीं हो पाता था वह अनुत्पादक रूप में यों ही पड़ा रहता था। उनकी गतिविधियों का जो एकमात्र लाभ था वह भी अप्रत्यक्ष था। मतलब यह कि मात्र नई-नई चीजें हासिल करने की इच्छा से प्रेरित होकर उन्होंने विदेशी व्यापारियों को जो संरक्षण दिया वह व्यापार के नए-नए रास्ते खोलने में सहायक हुआ और इस तरह उससे आर्थिक विकास का मार्ग प्रशस्त हुआ। इस संरक्षण का लाभ उठाने वाले तटवर्ती व्यापारियों ने भी लगभग उन्हीं की जैसी जीवन शैली अपनाई, लेकिन अन्य स्थानों में व्यापारियों के लिए खुल कर खर्च करना जोखिम का काम था। फलतः मध्य वर्ग के अन्य लोगों की तरह वे बहुत सादा और शायद मितव्ययी जीवन व्यतीत करते थे। आबादी का विशाल भाग उसी आर्थिक धरातल पर जीता था जिस पर वह आज है। हम निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते कि उन लोगों के पास भोजन आज की अपेक्षा थोड़ा कम था या ज्यादा, लेकिन कपड़े शायद उनके पास कम थे, और घरेलू बर्तनों तथा ऐसी छोटी-मोटी सुविधाओं के मामले में उनकी स्थिति बदतर थी, जो आज उन्हें सार्वजनिक सेवाओं के रूप में प्राप्त हो रही है। यह है वह तस्वीर, जिसकी पृष्ठभूमि में हमें अकाल की छाया दिखाई देती है—अकाल, जिसका अर्थ पिछली सदी के दौरान काफी बदल चुका है। अकबर काल में और उसके बाद भी बहुत लंबे समय तक अकाल का मतलब था अस्थायी किंतु पूर्ण आर्थिक अव्यवस्था, जिसमें घर बर्बाद हो जाते थे, बच्चे गुलामों की तरह बेच दिए जाते थे, हताश लोग भोजन की तलाश में इधर-उधर भटकते फिरते थे, वे भूख से छटपटाते थे और उसे शांत करने का एक ही रास्ता रह जाता था कि मनुष्य मनुष्य का भक्षण करे। ये सारी बातें बड़ी जुगुप्सामय लगती हैं, किंतु इनका उल्लेख आवश्यक था। आगरा और विजयनगर की शान-शौकत को हमें इसी पृष्ठभूमि में देखना चाहिए।

सातवें अध्याय के लिए प्रमाण-स्रोत

अनुच्छेद–1 : शून्य।

अनुच्छेद–2–बर्फ की जरूरत की पूर्ति की व्यवस्था तफसीलें आईन, अनुवाद i, 56 में दी गई हैं। फलों के लिए देखिए, i, 65, बाबर के संस्मरण 503, और तुजुक, यत्र तत्र भी। भोजन के तौर तरीकों के लिए आईन, अनुवाद, i, 57 टेरी, 195, और मैनरिक, LXVI, देखिए। टेरी द्वारा दिए गए आसफ खां के भोज के विवरण को वि० स्मिथ कृत अकबर, 504 में विस्तार से उद्धृत किया गया है।

वस्त्रों से संबंधित तफसीलें आईन, अनुवाद, i, XVIII, 87–94 से ली गई है,

ग्रस्तवल की तफसीलें, i, 118, 126, 129 से, जुए ग्रौर शिकार के लिए देखिए, i, 219, तंवुग्रों के वर्णन, i, 45–55 में हैं।

मुगल दरवार के नौकर चाकरों का विवरण तीसरे ग्रध्याय में किया गया है, भारत के ग्रन्य भागों के वारे में तत्संवंधी संदर्भों के लिए डेला वेल, 42; थेवनों, 307; पाइरार्ड ii, 70, 75, 135, हे, 750 ग्रौर यत्र तत्र देखिए। डी लाएट का ग्राम निष्कर्ष, पृ० 119 में ग्रौर रो की उक्तियां लेटर्स रिसीव्ड, VI. 298में हैं।

भेटों के लिए देखिए तुजुक, i, 103, 132, 134 ग्रादि; हे, 723, 762, 869; रो, 110; सेवेल, 281; मैनरिक, LXIV, लेकिन संदर्भों की यह सूची वहुत संक्षिप्त है। पाठ में वर्नियर के जो संदर्भ दिए गए हैं वे उसके पृष्ठ 213, 226, 330 पर हैं। राजा भगवानदास द्वारा दिए गए दहेज का वर्णन वदायूंनी, ii, 352 में है। खासकर टैवर्नियर ने पैसे देश से वाहर ले जाने की कठिनाई का उल्लेख (पृ० 75 में) किया है, ग्रौर मैनरिक, LXXI, में इस नियम के महत्व पर प्रकाश डाला गया है।

ग्रनुच्छेद–3–वृत्तलेखकों के ग्रार्थिक दृष्टिकोण के उदाहरण इलियट, हिस्ट्री, IV, 246, 476 में मिलेंगे। शान शौकत के प्रदर्शन के खतरों का उल्लेख टेरी 391, ग्रौर वर्नियर, 223, 229 में है। पश्चिमी तट के व्यापारियों के लिए देखिए वारवोसा 280, 342 ग्रौर डेलावेल, 42।

ग्रनुच्छेद–4–ग्रकाल की स्थिति के संदर्भ के लिए वारवोसा, 358; हाव्सन-जाव्सन (जेराफाइन शीर्षक इंदराज); इलियट हिस्ट्री, V, 490, VI 193; परकास ii, X, 1703, ग्रौर लिनशाटेन ग्र० 41 देखिए, इनके ग्रलावा ग्रौर भी वहुत से संदर्भ स्रोत हैं। सामान्य परिस्थितियों के संवंध में उदाहरण के तौर पर जो ग्रनुच्छेद किए गए हैं वे मेजर, 14; वारवोसा 295, 338, 339; वरथेमा, 129, 132, 136; सेवेल, 379; लिनशाटेन, ग्र० 33, 39; परकास, I, III, 221; लेटर्स रिसीव्ड, IV, 307; VI, 182; जोर्डाइन 162; रो 397; पाइरार्ड, ग्रनुवाद i, 386, डेला वेल, 42 से लिए गए हैं।

ग्रनुच्छेद–5–ग्रामतौर पर कैसा खाना खाया जाता था इसकी विस्तृत जानकारी के लिए देखिए ग्राईन II, 122, 151, 239, 338, वारवोसा, 291; सेवेल 366; डेला वेल 42; लिनशाटेन, ग्र० 33 ग्रौर टेरी, 198; मात्रा के लिए देखिए डी लाएट, 116, सहायक खाद्य वस्तुग्रों ग्रौर कपड़ों की कीमतों के लिए देखिए जर्नल रा० ए० सो० ग्रक्तूवर, 1918, पृ० 375 ग्रौर ग्रागे।

ग्रावास व्यवस्था के लिए ग्रन्य प्रमाण स्रोतों के ग्रलावा मांसेरेट 152; परकास II, X, 1732,–35; टेरी, 179; थेवनो, 48, 104, 129, 281, ग्रौर (ग्रागरा में) जोर्डाइन 162, देखिए। फर्नीचर के लिए देखिए डी लाएट, 116; लिनशाटेन ग्र० 33; 39; मेजर 17; ग्रौर टेरी 198।

दक्षिण भारत के वस्त्रों से संवंधित जानकारी हासिल करने के लिए प्रयुक्त संदर्भ ग्रंथ में मूल, कैथी, III, 57; मेजर, 12; वारवोसा, 290; वरथेमा, 129; लिनशाटेन ग्र० 39, डेला वेल, 157, 360; परकास II, X, 1732, ग्रौर डी लाएट 1163; उत्तर भारत के लिए वावर, 519; ग्राईन ग्रनुवाद II 122; परकास, II, X, 1735-37; लेटर्स रिसीव्ड, छ : 182। जूतों के लिए देखिए मूल, कैथी, III, 57; मेजर, 12; सेवेल 252; लिनशाटेन ग्र० 38, 39, ग्रौर वारवोसा, 365।

तीर्थ यात्राग्रों के लिए देखिए (उदाहरण के तौर पर) हे, 719; विवाहों के

लिए देखिए परकास, II, X, 1732, आभूषणों के लिए देखिए डेला वेल, पृ० 45।

भारत की सम्पत्ति

संदर्भ :

1. इस कथन का अपवाद किसी हद तक बर्नियर है, जिसका अपना एक आर्थिक सिद्धांत था, और इसलिए जहां उसने कुछ उदाहरणों को देखकर कोई सामान्य निष्कर्ष प्रस्तुत कर दिया है वहां हमें अपने विवेक से काम लेना होगा। लेकिन हमारे वर्तमान प्रयोजन के लिए उसका महत्व मुख्यतः इस बात में निहित है कि वह उन परिणामों को अपनी आंखों देखे तथ्यों के रूप में प्रस्तुत करता है जो उसके काल से आधी सदी पूर्व अकबर के समय में काम करने वाली गतिविधियों की स्वाभाविक परिणति थे और जिनकी आशा अकबर के काल की उन प्रवृत्तियों को देखते हुए की जा सकती थी।
2. मांसेरेट द्वारा दिया गया वर्णन उसके विवरण के पृष्ठ 559 और आगे के पृष्ठों पर देखे जा सकते हैं। दक्षिण में मिशनरियों के अनुभव हैं, पृष्ठ 750, 763 आदि में देखे जा सकते हैं।
3. उदाहरण के लिए जोर्डाइन (पृष्ठ 164) ने लिखा है कि 1611 में शाहंशाह की मां अपने ही जहाज पर मोचा भेजने के लिए नील की खरीदारी कर रही थी। यह अवश्य ही हाजी जहाज 'रहीमी' रहा होगा, जिसका उल्लेख अन्यत्र शाहंशाह की मां के जहाज के रूप में किया गया है।
4. विचाराधीन काल के आधी सदी बाद व्यापारी की हैसियत से अपने अनुभव के बारे में लिखते हुए टैवर्नियर स्पष्ट शब्दों में बताता है कि सोने के सिक्कों की मांग बढ़ने का कारण अंशतः यह है कि 'इसके लिए बहुत कम जगह की जरूरत होती है और इसे आसानी से छिपाया जा सकता है और अंशतः यह है कि अपने पीछे अपने परिवार के लिए बड़ी-बड़ी राशियां, जिन पर राजा की निगाह नहीं पड़ सकती, छोड़ जाने के खयाल से उन्हें सुख मिलता है' (टैवर्नियर ii, 15)। बर्नियर (पृष्ठ 167) ने शाहजहां को लिखे औरंगजेब के एक पत्र को उद्धृत किया है, जिसमें मृत व्यक्ति के खजाने को सीलबंद कर देने और उसके नौकरों चाकरों को सता कर उनसे अपने मालिक की सारी संपत्ति की जानकारी प्राप्त कर लेने का जिक्र है। शायद अकबर और शाहजहां के बीच के काल में वित्त अधिकारियों की सख्ती बहुत बढ़ गई थी, लेकिन यह मानना अनुचित नहीं होगा कि अकबर के शासनकाल में भी मृत दरबारी की संपत्ति से शाही खजाना वंचित न होने पाए, इसकी सावधानी रखी जाती थी।
5. घोड़ों की कीमत दक्षिण भारत में अपेक्षाकृत अधिक थी। अरब और फारसी लोग 500 परदाओ या लगभग 1000 रुपये में गोआ में घोड़ा बेचते थे, और तट से दूर के स्थानों में उन्हें इससे भी ऊंची कीमत मिल सकती थी (पाइरार्ड, अनुवाद ii, 67)।
6. स्पष्ट ही यहां सिर्फ शब्दाडंबर नहीं है, बदायूंनी ने अकबर काल के एक राजकीय समारोह के दौरान सोने और चांदी की जंजीरों तथा यूरोप के मखमल और तुर्की के सोना जड़े कपड़ों की सज्जा से युक्त हाथियों का उल्लेख किया है (ii, 219), और टामस कोर्याट ने पिटे हुए सोने की जंजीर पहने हाथी देखे (परकास I, iv, 595)।
7. मुझे ऐसी कोई चीज नहीं मिल पाई है जिसे अकबर के शासनकाल में स्थापित उपयोगी संस्थानों या धर्मस्वों की सूची कहा जा सके। एन०एल० ला इस काल की शिक्षा क्षेत्र की उपलब्धियों को, जितना महत्व मैं देना चाहूंगा, उसकी अपेक्षा बहुत अधिक महत्व देते हैं, लेकिन वह भी स्वयं अकबर द्वारा फतहपुर सीकरी और अन्यत्र स्थापित संस्थानों के अतिरिक्त और किसी का नाम नहीं दे पाए (प्रोमोशन आफ लर्निंग इन इंडिया ड्यूरिंग महम्मडन रूल, भाग II अ० 4)।
8. डेला वेल ने व्यापार की स्थिति की अस्थिरता का एक बहुत अच्छा उदाहरण दिया है। सूरत के एक बहुत बड़े जलाशय का वर्णन करने के बाद वह कहता है कि उसे एक गैरसरकारी व्यक्ति ने बनवाया, जिसकी पुत्री या कोई वंशज आज भी जीवित है, और मैं कह नहीं सकता कि किस दैव दुर्विपाक से वह आज इतनी दरिद्र है कि उसे पेट भर रोटी भी नहीं मिलती (डेला वेल, 34)।
9. कांटी और निकितिन के विवरणों का अनुवाद मेजर कृत 'इंडिया इन द फिफटींथ सेंचुरी' में दिया गया है। उद्धरण निकितिन के अनुवाद के पृष्ठ 14 से लिया गया है। कुछ अनुच्छेदों के

संबंध में अनुवाद वुद्धि को जंचता नहीं है, लेकिन मैं मूल को पढ़ने में असमर्थ हूं, और सिर्फ इतना ही कह सकता हूं कि भारत की कुछ प्रत्यक्ष जानकारी रखने वाला अनुवादक होता तो वह ऐसे कई वाक्यों का अर्थ स्पष्ट कर सकता था जो अभी समझ में नहीं आते ।

10. हकलुइत सोसायटी द्वारा प्रकाशित वरथेमा के अनुवाद की भूमिका में (पृ० 73) कहा गया है कि हमारे विवरण मे जो दूसरा निष्कर्ष निकाला जा सकता है वह यह है कि आमतौर पर सब लोग समान रूप से सुखी और संपन्न थे। मलाबार के समाज बहिष्कृत पोलिया लोगों को छोड़ कर आबादी के विभिन्न वर्गों के लोग समृद्ध अवस्था में रहते प्रतीत होते हैं।' स्वयं इस विवरण में मुझे ऐसा कोई निश्चयात्मक कथन देखने को नहीं मिला है जिससे इस मत की पुष्टि होती हो और जो निष्कर्ष यहां निकाला गया है, वैसा निष्कर्ष निकालने के लिए यह मानकर चलना होगा कि जब वरथेमा किसी वर्ग के विषय में कुछ नहीं कहता है, तब उसका मतलब यह है कि वह वर्ग समृद्ध अवस्था में था, लेकिन हमें ऐसा मानकर चलना सर्वथा अनुचित लगता है ।

11. लंदन के एक बुनकर एन०सी० द्वारा 'द ग्रेट नेसेसिटी एंड एडवांटेज आफ प्रिजर्विंग आवर आन मैन्युफैक्चर्स शीर्षक से 1697 में लिखी एक पर्चे में ईस्ट इंडिया कंपनी की तीव्र आलोचना की गई है, क्योंकि 'उन विशाल संख्या वाले लोगों की घोर गरीबी से लाभ उठाते हुए अपने देश में सस्ता माल लाकर, उसने देश के उद्योगों को भारी क्षति पहुंचाई। इस पुस्तिका की एक प्रति ब्रिटिश म्यूजियम में सुरक्षित है। और उसे कनिंघम ने 'इंग्लिश इंडस्ट्री एंड कामर्स' (द मर्केंटाइल सिस्टम, पृ० 463) में उद्धृत किया गया है ।

12. निकितिन के अनुवादक ने पत्थर के वर्तन' (पृ० 17) के बारे में लिखा है, मैं मानता हूं, यह मिट्टी का ही वर्तन रहा होगा ।

13. फिच ने अपनी यात्रा की तिथियां तफसील से नहीं दी हैं, लेकिन वह आगरा से सितंबर के अंत में रवाना हुआ, और बंगाल पांच महीने में पहुंचा, जिसका मतलब यह हुआ कि वह ठीक सर्दी के मौसम में बनारस में रहा होगा, इसलिए मई स्पष्ट ही भूल से लिख गया है। पश्चिमी तट के पुर्तगालियों ने बरसात को सर्दी का मौसम कहा है, और उस ओर से भारत में प्रवेश करने वाले यात्री कभी कभी यह भी कहते हैं कि सर्दी मई महीने में शुरू होती है। मुझे ऐसी आशंका है कि फिच ने जब अपहासास्पद दिखने वाला यह उपवाक्य लिखा तब उसके मन में यही शब्द था ।

14. अकबर द्वारा आरंभ की गई 'सुधरी हुई' शिक्षा प्रणाली के बारे में एम० एल० ला (प्रमोशन आफ लर्निंग इन इंडिया ड्यूरिंग द मुहम्मडन पीरियड पृ० 160-162) ने जो कुछ कहा है उसके प्रति पूरा आदर भाव रखते हुए मैं यह राय जाहिर कर रहा हूं। अबुल फजल के जिस अध्याय के आधार पर ला ने यह बात कही है, उससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि उसने जो कुछ कहा है उसमें से कोई काम सचमुच किया भी गया। यह सच है कि अकबर ने एक नया और काफी व्यापक पाठ्यक्रम सुझाया, लेकिन जैसा कि मैंने तीसरे अध्याय की एक टिप्पणी में बताया है, इस के संबंध में प्रशासनिक तफसीलों के अभाव से प्रकट होता है कि बात सुझाव तक ही रह गई ।

8
भारत की संपत्ति

समकालीन धारणाएं

क्या भारत अकबर के काल में समृद्ध देश था? इस प्रश्न का उत्तर अलग-अलग ढंग से दिया जा सकता है। तात्पर्य यह है कि उत्तर इस बात पर निर्भर करेगा कि हम राष्ट्रों की संपत्ति के अनुमान की कौन-सी कसौटी चुनते हैं। मेरी समझ से विचाराधीन काल का कोई यूरोपवासी किसी राष्ट्र की समृद्धि का निर्धारण उस राष्ट्र में ऐसी वस्तुओं की प्रत्यक्ष संचित राशि के परिमाण से करेगा, जिन वस्तुओं को वह मूल्यवान मानता हो। किंतु राजनयिकों और वित्तविशेषज्ञों का जोर इस बात पर होता है कि देश में बाहर से बहुमूल्य धातुएं किस मात्रा में लगातार आ रही हैं। यद्यपि ये दोनों कसौटियां अब अपनी सार्थकता खो चुकी हैं, फिर भी इनके ऐतिहासिक महत्व का तकाजा है कि पहले हम संक्षेप में इनकी चर्चा करलें और तदुपरांत इस प्रश्न का उस रूप में विवेचन करें। जिस रूप में वह आज के अर्थशास्त्रियों के समक्ष आता है।

जैसा कि मैं पहले अध्याय में कह चुका हूं, सोलहवीं सदी में किसी साधारण यूरोपीय को विश्व के उस बड़े भाग के बारे में बहुत अस्पष्ट सी जानकारी थी जिसे वह आमतौर पर इंडीज कहता था। उसके बारे में वह अधिक से अधिक यही जानता था कि ये देश बहुत दूर हैं और इनके पास मसालों का अतुल भंडार है और उन्हीं से उसे और उसके पड़ोसियों को अपर्याप्त मात्रा में मसाले मिलते हैं। यूरोप में इन वस्तुओं की कीमतें बहुत ऊंची थीं और जहां इनकी पैदावार होती थी, वहां इनकी कीमतें बहुत कम थी, यह बात पश्चिमी दुनिया के उपभोक्ताओं की समझ में नहीं आती थी। इंडीज में बेशक मसाले और ऐसी ही दूसरी वस्तुएं विपुल मात्रा में सुलभ थीं और इन देशों की यात्रा करने वाले यात्री दरबारों और राजाओं की शान-शौकत, ठाट-बाट के किस्से अपने देशवासियों को सुनाया करते थे, जो सदा अतिरंजित ही होते हों, यह जरूरी नहीं था। भारत की संपत्ति के संबंध में जो लोक धारणा थी उसके लिए इतना पर्याप्त था। पाश्चात्य लोगों के मानस में यह धारणा कितनी बद्धमूल हो गई थी, इसका सब से अच्छा उदाहरण शायद यह है कि जब भारत के सस्ते श्रम का भय पश्चिम में पूरी तरह छा चुका था तब भी उनकी इस धारणा में कोई परिवर्तन नहीं हुआ था। जब उन्हें यह मालूम हो चुका था कि भारत के लोग कैसे घोर गरीबी में हैं, तब भी वे यही मानते रहे कि यह अत्यंत समृद्ध देश है।

एलिजाबेथ युग के राजनयिकों और वित्त विशेषज्ञों ने जिस कसौटी को अपना रखा था, उसकी सार्थकता पर आज विचार करना अनावश्यक है। अगर इस सिद्धांत को स्वीकार कर लिया जाय तो उनकी राय निस्संदेह सही थी, क्योंकि भारत में सोने-चांदी का विपुल मात्रा में प्रवेश विश्व व्यापार की एक स्थायी और प्रमुख विशेषता है। सोलहवीं सदी की ही तरह रोम साम्राज्य के आरंभिक काल में भारत अपने उत्पाद को

बेचने के लिए बड़ा उत्सुक रहता था, लेकिन बदले में दूसरे देशों की वाणिज्य वस्तुएं नहीं चाहता था, और आज की ही तरह उन दिनों भी व्यापार-संतुलन बहुमूल्य धातुओं के आयात द्वारा स्थापित किया जाता था, तथा इनका आयात इतने बड़े पैमाने पर होता था कि उसके बारे में सुनकर आदमी चौंक उठे। विचाराधीन काल में यात्रियों की दिलचस्पी का यह एक आम विषय रहा है, क्योंकि ये यात्री सिर्फ भ्रमणार्थी नहीं, बल्कि कारोबारी और दुनियादारी लोग भी थे। कोलबर्ट को लिखे अपने पत्र में बर्नियर ने विस्तार से इसकी चर्चा की, और अन्य अनेक लेखकों ने भी इसका उल्लेख किया है, लेकिन हमारे वर्तमान प्रयोजन के लिए टामस रो कि इस उक्ति को उद्धृत कर देना शायद पर्याप्त होगा कि 'एशिया को समृद्ध बनाने के लिए यूरोप अपना खून पसीना एक करता है।' यह छोटा-सा वाक्य समकालीन दृष्टिकोण का पूर्ण निदर्शन करता है।

बहुमूल्य धातुएं भारत में विभिन्न स्रोतों से आती थीं। जैसा कि हम देख चुके हैं पुर्तगाल के सरकारी निर्यात में प्रायः पूर्णतः चांदी ही हुआ करती थी, जिससे भारतीय वस्तुएं खरीद कर पूर्व और पश्चिम को भेजी जाती थीं। लाल सागर के व्यापार से विशाल धनराशि प्राप्त होती थी, क्योंकि भारत द्वारा इस क्षेत्र को निर्यात की गई अधिकांश वस्तुएं मोचा में नकद बेची जाती थी। फारस के साथ होने वाले व्यापार मे भी काफी चांदी प्राप्त होती थी और सोफाला तथा मोजांबिक की पुर्तगाली बस्तियां मुख्यतः पूर्व अफ्रीका में सुलभ सोने के लोभ से ही बसाई गई थीं। भारत को पश्चिम की तरह पूर्व से भी सोना-चांदी मिलते थे—पेगू, सियाम, पूर्वी द्वीप समूह और जापान, आदि सभी देशों से सिवाय चीन के, जहां इन धातुओं के निर्यात पर प्रतिबंध था। लगता है, भारत में भी चीन की ही तरह बहुमूल्य धातुओं के निर्यात पर रोक लगी हुई थी। जैसा कि टेरी ने लिखा, 'जो सोना-चांदी लेकर आए और बदले में यहां की वाणिज्य वस्तुएं खरीद कर ले जाए, ऐसे लोगों का, चाहे वे किसी भी राष्ट्र के हों, यहां स्वागत है, लेकिन सहज ही समझ में नहीं आता कि क्यों यहां से थोड़ी-सी भी चांदी बाहर भेजना यहां अपराध माना जाता है। इस प्रकार इस देश में सोना-चांदी बराबर विपुल मात्रा में आ रहा था, जब कि यहां से यदि बाहर भेजा भी जाता रहा हो तो उसकी मात्रा अत्यल्प होती थी। फलतः देश में सोने-चांदी के भंडार में निरंतर वृद्धि होती जा रही थी। जो सोना-चांदी इस तरह भारी मात्रा में देश में आ रहा था, वह कहां जाता था और उसका क्या किया जाता था, यह प्रश्न आर्थिक दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है। इसका कुछ हिस्सा तो क्रमशः सिक्के ढालने के काम आता था। उत्तर में इस प्रयोजन में मुख्यतः चांदी खपती थी तथा दक्षिण में सोना और चांदी दोनों। उद्योगों में भी इन धातुओं की बहुत बड़ी मात्रा में खपत होती थी। बेशकीमती सूती कपड़ों में सोने के तार का काम किया जाता था। चांदी की थालियों का धनाढ्य लोगों के घरों में आम उपयोग होता था। जो भी समर्थ थे वे आभूषण पहनते थे, और जानवरों, गाड़ियों तथा विलासिता की अन्य वस्तुओं को सजाने में इनकी खपत की अच्छी खासी गुंजाइश थी। फिर भी इन तमाम प्रयोजनों में विपुल मात्रा में आने वाले सोने चांदी का केवल एक अंश ही खप पाता था, और शेष इस तरह से जमा करके रख लिया जाता था कि उत्पादन कार्य में उसका कोई उपयोग ही नहीं हो पाता था। विपुल मात्रा में बहुमूल्य धातुएं जमा करके रखना मूलतः हिंदू सभ्यता की विशेषता थी। इन धातुओं के कोष मंदिरों और दरबारों में केंद्रित थे, धार्मिक संस्थाएं तो अपने कोषों की वृद्धि धीरे-धीरे करती ही रहती थीं और जहां तक इन कोषों के धर्मेतर स्वामियों का संबंध

है, सोलहवीं सदी में ऐसी एक कहावत थी कि राजा अपने पूर्वपुरुष के कोष का स्पर्श कभी नहीं करता, बल्कि अपना अलग कोष खड़ा करता है। यह कहावत उन दिनों इतनी प्रचलित थी कि लगता है, इसका संबंध शायद वास्तविक स्थिति से था। उदाहरण के लिए, पाइस ने लिखा है कि विजयनगर में हर सम्राट की मृत्यु के बाद उसके कोष को सीलबंद कर दिया जाता था और बहुत आवश्यक होने पर ही उसे खोला जाता था। बाबर का कहना है कि बंगाली लोग बहुमूल्य धातुओं के संग्रह को बहुत प्रतिष्ठाजनक कृत्य मानते थे, लेकिन किसी राजा द्वारा अपने पूर्व पुरुषों द्वारा संग्रहीत कोष को खर्च करना लज्जास्पद समझा जाता था। इन कोषों की विशालता का सबसे अच्छा साक्ष्य यह तथ्य है कि किस प्रकार इन्हीं के प्रलोभन के कारण समय-समय पर भयंकर आक्रमण होते रहते थे। उदाहरण के लिए, ग्यारहवीं और बारहवीं सदियों के मुसलमान आक्रमणकारियों ने उत्तर भारत को इन कोषों से प्रायः रिक्त ही कर दिया और बहुत समय तक ये इसी अवस्था में रहे। फिर अलाउद्दीन ने जब हिंदू शासित दक्षिण भारत पर आक्रमण किए तब ये कोष फिर भर गए, क्योंकि उन आक्रमणों के दौरान मनों सोना और हीरे मोती लूटे गए—इतने कि सिपाही चांदी को इसलिए फेंक देते थे कि उसका भारी बोझ ढोना असंभव था। पंद्रहवीं सदी में उत्तर भारत का भंडार फिर चुकने लगा। समकालीन स्रोतों से ज्ञात होता है कि इब्राहीम लोदी के शासन काल में सोना और चांदी बहुत कठिनाई से मिलते थे। इस कमी को आगे चलकर मुगल बादशाहों ने गुजरात, मध्य भारत और दकन से सोना-चांदी संग्रह करके पूरा किया। इन और ऐसे ही अन्य अवसरों पर कितनी बड़ी-बड़ी राशियां एक के कब्जे से दूसरे के अधिकार में जाती थीं, इसके संबंध में समकालीन वृत्त लेखकों के कथनों को उद्धृत करना अनावश्यक होगा। इसके सिर्फ एक उदाहरण के रूप में हम इस तथ्य का उल्लेख कर सकते हैं कि तालीकोट की लड़ाई के बाद, कहते हैं, विजयनगर का राज-परिवार अपने साथ दस करोड़ पौंड से अधिक मूल्य का सोना, हीरे तथा रत्न ले गया।[1] इस राशि की तुलना में अकबर का कोष जिसकी सिर्फ नकद राशि का अनुमान विंसेंट स्मिथ ने चार करोड़ पौंड लगाया है, साधारण प्रतीत होता है, किंतु स्मरण रहे कि अकबर के पास आरंभ में प्रायः कुछ नहीं था, जब कि विजयनगर का कोष कम से कम अंततः पूर्व संचित था।

शासकों और धार्मिक संस्थाओं के न्यासियों से भिन्न, सामान्य लोगों में संग्रह की यह प्रवृत्ति कहां तक थी, यह तय कर पाना आसान नहीं है। टैवर्नियर का दावा है कि मुगल दरबार के बहुत से सरदार सोने का संग्रह करते थे। मुझे इस बात की बहुत संभावना दिखाई देती है कि इस काल की राजनीतिक परिस्थितियों को ध्यान में रख कर विजयनगर के सरदार विशाल धनराशियां एकत्र करने को कटिबद्ध थे, यद्यपि अपने इस कथन के समर्थन में मैं कोई साक्ष्य उद्धृत नहीं कर सकता। सफल व्यापारियों के पास कुल मिलाकर नकद राशियां भारी मात्रा में संग्रहीत रही होंगी। आज की शब्दावली का प्रयोग करें तो इनमें से कुछ राशियां सुरक्षित निधि के रूप में रही होंगी और कुछ व्यापारिक उद्यमों में लगाए जाने के लिए तैयार रखे गए कोषों के रूप में, यद्यपि इन दोनों तरह की राशियों के बीच कोई विभाजन रेखा खींचना कठिन है। वस्तुओं की तुलना में सोने का मूल्य बहुत अधिक था, इसलिए निम्नतर वर्गों के लोग सोने का बहुत कम संग्रह कर पाते होंगे। सोने की सिर्फ एक मुहर पाने के लिए किसान को अपनी दो-तीन एकड़ जमीन की पैदावार देनी पड़ती होगी, और शहरी मजदूर को अपनी 200 दिनों की कमाई।[2] फिर भी, हमें यह स्वीकार करना होगा कि कुछ सिक्के या जवाहरात दबाकर रखने और जब मौका मिले

तभी उसमें कुछ और जोड़ देने की आदत यहां के लोगों में युगों से विद्यमान थी और आज भी है। इसलिए इसमें कोई संदेह नहीं कि भारी मात्रा में आने वाले सोने-चांदी के एक से कम एक हिस्से को निम्नतर वर्गों के अपेक्षाकृत सुखी संपन्न लोग भी दवा कर रखते होंगे। इस तरह, भारत में आने वाली बहुमूल्य धातुओं को लोग बराबर किसी न किसी प्रकार से ठिकाने लगाते रहते थे, यह हांकिस के शब्दों में कहें तो 'सभी राष्ट्र यहां सिक्के लाते हैं और बदले में चीजें ले जाते हैं और भारत में ये सिक्के दवा दिए जाते हैं, और इन्हें बाहर नहीं आने दिया जाता है।'

आधुनिक धारणाएं

इस तरह हम देखते हैं कि सोलहवीं सदी के यूरोपवासी भारत को संपन्न देश मानते थे, जिसका कारण या तो यह था कि वे जिन्हें अति बहुमूल्य वस्तुएं समझते थे उनका विशाल भंडार भारत के पास था या यह कि वह दूसरे देशों की बहुमूल्य धातुओं को बराबर स्वायत्त करता जा रहा था। हमने यह भी देखा है कि दोनों तरह के लोगों की मान्यताएं मूलतः तथ्यसंगत हैं। अब हमें यह देखना है कि क्या भारत उस अर्थ में समृद्ध था जिस अर्थ में समृद्धि शब्द को आज के अर्थशास्त्री स्वीकार करते हैं। संपत्ति की आधुनिक कसौटी वस्तुओं के रूप में होने वाली आय है, या ज्यादा सही शब्दों में कहें तो यह कसौटी आबादी के साथ उस आय का संबंध है। संपत्ति से आगे बढ़कर जब हम लोगों की सुख-सुविधा और उनके कल्याण की बात सोचते हैं तो हमें इस बात का भी ध्यान रखना पड़ता है कि उस आय का वितरण किस प्रकार हो रहा है, क्योंकि किसी समाज में जितनी अधिक समानता होगी वह समाज उतना ही अधिक संतुष्ट होगा, लेकिन जब तक हम किसी पूरे देश को एक इकाई मानकर उसकी संपत्ति का विचार कर रहे हैं, तब तक वितरण का प्रश्न वास्तव मे उठता ही नहीं। पिछले अध्यायों में मैंने 'औसत आय' में हुए परिवर्तनों का अनुमान लगाने का प्रयत्न किया है, मतलब यह कि जनसंख्या के अनुपात में एक-एक स्रोत से प्राप्त होने वाली वस्तु-रूपी आय में हुए परिवर्तनों का अंदाज लगाने की मैंने कोशिश की है। अब तक की छानबीन से हम आय के बारे में जिन परिणामों पर पहुंचे हैं उनका सार प्रस्तुत करके हम आधुनिक अर्थशास्त्रियों की दृष्टि से भारत की संपत्ति का अनुमान लगाने का प्रयत्न की शुरुआत कर सकते हैं।

कृषि के संबंध में हमने देखा कि देश के विभिन्न भाग अलग-अलग ढंग से प्रभावित हुए हैं, लेकिन जब हम भारत को एक इकाई मान कर विचार करते हैं, तब यह असंभव प्रतीत होता है कि ग्रामीण आबादी की कुल औसत आय में कोई भारी परिवर्तन आया हो। हो सकता है कि उसमें कुछ कमी आई हो, हालांकि अधिक संभावना इसी बात की है कि कुछ वृद्धि ही हुई हो, लेकिन दोनों में से किसी भी हालत में अंतर इतना अधिक नहीं होगा कि वह आर्थिक स्थिति में किसी निश्चित परिवर्तन का सूचक हो। और हमारा यह मानना भी अनुचित न होगा कि कुल आबादी के मुकाबले ग्रामीण आबादी के अनुपात में कोई भारी परिवर्तन नहीं आया है। आज की ही तरह अकबर कालीन आबादी भी कृषि प्रधान थी और यदि उन दिनों आज के अनुपात में अधिक सैनिक व घरेलू नौकर थे, तो आज शहरों में मजदूरी करने वाले लोगों की संख्या काफी बड़ी है। इस प्रकार हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि कुल आबादी की

प्रति व्यक्ति औसत कृषि-आय आज भी लगभग वही है जो अकबर काल में थी। तो जो परिणाम अब तक प्राप्त हुए हैं उनका सार निम्न प्रकार होगा :

जहां तक प्राथमिक उत्पादनों का संबंध है, उन दिनों भी कृषि से लगभग वही औसत आय थी जो आज है। जंगलों से भी प्राय: यही औसत आय थी। मछलीगाहों से शायद कुछ अधिक औसत आय होती थी और खनिजों से प्राय: निश्चित ही औसत आमदनी कम होती थी।

जहां तक मानव-निर्मित वस्तुओं का संबंध है, कृषि उद्योगों के उत्पादन में कोई बड़ा परिवर्तन दिखाई नहीं देता, विविध दस्तकारियों, ऊन की बुनाई और जहाजों के अलावा परिवहन के अन्य साधनों के निर्माण से होने वाली औसत आय में काफी वृद्धि हुई है लेकिन रेशमी वस्त्रों की बुनाई से होने वाली औसत आय में कमी आई है।

जहाज निर्माण, रुई तथा पटसन की बुनाई या विदेश व्यापार से होने वाली औसत आय का अनुमान अभी नहीं लगाया गया है, और हमारे वर्तमान प्रयोजनों के लिए आंतरिक व्यापार का विचार करना अनावश्यक है, क्योंकि हम वस्तुओं का मूल्य उनके उत्पादन-स्थल पर नहीं बल्कि उपभोग स्थल पर लाएंगे।

इन परिणामों को समेकित करते हुए महत्व की दृष्टि से विभिन्न वस्तुओं के अंतर का खयाल रखना आवश्यक है। उदाहरण के लिए, रेशम-उद्योग का परिमाण बहुत कम था, और पूरे देश की आबादी को ध्यान में रख कर विचार करें तो इस उद्योग से प्राप्त कुल आय में आई भारी कमी प्राय: नगण्य दिखाई पड़ेगी। इसी तरह मछलीगाहों की आय में आई कमी का भी कोई विशेष महत्व नहीं हो सकता। लेकिन इन कमियों के मुकाबले खनिज पदार्थों और परिवहन-साधनों के निर्माण तथा विविध दस्तकारियों की आय में हुई वृद्धि बहुत अधिक है। मगर इन आयों को जब हम संपूर्ण आबादी के बहुसंख्य हिस्से के प्रयत्नों के परिणामस्वरूप प्राप्त होने वाली कृषि आय के मुकाबले रखते हैं तो इनमें हुई वृद्धि बहुत छोटी जान पड़ती है। गरज यह है कि जहां तक आय के अनुमानों का संबंध है, हम यह निष्कर्ष निकाल सकते है कि प्राय: निश्चय ही अकबर के काल में भारत आज की अपेक्षा अधिक समृद्ध नहीं था, बल्कि वास्तविक स्थिति शायद यह थी कि वह कुछ गरीब ही था। यदि कोई इतना बड़ा परिवर्तन हुआ है जिससे स्थिति में कोई विशेष अंतर आया है तो उस परिवर्तन की तलाश हमें आय के उन तीन स्रोतों में करनी चाहिए जिनका अनुमान हमने अब तक नहीं लगाया है और जिनका आपस में घनिष्ठ संबंध है। यदि भारत आज की अपेक्षा अधिक समृद्ध था तो उसे वह समृद्धि प्रदान करने वाली अतिरिक्त आय के स्रोत थे—यहां निर्मित जहाज और कपड़े, जिनका स्थान निर्यात के माल में सर्वोपरि था, और इन कपड़ों के बदले जो विदेशी माल उसे प्राप्त होता था उसका अतिरिक्त मूल्य।

प्रतिवर्ष कितने जहाज बनाए जाते थे, इसकी कोई सीधी जानकारी हमें नही है, लेकिन इस काल में भारत में किस परिमाण में जहाज थे, इसका मोटा अंदाजा लगाना और उसी परिमाण में जहाज बराबर सुलभ रहें, इसके लिए आवश्यक उनकी निर्माण दर का ऐसा ही मोटा हिसाब लगाना संभव है। हम देख चुके हैं कि विदेशी बंदरगाहों के लिए प्रतिवर्ष प्रस्थान करने वाले जहाजों की कुल क्षमता लगभग

60,000 टन से कुछ कम रही होगी। इस आंकड़े को आधार बनाकर चलें तो कम से कम ऐसी आशंका नहीं रहेगी कि हम वार्षिक निर्माण को घटा कर आंकें। यूरोप में बनाए गए जहाजों (कुल के लगभग दसवें भाग) को इस क्षमता में से घटाना पड़ेगा, किंतु दूसरी ओर लाल सागर और पेगू, मलक्का, जावा तथा सुमात्रा के बीच के प्रत्यक्ष व्यापार में इस्तेमाल किए जाने वाले भारतीय जहाजों को इस क्षमता में जोड़ना पड़ेगा; इस तरह हम यह मान सकते हैं कि उधर जो कमी आएगी उसे यह वृद्धि संतुलित कर देगी। फलतः स्थिति ज्यों की त्यों रहेगी। सुरक्षित जहाजों के लिए कोई गुंजाइश रखने की जरूरत नहीं है, क्योंकि मौसमों से उत्पन्न परिस्थितियों के फलस्वरूप जहाज मालिक सुरक्षित जहाजों को भी बाहर भेजने को लगभग विवश हो जाते थे। अगर जहाज ठीक समय पर प्रस्थान नहीं करता था तो पूरे वर्ष की आमदनी से हाथ धोना पड़ता था, और लंबे समय तक बंदरगाह में रुके रहने से शायद और भी गंभीर क्षति होती थी।[3] इसलिए हम समुद्रों में चलने वाले भारतीय व्यापारिक जहाजों की कुल क्षमता 60,000 टन मान सकते हैं, तटयानों की क्षमता आंकने में उदारता से काम लें तो भी वह शायद 40,000 टन से अधिक नहीं बैठेगी, और युद्धपोतों की क्षमता 20,000 टन मानी जा सकती है। इस प्रकार कुल जहाजों की क्षमता 1,20,000 आती है।[4] इतनी जहाजरानी को चालू रखने के लिए प्रति वर्ष जितने जहाजों का निर्माण करना पड़ता होगा, वह इस बात पर निर्भर रहा होगा कि वार्षिक क्षति की दर क्या थी, और आधुनिक मापदंड से उसकी दर काफी बड़ी थी। कैरेक की औसत जिंदगी, लगता है, तीन साल थी क्योंकि पाइरार्ड का कहना है कि वे आमतौर पर साल में सिर्फ दो या ज्यादा से ज्यादा तीन चक्कर लगाते थे, लेकिन इन जहाजों की अधिकांश क्षति समुद्रों के उन हिस्सों में होती थी जहां भारतीय जहाज नहीं चलते थे, अर्थात गुडहोप अंतरीप के आसपास या उससे भी पश्चिम के सागर क्षेत्र में। इसलिए यह कहना निरापद होगा कि भारतीय जहाज औसतन ज्यादा दिन चलते थे, लेकिन कितना यह अनुमान का विषय है। जहाजों के टकराकर टूटने और उन में आग लग जाने तथा उन पर शत्रुओं द्वारा कब्जा कर लिए जाने से होने वाली क्षति की जो तफसीलें उपलब्ध हैं, उनसे लगता है कि उनकी औसत आयु निश्चय ही पांच साल से अधिक होती होगी, लेकिन दस वर्ष में मुझे संदेह है। इस आधार पर देखें तो वार्षिक उत्पादन 12,000 और 24,000 टन के बीच रहा होगा, लेकिन अगर औसत आयु मेरे अनुमान से अधिक होती हो तो यह कम हो जाएगा। मैंने जो आंकड़े दिए हैं वे 6,000 से 12,000 नेट टन के बराबर होंगे। इस तरह उन दिनों प्रतिवर्ष निर्मित जहाजों की क्षमता *1914* के मुकाबले अधिक थी, लेकिन बहुत अधिक नहीं, क्योंकि 1914 में 4,5000 से 7,800 नेट टन क्षमता के जहाज बनाए गए।[5] इसलिए आबादी के अंतर की दृष्टि से जहाज-निर्माण उद्योग की अवनति हुई है, लेकिन पूरे देश की आबादी के अनुपात में यह कमी स्पष्ट ही नगण्य प्रतीत होती है।

अब विदेश व्यापार से प्राप्त आय पर विचार करें। स्मरणीय है कि अकबर काल में इससे होने वाले लाभ की दर का कोई अनुमान नहीं पेश किया गया है। फिर भी पूरे देश के लिए विदेशी व्यापार का क्या अर्थ था इसका कुछ अंदाजा प्रति व्यक्ति जहाजरानी क्षमता से तुलना करके पा सकते हैं। हम देख चुके हैं कि अधिकतम संभावित क्षमता 36,000 नेट टन के बराबर थी, और पहले अध्याय में

आबादी का जो अधिकतम अनुमान पेश किया गया है उसके आधार पर औसत आय की जानकारी के लिए एक टन क्षमता से मिलने वाले लाभ को (चाहे वह जितना भी रहा हो) कम से कम लगभग 2,800 लोगों में विभाजित करना होगा। आधुनिक काल के लिए, एक टन क्षमता के लाभ को 45 से भी कम लोगों में विभाजित करना होता है। और बिना किसी पूर्वकल्पना के हम बखूबी यह निष्कर्ष निकाल सकते है कि समुद्री व्यापार से होने वाली औसत आय आज की अपेक्षा शायद कम रही होगी और किसी भी हालत में इतनी अधिक तो नहीं ही रही होगी जिससे संपूर्ण भारत की कुल आबादी की संपूर्ण औसत आय में कोई बड़ा अंतर पड़ सकता हो। भूमि सीमांतों पर होने वाले व्यापार के संबंध में हमें जो जानकारी उपलब्ध है उससे प्रकट होता है कि लाभ की दर जो भी रही हो, उसका परिणाम संपूर्ण देश की दृष्टि से सर्वथा महत्वहीन था।[6]

आय के शेष स्रोतों से अर्थात रुई और पटसन के कपड़ों से प्राप्त आय पर किंचित अधिक विस्तार से विचार करने की आवश्यकता है। हम देख चुके है कि संभव है, अकबर काल में आबादी का एक बहुत बड़ा हिस्सा पटसन का कपड़ा पहनता रहा हो, और हम ऐसा भी सोच सकते हैं कि पटसन पैदा करने वाले अत्यंत सीमित क्षेत्र से काफी दूर पड़ने वाले इलाकों में दूसरी वस्तुओं को बांधने लपेटने के लिए मोटे सूती कपड़े का भी इस्तेमाल होता रहा होगा और चूंकि इन दोनों तरह के रेशों का समय-समय पर एक-दूसरे के स्थान पर उपयोग होता रहा है, इसलिए तुलना की किसी कोशिश का मतलब यह है कि इन दोनों तरह के कपड़ों में इनमें प्रयुक्त सामग्री पर आधारित जो अंतर है उसे हमें भुला देना चाहिए, और सिर्फ कपड़े के बारे में विचार करते हुए जो तथ्य मिल सकते हैं उन्हें गजों में प्रस्तुत करना चाहिए। कपड़ा बनाने में प्रयुक्त सामग्री और कपड़े के स्तर के अंतर को नजर अंदाज करने से जो भूल हो सकती है वह उतनी बड़ी नही होगी जितनी बड़ी दिखती है। कारण, हम कृषि से प्राप्त होने वाली आय के हिस्से के रूप में दोनों तरह की सामग्री पर पहले ही विचार कर चुके हैं, और अब हमारा सरोकार सिर्फ इस बात से है कि निर्माण की प्रक्रियाओं के फलस्वरूप उसके मूल्य में कितनी वृद्धि हुई। हमें यह स्वीकार करना होगा कि औसत स्तर आज की अपेक्षा सोलहवीं सदी में ऊंचा था, क्योंकि अपेक्षाकृत अधिक बड़े अनुपात में कपास से कपड़ा बनाया जाता था, लेकिन दूसरी ओर हमें इस बात का भी ख्याल रखना होगा कि आजकल मिलों में जो कपड़े बनाए जाते है उनमें से अधिकांश की चौड़ाई अधिक होती है। इस तरह अकबर काल का एक गज 'औसत' कपड़ा आज की अपेक्षा छोटा, लेकिन बेहतर किस्म का होता था। कुल मिला कर एक साधारण तुलना के लिए—और संभव केवल वही है—गज कोई अनुपयुक्त इकाई नहीं है।

आधुनिक काल के तथ्यों से आरंभ करते हुए हम कह सकते हैं कि उत्पादन, आयात और निर्यात को ध्यान में रखकर देखा जाए तो 1911–14 के औसत के आधार पर भारत ने कपास और पटसन से बने कपड़ों का प्रति व्यक्ति 18½ गज वार्षिक उपभोग किया। इसी आधार पर उत्पादन का औसत 15 से 15½ गज आता है, और इस प्रकार प्रति व्यक्ति औसतन 3 गज या इससे कुछ अधिक कपड़े के आयात की गुंजाइश रह जाती है। इसलिए हमें जिस सवाल का जवाब ढूंढना है वह यह है कि सोलहवी सदी के अंत में यहां का प्रति व्यक्ति औसत उत्पादन 15 गज से अधिक था या कम।

उस काल में रुई और पटसन के बने कपड़े का आयात नहीं होता था। भारत में बने कपड़ों में से उपभोग भी किया जाता था और बाहर भी भेजा जाता था। निर्यात का एक मोटा अंदाजा जहाजों में सुलभ टन क्षमता से लगाया जा सकता है, हमने अधिकतम क्षमता 60,000 टन कूती है। निर्यात की मुख्य वस्तु कपड़ा था, लेकिन बहुत सी दूसरी किस्म की चीजों का भी निर्यात होता था और इनमें से कुछ वजन और आकार में बहुत भारी और बड़ी होती थीं। ऐसा बहुत कम ही होता है कि किसी देश के निर्यात में किसी एक प्रकार की वस्तु का अनुपात आधा भी हो, इसलिए यदि हम उपर्युक्त क्षमता में से आधा कपड़ों के निर्यात के लिए सुरक्षित मान लें तो इस बात का कोई खतरा नहीं रह जाएगा कि निर्यात को हम कम करके आंकें। इस आधार पर कपड़े का निर्यात अधिक से अधिक 20 करोड़ गज रहा होगा, यद्यपि मैं खुद यह मानता हूं कि यह बहुत बढ़ा कर दिखाया गया परिमाण है। आबादी का हमने जो न्यूनतम अनुमान लगाया है, उसको ध्यान में रख कर देखें तो प्रति व्यक्ति औसत वार्षिक निर्यात दो गज का बैठता है। वर्तमान उत्पादन में से इतना निकाल दें तो वह औसतन 13 गज बच रहता है, और अब हमें इस सवाल का जवाब ढूंढना है कि अकबर काल में कपड़ों का उपभोग इससे अधिक था या कम। उपभोग की दो मुख्य श्रेणियां हैं— पैकिंग (आजकल $2\frac{1}{2}$ गज औसतन) और पहनावा ओढ़ावा (आजकल औसतन 16 गज) पैकिंग में इस्तेमाल होने वाले कपड़े का परिमाण व्यापार के परिमाण पर निर्भर होता है, और पहले हम जिन आंकड़ों पर विचार कर चुके हैं, उनसे प्रकट होता है कि वर्तमान स्तर से देखने पर वह परिमाण बहुत मामूली था। इसलिए हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि पूर्ववर्ती काल में पैकिंग के लिए शायद प्रति व्यक्ति औसतन एक गज के एक छोटे से हिस्से के बराबर कपड़े का इस्तेमाल होता होगा। पहनने ओढ़ने के कपड़े के बारे में हम पिछले अध्याय में देख चुके हैं कि सारे देश में आम लोग आज की अपेक्षा कम कपड़े पहनते थे, इसलिए वर्तमान आंकड़ा (16 गज) अकबर कालीन आंकड़े से अधिक है। अभी हमें जितना कुछ मालूम है उसके आधार पर यह हमारा सिर्फ अनुमान है। अगर हम मान लें कि पहने ओढ़े जाने वाले कपड़े का औसत 12 गज था तो कुल उपभोग 13 गज से कम रहा होगा, और आज के लगभग 15 गज के मुकाबले कुल औसत उत्पादन भी कम रहा होगा। अगर हम अनुमान लगाएं कि पहनने ओढ़ने पर औसतन 10 गज कपड़े का इस्तेमाल होता था तो इसका मतलब होगा कि कुल उत्पादन और भी कम रहा होगा। अगर हम यह मानना चाहें कि उत्पादन आज की अपेक्षा अधिक था तो हमें यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि लोग आमतौर पर लगभग आज के जितना ही कपड़ा इस्तेमाल करते थे, हालांकि घर से बाहर तो उतना भी नहीं। मगर हम देख चुके हैं कि बात ऐसी नहीं थी। अंत में आजकल सूत का जो भारी निर्यात किया जाता है, उसके लिए भी गुंजाइश रखनी चाहिए। अकबर काल में ऐसा कोई निर्यात नहीं होता था। यदि तैयार कपड़े का उत्पादन आज के बराबर रहा हो, तब भी हम आजकल के उत्पादन में इस अंशतः तैयार माल को शामिल करके देखते हैं तो अकबर काल का पलड़ा हल्का पड़ता है।

किसी हद तक इस जटिल विश्लेषण का सामान्य परिणाम यह निकलता है कि हमें इन निम्नलिखित संभावनाओं के बीच चुनाव करना है: (क) या तो हम यह मानें कि हमने अकबर कालीन आबादी का जो न्यूनतम दस करोड़ का अनुमान लगाया है

उससे आवादी कम रही होगी, (ख) अथवा यह स्वीकार करें कि निर्यात जहाजों की अधिकतम टन क्षमता का हमने जो 60,000 का अनुमान लगाया है उससे उनकी क्षमता अधिक थी, (ग) या समकालीन विवरणों से जितना प्रकट होता है उसकी अपेक्षा अधिक आंतरिक उपभोग होता था, (घ) या फिर यह स्वीकार लें कि प्रति व्यक्ति जितने कपड़े का उत्पादन होता था वह निश्चित रूप से आज की अपेक्षा अधिक नहीं था, बल्कि हो सकता है कुछ कम ही रहा हो। जो पाठक अकवर कालीन आर्थिक अवस्था के बारे में पिछले अध्यायों में निकाले गए निष्कर्षों से सहमत होंगे वे चौथे विकल्प को ही सबसे अधिक संभावित और स्वीकार्य मानेंगे। जो यह सिद्ध करना चाहते हों कि अकवर काल में आज की अपेक्षा उत्पादन काफी अधिक था उन्हें यह वतलाना पड़ेगा कि मेरे निष्कर्षों में से कुछ या सब के सब गलत हैं। इसमें संदेह नहीं कि उन दिनों तैयार किए जाने वाले कपड़े का औसत स्तर आज की अपेक्षा ऊंचा था, लेकिन इस अंतर के अतिरंजित रूप में बताए जाने की भी बहुत अधिक संभावना है। वाहर के वाजारों में कुल उत्पादन का एक छोटा सा अनुपात ही खपता था, भारत के उच्चतर वर्गों के उपभोग का परिमाण बहुत साधारण था और हमें यह मानना होगा कि जितना कपड़ा बुना जाता था उसमें से एक बहुत बड़े हिस्से का स्तर वही था जो आज के मोटे और टिकाऊ कपड़े का है। इसलिए मैं नहीं समझता कि स्तर के अंतर के लिए कोई बड़ी गुंजाइश रखने की जरूरत है। यदि अकवर कालीन कपड़े का स्तर कुछ ऊंचा था तो हम देख चुके हैं कि आजकल बुने जाने वाले कपड़े की चौड़ाई औसतन अधिक होती है।

इस प्रकार जहाज निर्माण, विदेश व्यापार और वस्त्र उत्पादन-आय के इन तीनों स्रोतों के विवेचन से मुझे यह निष्कर्ष निकालना तर्कसंगत जान पड़ता है कि उनसे आज की अपेक्षा इतनी अधिक आय नहीं होती होगी जिससे देश की औसत आय आज की अपेक्षा बहुत अधिक मानी जा सकती हो। हमारे विवेचन के परिणाम को इन शब्दों में शायद ज्यादा संक्षिप्त और सुगठित रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है: यदि यह स्वीकार कर लिया जाए कि आम लोग आज से कम कपड़ा पहनते ओढ़ते थे तो पूरा प्रश्न आवादी के अनुपात में जहाजरानी के औसत पर आ जाता है। अब यह सावित करने के लिए कि भारत अकवर के अधीन अधिक समृद्ध था, हमें यह दिखाना होगा कि भारत की आवादी का एक बहुत बड़ा हिस्सा जहाज वनाने और उनमें लादने के लिए कपड़ा तैयार करने में लगा हुआ था। यह स्वीकार किया जा सकता है कि जिस यात्री का अवलोकन क्षेत्र गोआ और दीव के वीच के तट तक ही सीमित था उसके मन पर ऐसी छाप पड़ सकती थी, लेकिन मैं नहीं समझता कि दकन में सूरत से गोलकुंडा तक गोलकुंडा से लाहौर के उत्तरी भाग तक और लाहौर से गंगा के मुहाने तक के घने आवाद क्षेत्रों का भ्रमण करने के वाद भी उस यात्री की यह धारणा कायम रहती होगी। जब हम भारत की यात्रा करने वाले यात्रियों की दृष्टि से भारत को एक इकाई के रूप में देखते हैं तो हमारे सामने कृषि प्रधान आवादी आती है और तव हम महसूस करते हैं कि विदेश व्यापार की गतिविधियों में लगे लोगों की संख्या कुल आवादी के अनुपात में नगण्य रही होगी।

इस प्रकार सोलहवीं सदी के अंत में उत्पादन की सभी महत्वपूर्ण शाखाओं पर हम विचार कर चुके हैं, और अब हम इस स्थिति में हैं कि इस अध्याय के आरंभ में हमने जो प्रश्न उठाया था उसका सामान्य उत्तर दे सकें। हमारा प्रश्न था : क्या भारत

इस अर्थ में समृद्ध था कि उसकी आबादी की प्रति व्यक्ति औसत आय का परिमाण पर्याप्त था ? उत्तर यह है कि लगभग निश्चय ही भारत आज की अपेक्षा अधिक समृद्ध नहीं था, और संभव है कि वह कुछ गरीब ही रहा हो । यह सच है कि देश ऐसी वस्तुओं का उत्पादन करता था जिन्हें दूसरे राष्ट्र ललक के साथ खरीदते थे, और इन वस्तुओं की बिक्री से देश में बहुमूल्य धातुओं का भंडार एकत्र होता जा रहा था, और इसलिए ऐसी आर्थिक मान्यताओं के आधार पर जो आज सर्वथा अस्वीकार्य हैं कुछ लोगों ने भारत की संपत्ति के संबंध में यदि गलत धारणाएं बना लीं तो वे साम्य हैं । लेकिन जब हम भव्य दिखने वाले विदेश व्यापार के सम्मोहन के प्रभाव से निकल कर अपना ध्यान संपूर्ण देश के साधनों पर केंद्रित करते हैं तब हमारा निष्कर्ष यही होता है कि आज की ही तरह तब भी भारत बेहद गरीब था । जो जानकारी उपलब्ध है उससे मुझे ऐसा लगता है कि वस्तुओं के रूप में औसत आय शायद आज की अपेक्षा भी कम थी । इस जानकारी से इस बात का निश्चित प्रमाण नहीं मिलता कि संपत्ति के स्रोतों में वृद्धि हुई है, लेकिन इसके आधार पर यह निष्कर्ष निकालना सर्वथा उचित होगा कि उत्पादन की अपर्याप्तता, जो आज के भारत का सबसे प्रमुख आर्थिक तथ्य है सोलहवीं सदी के अंत में भी प्रायः इतना ही सच था ।

वितरण

अब तक हमने आय को समग्र रूप से लेते हुए उस पर विचार किया है और जहां जरूरत हुई वहां देश की पूरी आबादी के बीच उसे समान रूप से विभाजित करके आवश्यक निष्कर्ष निकाले हैं । अब हम उसके वास्तविक वितरण पर विचार करेंगे । इस विषय पर हम जिन मुख्य निष्कर्षों पर पहुंचे हैं वे संक्षेप में निम्न प्रकार हैं :

(1) उच्चतर वर्गों के लोग आज की अपेक्षा अकबर काल में अधिक शान-शौकत से रह पाते थे ।

(2) हमें जो थोड़ी बहुत सी जानकारी उपलब्ध है, उसके अनुसार लगता है, मध्यवर्ग की आर्थिक स्थिति न्यूनाधिक आज के ही समान थी, लेकिन उस वर्ग के लोगों की संख्या अनुपात में बहुत कम थी, और वे आबादी के एक गौण भाग थे ।

(3) निम्न वर्गों के लोग, जिनमें प्रायः संपूर्ण उत्पादक जनशक्ति का समावेश, था, शायद आज से भी कठिन जीवन व्यतीत करते थे ।

इस युग की आर्थिक प्रणाली इतनी सरल थी कि हम बहुत आसानी से यह देख सकते हैं कि ये अंतर कैसे उत्पन्न हुए । भारत को एक इकाई के रूप में देखते हुए हम कह सकते हैं कि उत्पादक लगभग किसी प्रकार के सामुदायिक लाभ का उपभोग नहीं करते थे और अपने पास उत्पादन का उतना हिस्सा ही रख पाते थे जितना उनसे ले नहीं लिया जाता था, और उपभोक्ता वर्ग उनसे जितना ले सकते थे, ले लेते थे । और चूंकि उपभोक्ता वर्गों के अधिकतर लोग प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से राज्य पर निर्भर थे, इसलिए वितरण का मुख्य साधन प्रचलित राजस्व प्रणाली थी । बहुसंख्य उत्पादकों अर्थात जमीन के असली जोतदारों पर इस प्रणाली के प्रभाव का अध्ययन हमने किंचित विस्तार से किया है । हम देख चुके हैं कि मुगल साम्राज्य के जो सूबे विनियमन के अंतर्गत आते थे, उनमें राजस्व दर आज की लगान दर

से लगभग दुगुनी थी और हमने तर्कसंगत ढंग से यह निष्कर्ष भी निकाला है कि विजयनगर और दकन के राज्यों में भी जमीन की उपज में राज्य का हिस्सा कम से कम उतना ही बड़ा था।[7] इस तथ्य के महत्व को समझने के लिए इस बात को ध्यान में रखना जरूरी है कि राजस्व निर्धारित तो किया जाता था कुल उत्पादन के हिसाब से, किंतु उसकी अदायगी खर्च पानी काट कर बची रहने वाली असली आय में से करनी पड़ती थी। यदि किसी जोत की उत्पादकता कायम रखनी हो तो कुल पैदावार का एक अच्छा खासा अनुपात इस ढंग से खर्च करना पड़ता है जो आवश्यक हो। किसान को स्वयं को तथा अपने परिवार को जीवित और काम करने की हालत में रखना चाहिए, उसे अपने मवेशी की कार्यकुशलता बनाए रखना चाहिए और ज़रूरत पड़ने पर पुराने जानवरों के स्थान पर नए जानवर खरीदने की स्थिति में होना चाहिए और उसे कृषि कार्य की मजदूरी अदा करने और दूसरे खर्चो का बोझ उठाने में सक्षम होना चाहिए। इस आवश्यक लागत की मात्रा अलग अलग स्थानों में अलग अलग होती है, लेकिन जिसे हम उत्तर भारत की औसत-जोत कह सकते हैं उसमें यह लागत, अनुकूल मौसमों में किसान उससे जितनी पैदावार की आशा रख सकता है, उसका लगभग आधा होगी। इन खर्चो के बाद जो असली आमदनी बच रहती है उस पर पहला बोझ राजस्व या लगान का होता है, और कर देने के बाद जो बच रहे वह आमदनी किसान की सुविधा या विलास के लिए, और खेती में सुधार करने तथा विनियोग करने या निजी कर्जों की अदायगी के लिए होगी। उसकी आर्थिक स्थिति उसकी कुल आमदनी पर नहीं, बल्कि आवश्यक बोझों से मुक्त असली आमदनी पर निर्भर होती है। खर्च काट कर यदि कुछ बचत की आशा भी अकबर कालीन किसान कर सकते थे तो वह निश्चय ही बहुत थोड़ी रही होगी। यदि आधी पैदावार आवश्यक खर्चों में चुक जाती थी और एक तिहाई राजस्व के रूप में ले ली जाती थी तो—अनुकूल वर्षो में प्रत्याशित कुल आय का सिर्फ आठवां भाग किसान के पास बच रहता था, और मौसम में तनिक भी व्यतिक्रम आ जाने से उसकी सारी प्रत्याशित बचत लुप्त हो जा सकती थी। राजस्व दर में आधी कमी कर देने का मतलब स्पष्ट ही यह होगा कि बचत दो गुनी हो जाएगी, और इस तरह किसान के पास पहले से काफी बड़ी राशि शेष रहेगी, जिसे वह अच्छे दिनों में अपनी सुख-सुविधा पर खर्च कर सकता है और जिसके सहारे बुरे दिनों में किसी की सहायता के बिना अपना रोजगार चला सकता है और मोटे तौर पर कहें कि अकबर काल और आज के काल के बीच यही अंतर है। आज के रैयत किसान के पास अनुकूल वर्ष में खर्च करने के लिए अधिक पैसा होता है और मौसम प्रतिकूल होने पर उसमें अधिक क्षति सहन करने की सामर्थ्य होती है। जो किसान सीधे राज्य से जमीन लेकर जोतता है उसकी स्थिति और भी अनुकूल होनी चाहिए क्योंकि आज राजस्व लगान से कम है, और यदि दोनों की स्थिति में जितना अंतर सिद्धांत में है उतना ही व्यवहार में भी नहीं है तो इसका कारण यह है कि काश्तकार किसान ने अपना जीवन स्तर कुछ अधिक ऊंचा बना लिया है—खासकर पारंपरिक आवश्यकताओं की पूर्ति की दृष्टि से। जो भी हो, अकबर काल के बाद से अनिवार्य देनदारियों के भार में जो कमी आई है वह किसानों की दशा में हुए स्पष्ट सुधार का पर्याप्त कारण है। संभव है, उसके हाथ में आने वाली कुल पैदावार की मात्रा पहले से अधिक न हो, लेकिन उसका पहले से अधिक बड़ा हिस्सा अब वह अपने उपभोग के लिए रख सकता है।

हमारा यह निष्कर्ष निकालना अनुचित नहीं होगा कि ग्रामीण मजदूरों के जीवन स्तर को निर्धारित करने वाला तत्व उन किसानों का जीवन स्तर था जो उनसे काम लेते थे—वह यों कि मजदूर किसी हद तक अपने मालिक काश्तकारों से हीनतर अवस्था में रहते थे, और इस तथ्य की ओर ध्यान देने पर उन समकालीन कथनों का रहस्य हमारी समझ में आ जाता है जिन्हें संक्षिप्त रूप में हमने पिछले अध्याय में प्रस्तुत किया है। जीवन स्तर आमतौर पर आज की अपेक्षा निम्नतर था, जिसका सीधा सादा कारण यह था कि ग्रामीण लोगों की आय का अपेक्षाकृत अधिक बड़ा अनुपात राज्य के खर्चों में चला जाता था। कारीगरों आदि के संबंध में इतना अधिकारपूर्ण कुछ नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उन पर कितना बोझ था, इसकी बहुत कम जानकारी हमें हासिल है, लेकिन जिस हद तक वे कर महसूल के रूप में कुछ देते होंगे, उस हद तक उनकी अवस्था खराब रही होगी। लेकिन कृपक आबादी के अनुपात में उनकी संख्या कम थी, और दरअसल सोलहवीं सदी के अंत में जो वितरण प्रणाली प्रचलित थी उसका आधार शहरों से होने वाली आय नहीं, बल्कि गांवों से होने वाली आमदनी थी।

किसान की शुद्ध बचत के इतने बड़े अनुपात का राज्य द्वारा ले लिया जाना एक आर्थिक बुराई ही हो, यह जरूरी नहीं है। यह उचित था अथवा अनुचित इसका निर्णय तो इस आधार पर ही किया जा सकता है कि इस बचत का उपयोग किन प्रयोजनों के लिए किया जाता था। यदि इसका उपयोग किसानों की जरूरतें पूरी करने के लिए किया जाता और इसे इस तरह से खर्च किया जाता जिससे वे अधिक सुख-सुविधा का जीवन व्यतीत कर सकते अर्थात यदि इसे कृषि उत्पादन के विभिन्न साधन सुलभ कराने, शिक्षा की सुविधाएं जुटाने, या लोगों के लिए स्वास्थ्य सफाई के उपादन मुहैया करने में खर्च किया जाता—तो आलोचकों का काम यह तय करना होता कि उससे सचमुच समग्र जनता का हित साधन होता था या नहीं, और राज्य द्वारा सुलभ कराई गई सुविधाओं से लोगों को अधिक संतोष प्राप्त होता था या उस हालत में अधिक संतोष प्राप्त होता था जब वह बचत उन्हीं के हाथों में छोड़ दी जाती जो उसे अर्जित करते थे। लेकिन वास्तव में यहां इस तरह का कोई प्रश्न नहीं उठता। राज्य की ओर से किसानों को मिलने के नाम पर बस अपूर्ण और अनियमित सी सुरक्षा मिलती थी। उसकी बचत का एक बहुत बड़ा हिस्सा अन्य वर्गों के मुट्ठी भर लोगों के निमित्त खर्च किया जाता था। पिछले अध्यायों में हम देख चुके हैं कि अंत में राजस्व को किस तरह खर्च किया जाता था—उसका बहुत बड़ा हिस्सा विलासिता की वस्तुओं की खरीददारी पर खर्च होता था, निरर्थक कोषों का पुष्ट करने में लगाया जाता था और अनुत्पादक कार्यों पर लगाए गए लोगों की विशाल संख्या को वेतन देने में व्यय किया जाता था, और यद्यपि भारत के आर्थिक जीवन में इन विशेषताओं को आज भी देखा जा सकता है किंतु इसमें संदेह नहीं कि तब के मुकाबले उनका महत्व काफी कम हुआ है। दोनों कालों की तुलना को पूरा करने के लिए यह देखने की कोशिश करना जरूरी है कि देश की आय के जिस हिस्से को अब उपर्युक्त प्रयोजनों में नहीं लगाया जा रहा है उसे वास्तव में कहां खर्च किया जा रहा है।

जहां तक मैं देख सकता हूं, जिस आय का अवांछनीय प्रयोजनों में खर्च किया जाना बंद हुआ है उसका व्यय मुख्यतः तीन प्रकार से हो रहा है—सामुदायिक खर्च में

हुई वृद्धि, मध्यवर्ग का विकास, और जैसा कि हम देख चुके हैं, जनसाधारण के जीवन स्तर में साधारण सुधार। शिक्षा चिकित्सा संबंधी सुविधा, सफाई की व्यवस्था, संचार साधनों और विभिन्न प्रकार की उत्पादक गतिविधियों में दी जाने वाली सहायता, इन रूपों में सामुदायिक वृद्धि तो साफ देखी जा सकती है। यह दावा नहीं किया जा सकता कि देश की जरूरतें पूरी हो गई हैं, लेकिन आधुनिक प्रशासन के इन लक्ष्यों के उल्लेख मात्र से वह परिवर्तन स्पष्ट हो जाता है जो अकबर काल के बाद आया है। संख्या और साधन संपन्नता की दृष्टि से मध्यवर्गों का विकास भी स्पष्ट है। बड़े बड़े जमींदारों को हम अंशतः अकबर काल के दरबारियों के उत्तराधिकारी और प्रतिनिधि मान सकते हैं, लेकिन उत्तर भारत का सामान्य जोतदार आज की व्यवस्था की एक नई और भिन्न प्रकार की विशेषता है। यही बात वकीलों, डाक्टरों, शिक्षकों, इंजीनियरों आदि पेशेवर वर्गों के लोगों पर भी लागू होती है। यहां भी शायद यह दावा नहीं किया जा सकता कि नए जोतदारों तथा वकीलों को छोड़कर अन्य पेशे के लोगों के मामले में देश की जरूरतें पूरी हो गई हैं, लेकिन जितनी प्रगति हो चुकी है वह काफी बड़ी है और मोटे तौर पर कहें तो हमारा निष्कर्ष यही होगा कि यद्यपि यह संभव है कि भारत की औसत आय आज सोलहवीं सदी से अधिक न हो, किंतु आय के वितरण में जो परिवर्तन आए हैं उनके फलस्वरूप कुल मिलाकर जन-कल्याण में काफी वृद्धि हुई है। पाठक यह न समझें कि वर्तमान विवरण प्रणाली को मैं सर्वथा संतोपजनक मानता हूं। इससे प्रत्यक्ष रूप से जुड़े बहुत से अनुत्तरित प्रश्नों का आज भी काफी महत्व है तथा भविष्य में उनका महत्व और भी बढ़ेगा, लेकिन जन-कल्याण का स्तर, जिसमें सुधार अवश्य हुआ है, आज भी इतना निम्न है कि उसके बारे में सोच कर दुख होता है, और राष्ट्रीय लाभांश में भारी वृद्धि करके ही उसके स्तर को ऊपर उठाया जा सकता है। हम वितरण प्रणाली में चाहे जो परिवर्तन कर लें, किंतु जिनका वितरण करना है वे चीजें हमारे पास पर्याप्त मात्रा में नहीं हैं, और यदि एक दूसरे से काफी दूर पड़ने वाले इन दो कालों की तुलना से आधुनिक राजनयिक और प्रशासक कोई सबक ले सकते हैं तो यह कि उत्पादन में पर्याप्त वृद्धि करने की ओर अपने प्रयत्नों को केंद्रित करना आज की सबसे बड़ी आवश्यकता है।

उपसंहार

अब हम अपने अध्ययन के अंतिम चरण पर पहुंच गए हैं। हमने देखा कि सोलहवीं सदी के अंत में भारत के आर्थिक जीवन की मुख्य विशेषता अपर्याप्त उत्पादन और दोषपूर्ण वितरण था। अब हमें सिर्फ यह देखना है कि उस समय कौन सी प्रवृत्तियां काम कर रही थीं। अकबर की मृत्यु के समय विद्यमान परिस्थितियां देश की भावी समृद्धि के लिए अनुकूल थीं या प्रतिकूल? इसका उत्तर यही हो सकता है कि आर्थिक परिवेश की संपूर्ण प्रवृत्ति उत्पादन के मार्ग में और भी बाधाएं उपस्थित करने और वितरण के तत्कालीन दोषों को और भी बढ़ाने की थी। अतः उस प्रवृत्ति को देखते हुए भविष्य में बढ़ने वाली विपन्न काल की ही आशा की जा सकती थी। लेकिन तब कुछ कम प्रकट रूप से कतिपय अन्य शक्तियों ने भी काम करना शुरू कर दिया था और वे सुदूर भविष्य के लिए अधिक आशाप्रद संभावनाएं प्रस्तुत कर रही थीं। जहां तक निकट भविष्य का संबंध था, उत्पादक समग्रतः एक ऐसे प्रशासन की दया पर निर्भर थे जिसका संचालन पूर्ण विलासिता और शान-शौकत के

अभ्यस्त लोग करते थे। इनके पदों से जुड़ी शर्तें ऐसी थीं कि जिन लोगों के हितों की रक्षा के लिए ये जिम्मेदार थे उनकी अवस्था में सुधार लाने का कोई प्रयत्न करते इन्हें भय लगता था, और इनके समक्ष उत्पादन की आय के यथासंभव अधिक से अधिक बड़े हिस्से को हड़प लेने के प्रबलतम प्रलोभन विद्यमान थे। उत्पादक को उद्यमों के लिए पुरस्कार के बदले एक प्रकार से दंड दिया जाता था, जबकि वस्तुओं की प्राप्ति के जो स्रोत मौजूद थे उनसे की जाने वाली अपेक्षाओं में निरंतर वृद्धि होते जाना निश्चित था। इन परिस्थितियों में प्रयत्न की प्रेरणा देने वाले तत्वों का ह्रास अवश्यंभावी था और अनुत्पादक जीवन के आकर्षण में वृद्धि भी उतनी ही निश्चित थी, यही थीं निकट भविष्य की संभावनाएं। सत्रहवीं और अठारहवीं सदियों का इतिहास देखने से मालूम हो सकता है कि ये संभावनाएं कहां तक फलीभूत हुईं, लेकिन यहां हम इतना बखूबी कह सकते हैं कि स्थिति बहुत अस्थिर थी और आर्थिक तथा राजनीतिक विघटन के बीज बोए जा चुके थे।

उस काल का कोई भी भारतीय राजनयिक आगे जो खतरे देश की राह देख रहे थे उन्हें समझ सकता था, लेकिन उन प्रथम अस्पष्ट संकेतों को शायद ही पहचान सकता था और जो भावी परिवर्तन का कारण बनने वाले थे। पिछले अध्यायों में हमने देखा कि विलासिता की सामग्री तथा नई वस्तुओं के प्रति उच्चवर्गों में जो ललक थी उसके फलस्वरूप विदेशी व्यापारियों को संरक्षण और प्रोत्साहन प्राप्त हुआ, और आर्थिक स्थिति में जो परिवर्तन हुआ वह अंततः व्यापार क्षेत्र के विस्तार के कारण ही हुआ। जो विदेशी इस देश की ओर आकृष्ट हुए उन्होंने वास्तव में विशुद्ध रूप से स्वार्थ साधन की नीति का ही अनुसरण किया। किंतु उनकी प्रवृत्तियों का आनुषंगिक परिणाम यह हुआ कि उत्पादन को उत्तेजना मिली, क्योंकि व्यापार वस्तुओं की मांग बढ़ रही थी और उत्पादन की नई तथा सुधरी हुई प्रक्रियाएं अपने लिए स्थान बनाती जा रही थीं। किंतु आरंभ में उस प्रशासनिक शोषण पर इन चीजों का कोई असर नहीं पड़ा जो अकबर के काल से भी बहुत पहले से भारत की जनता पर हावी था और उसकी शक्ति को चूसता जा रहा था। इस मूल बुराई के साथ इन नई शक्तियों का संपर्क अठारहवीं सदी में हुए राजनीतिक परिवर्तनों के फलस्वरूप स्थापित हुआ। एक बार और इस संपर्क के स्थापित हो जाने के बाद प्रशासनिक शोषण से प्रशासनिक उदासीनता और फिर सुधार के सजग प्रयत्न की ओर क्रमिक संक्रमण भारत के आर्थिक इतिहास की मुख्य प्रकृति के रूप में सामने आया। उन्नीसवीं सदी में इंग्लैंड में प्रचलित आर्थिक मान्यताओं के अनुसार प्रशासनिक उदासीनता की ओर संक्रमण ही पर्याप्त होना चाहिए था, किंतु बाद के अनुभव से स्पष्ट हो गया है कि अतीत के सबक को बहुत अच्छी तरह सीख लिया गया था, और हाल के वर्षों में रुक रुक कर जो धीमी प्रगति हुई है उससे एक ही साथ यह भी सिद्ध हो जाता है कि पुरानी परंपरा कितने भयंकर रूप से दूषित थी और यह भी कि उस परंपरा को समूल और अंतिम रूप से नष्ट कर देने के लिए सजग और संगठित प्रयत्न कितना अधिक आवश्यक था।

आठवें अध्याय के लिए प्रमाण-स्रोत

अनुच्छेद—1 : भारत में बहुमूल्य धातुओं के आत्मसात करने की प्रवृत्ति का उल्लेख बर्नियर, 202, रो 496, परकास I, iii, 221, टेरी, 112, और अन्य विभिन्न लेखकों

की कृतियों में हुआ है। स्रोतों का संकेत बर्नियर, 202, तथा टैवर्नियर, 393, तथा छठे अध्याय में उद्धृत अन्य लेखकों द्वारा भी किया गया है। रोम साम्राज्य के आरंभिक दिनों की स्थिति की जानकारी के लिए देखिए गिव्बन के डिक्लाइन एंड फाल अ० 2 (1900 ई० के संस्करण में प्रोफेसर बरी की टिप्पणी 1, 55 के साथ) इस विषय के साक्ष्य की चर्चा रालिंसन में भी की गई है।

जमा की गई संपत्ति के विशाल भंडारों की लूट खसोट का विवरण टामस के क्रानिकल्स में दिया गया है और उसे विस्तार से फरिश्ता की हिस्ट्री में पढ़ा जा सकता है। उत्तर भारत में स्वर्ण मुद्राओं के लिए देखिए टैवर्नियर 14–16, और टेरी 112, 113, संचित कोषों की पवित्रता की धारणा के लिए देखिए सेवेल, 282 और बाबर, 483, इब्राहीम लोधी के अधीन सोने और चांदी के संचित कोषों की पवित्रता के लिए देखिए इलियट की हिस्ट्री, iv, 476, विजयनगर के कोष के लिए देखिए सेवेल, 199, और अकबर के कोष के लिए वि० स्मिथ, अकबर 347 ।

शष विभागों में पिछले अध्यायों में प्राप्त निष्कर्षो की ही संक्षिप्त चर्चा की गई है, और जो संदर्भ पहले दिए जा चुके हैं उन्हें दोहराना अनावश्यक है।

परिशिष्ट 'क'

सोलहवीं सदी में भारत में पैदा की जाने वाली फसलें

1—आईन के राजस्व विपयक आंकड़ों में वताई गई फसलें आधुनिक वर्गीकरण की दृष्टि से निम्न प्रकार प्रस्तुत की जा सकती हैं :

मुख्य खाद्यान्न—गेहूं, जौ और चावल।

ग्रीष्म काल में पैदा किए जाने वाले चावल का उल्लेख शीत काल में पैदा किए जाने वाले चावल की दो श्रेणियों (किस्मों नहीं) से पृथक किया गया है।

मोटे अनाज—ज्वार, वाजरा, चना, सांवा, कोदो, काकुन, मेंडुवा, कुदीरी या कुरी या वरती।

वाजरे का उल्लेख लहदरा नाम से किया गया है। इस नाम का प्रयोग अव विलकुल उठ गया है। काकुन का उल्लेख काल या गाल के नाम से किया गया है, जिसके पर्याय कंगनी का भी प्रयोग हुआ है। कुदीरी (या कुरी) और वरती दोनों को सांवा से मिलता जुलता अनाज वताया गया है। ये कुटकी या मिझरी —जैसे सवसे निम्न कोटि के मोटे अनाज थे। संभव है कि इन घटिया फसलों में से किसी एक की खेती अव न होती हो, लेकिन जो वर्णन दिए गए हैं उनके आधार पर यह वात पूरे निश्चय के साथ नहीं कही जा सकती।

दालें—चना, मसूर, मटर, मूंग, उड़द, मोंठ, लोविया, कुलथी और अरहर।

नाखुद-ए-कावुली और नाखुत-ए-हिंदी नाम की चनों की दो किस्मों पर राजस्व निर्धारित किया गया।

दरों की सूची में खेसारी नहीं दिखाई गई है, लेकिन विहार (जिससे संवंधित दरें नहीं दी गई हैं) के वर्णन में इसका उल्लेख गरीवों द्वारा खाए जाने वाले मगर अस्वास्थ्यकर अनाज के रूप में हुआ था।

तिलहन—तिल, अलसी, सफेद सरसों, तोरिया (काली सरसों) और कुसुंभ।

गन्ना—दो अलग अलग श्रेणियां वताई गई हैं—साधारण और मोटा (पौंडा)।

रेशे—कपास और सन।

रंग—नील और आल।

औषध आदि—पोस्ता और पान।

विविध—अनेक छोटी मोटी फसलों का निर्देश किया गया है। इनमें तरह तरह की सब्जियां, मसाले, सिंघाड़ा, खरवूजे (फारसी और भारतीय दोनों) और अनेक प्रकार के कद्दू कुम्हड़े शामिल हैं।

2—मुगल साम्राज्य के विनिमयन प्रणाली वाले सूवों से वाहर के हिस्सों में मुझे उपर्युक्त फसलों के अतिरिक्त अन्य फललों के वारे में जो संकेत मिले हैं वे सिर्फ दो हैं (1) पाठ में उल्लिखित इस कथन का—कि वंगाल में एक प्रकार का टाट-कपड़ा वनता था—अर्थ मैं यह लगाता हूं कि वहां पटसन पैदा किया जाता था और (2) गुजरात में तंवाकू की खेती हाल में शुरू की गई थी।

3—जहां तक दक्षिण भारत का संबंध है, पाइस, नुनिज, गार्सियां दा ओर्टा तथा सोलहवीं सदी के अन्य लेखकों ने निम्नलिखित फसलों का उल्लेख किया है :

खाद्यान्न—चावल, गेहूं, ज्वार, रागी या मेंडुवा तथा आम मोटे अनाज।

ज्वार का उल्लेख मिल्हो-जबुर्रो के नाम से हुआ है। इस नाम का विवेचन अगले परिशिष्ट में किया गया है। एक अनुवाद में जौ का उल्लेख हुआ है, लेकिन मुझे इसके सही होने में संदेह है।

दालें—मूंग, गुलाबी चना तथा अन्य विभिन्न दालें, जिनके नाम नहीं बताए गए हैं।

अन्य फसलें—गन्ना, कपास, नील, तिल, अलसी गोल मिर्च, नारियल, अदरख, हल्दी, पान, इलायची, सुपारी तथा अनेक प्रकार की सब्जियां जिनके नाम नहीं दिए गए हैं।

परिशिष्ट 'ख'

विजयनगर में 'इंडियन कार्न' (मक्का)

सेवेल के 'ए फारगाटन इंपायर' के दो अनुच्छेदों (पृ० 237 और 333 पर) से ऐसा प्रकट होता है कि सोलहवीं सदी के पूर्वार्द्ध में इंडियन कार्न या मक्का (जिया मेज) विजय नगर के सबसे आम अनाजों में से था। किंतु वनस्पतिशास्त्र के अध्येताओं को ज्ञात तथ्यों की कसौटी पर यह बात अत्यंत असंभावित प्रतीत होती है। इन तथ्यों से प्रकट होता है कि मक्का की खेती भारत में पहले-पहल पुर्तगालियों ने शुरू की। (देखिए डी कैंडोल, मेज, प्रविष्टि के अंतर्गत)। ऐसी स्थिति में गोआ की पुर्तगाली बस्ती की स्थापना के कुछ वर्षों के अंदर देश के ऊपरी हिस्सों में यह एक मुख्य फसल के रूप में प्रतिष्ठित नहीं हो सकता था। जिन शब्दों का अनुवाद अंग्रेजी में 'इंडियन कार्न' (मक्का) किया गया है वे हैं 'मिल्हो जबुर्रो' (जबुर्रो मिलेट)। यों तो मैं जिन्हें देख पाया हूं उन सभी पुर्तगाली-अंग्रेजी शब्दकोषों से यह अनुवाद सही सिद्ध होता है लेकिन आगे छानबीन करने पर पता चलता है कि यह अर्थ सोलहवीं सदी पर लागू नहीं होता है, क्योंकि तब इन शब्दों का अर्थ 'सोरघम' था, जिसे भारत में जोवार (ज्वार) कहा जाता था। इस छानबीन की कुछ तफसीलें यहां पेश कर देना अध्येताओं के लिए उपयोगी होगा, क्योंकि उससे उनकी समझ में आ जाएगा कि सोलहवीं सदी के साक्ष्यों का इस्तेमाल करते हुए उन्हें किस तरह की सावधानी बरतनी चाहिए।

वनस्पति शास्त्र के विभिन्न पुर्तगाली लेखकों की कृतियों में 'जुबुर्रो' शब्द आता है, जिसका दूसरा रूप 'सेबुर्रो' स्पेनिश में प्रयुक्त होता है। इन शब्दों के अर्थ के संबंध में डा० स्टैफ (क्यू) कहते हैं कि 'ग्रिसले (1661) से लेकर कुटिंहो (1913) तक जिन वनस्पति शास्त्रियों की कृतियों को मैं देख पाया हूं उन सभी ने जुबर्रो का संबंध 'सोरघम' से बताया है। सर डेविड प्रैन ने, जिनके सौजन्य से मुझे यह जानकारी उपलब्ध हुई है, डोडोएंस कृत 'फ्रूमेंटोरम.... हिस्टोरिया' देखने का सुझाव दिया, जिसके 71वें पृष्ठ में 'सोरघम' शीर्षक के अंतर्गत कहा गया है कि पुर्तगाली इसे जबुर्रो मिलेट कहते हैं। इस पुस्तक की तिथि

1566 है, जबकि सेवेल ने जिन विवरणों का अनुवाद किया है वे 1525 से लेकर 1535 तक के हैं। इस तरह हमारा यह निष्कर्ष उचित है कि 'मिल्हो जवुर्रो का आधुनिक अर्थ चाहे जो हो, उन दिनों मक्का नहीं, ज्वार ही था।'

यह जानकारी प्राप्त होने के पूर्व मैंने जवुर्रो शब्द की व्युत्पत्ति (जिसका स्पष्टीकरण किसी आधुनिक शब्द कोप में नहीं किया गया है) का पता लगा कर उसका अर्थ निश्चित करने की कोशिश की थी, लेकिन किसी भी लातिनी भाषा में या उत्तरी अफ्रीकी (क्योंकि इन्हीं स्थानों से मोटे अनाजों के आईवेरियन प्राय-द्वीप में पहुंचने की उम्मीद की जा सकती थी) भाषा में मुझे ऐसा कुछ नहीं मिला जिसे इस शब्द का मूल रूप मानना संभव होता। दूसरी ओर अमेरिका में मक्के की खोज के जो सब से पुराने अभिलेख प्राप्त हैं उनसे प्रकट होता है कि यह शब्द वहां से भी नहीं आया होगा। जब इस छानबीन का कोई परिणाम नहीं निकला तब श्री आर० वर्न (सी० एस० आई०) ने मुझे सुझाया कि यह शब्द भारतीय मूल का और जोवार (ज्वार) का विगड़ा हुआ रूप हो सकता है, और उनकी बात ही मुझे सच जान पड़ती है। पुर्तगालियों के पास ऐसा कोई अक्षर नहीं था जिसकी ध्वनि 'ज' जैसी हो, इसलिए इस ध्वनि के लिए वे 'ज़' ध्वनि देने वाले अक्षर का प्रयोग करते थे। उनके पास 'व' ध्वनि का सूचक कोई अक्षर नहीं था, इसलिए वे 'व' ध्वनि के सूचक अक्षर से काम चलाते थे। इन परिवर्तनों के उदाहरण हाब्सन-जाब्सन में आसानी से ढूंढे जा सकते हैं (जैसे जडवार 'से जेड़ा-आरिया' हो गया, 'वसाई' का 'वकाइम' हो गया 'मूंग' का 'मूंगो' हो गया, इसलिए स्पष्ट है कि 'जोवार' आसानी से 'जुवारो' वन जा सकता है, या आघात के स्वाभाविक परिवर्तन से जवुर्रो वन जा सकता था। अव यह अनुमान सर जार्ज ग्रियर्सन के समक्ष रखा गया तो उन्होंने लिख भेजा कि रोमन वर्णमाला के 'यू' 'और' 'ए' अक्षरों के विपर्यास से कोई अंतर नहीं पड़ता और 'जुवर्रो' शब्द को 'जोवार' का विगड़ा हुआ रूप मानना सब से अधिक संभावित निष्कर्ष है।

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि सोलहवीं सदी में जवुर्रो का मतलव निश्चय ही ज्वार था, और शायद यह जोवार का ही परिवर्तित रूप है। अव इसका मतलव मक्का क्यों लगाया जाता है, यह एक अलग वात है। यदि मक्के के लिए एक ऐसा पुर्तगाली नाम, जो एक मोटे अनाज का नाम है, चल पड़ा है तो यह इस तरह का अकेला उदाहरण नहीं है। अंग्रेजी में मक्के (मेज) को आमतौर पर 'कार्न' कहा जाता है। फ्रेंच में इसके लिए 'व्हीट', दक्षिण अफ्रीका में 'मिलीज' या 'मिलेट' और अवध में 'वड़ा जोवार' शब्द का प्रयोग होता है। लेकिन यह ज्यादा संभव है कि अंग्रेजी पुर्तगाली कोपकार इस शब्द के संवंध में भ्रम में पड़ गए हों, क्योंकि 1913 में प्रकाशित फाइगिरेडो के कोष में इसका सही अर्थ भारत का एक मोटा अनाज वताया गया है लेकिन इससे आगे कुछ कहने का मतलव भाषा विज्ञान की गहराइयों में उतरना होगा।

परिशिष्ट 'ग'

वंगाल के समुद्री वंदरगाह

सोलहवीं सदी के पुर्तगाली लेखकों ने जब भी वंगाल की समुद्री यात्रा की चर्चा

की है तव उन्होंने या तो वड़े (ग्रैंडे) या छोटे (पिकेनो) 'पोर्टो' का उल्लेख किया है। इन नामों को दूसरे राष्ट्रों के लेखकों ने भी अपना लिया। (जैसे परकास II, x, 1736 में पोर्टो (पिकेनो) और मिशनरियों ने उनका लातिनीकरण करके 'पोर्टस मैग्नस' और 'पोर्टस पैरवस' शब्दों का प्रयोग किया (जैसे हे, 728 और आगे)। इन नामों में 'पोर्टो' शब्द आमतौर पर अंग्रेजी के 'पोर्ट' (अर्थात बंदरगाह) शब्द के अर्थ में लिया गया जान पड़ता है। इसलिए आधुनिक लेखकों को सोलहवीं सदी के वंगाल के दो ही महत्वपूर्ण बंदरगाहों की तलाश रही है। इस दृष्टि से तत्कालीन साहित्य के आधार पर हम तुरंत यह मान वैठते हैं कि इनमें से एक वंदरगाह तो हुगली (या सतगांव) छोटा था और दूसरा चटगांव बड़ा। हाव्सन-जाव्सन के लेखकों ने ठीक यही किया है। मुझे लगता है कि सोहलवीं सदी के पुर्तगाली नाविकों ने उन दिनों 'पोर्टो' शव्द का प्रयोग समुद्र तट पर स्थित किसी शहर के अर्थ में नहीं वल्कि तट-रेखा में पड़ने वाले अंतराल के अर्थ में किया। दूसरे शव्दों में 'पोर्टो' कोई ऐसा खाड़ी या मुहाना भी हो सकता था जिसमें कई बंदरगाह हों। पुर्तगाली के आधुनिक कोषों में इस अर्थ को स्वीकार किया गया है, लेकिन इस संवंध में उनके प्रमाण का कोई महत्व नहीं है। मेरी यह राय—कि इसका मुख्य अर्थ यह है—फादर एफ० फर्नांडस की भाषा पर आधारित है। वह एक जेसुइट मिशनरी था और 1598 में उसे पुर्तगाली वस्तियों में सुधार कार्य करने के लिए वंगाल भेजा गया था। उसका पत्र, जिसमें उसने अपनी यात्रा का वर्णन किया है, हे 727 और आगे के पृष्ठों में उद्धृत है।

फर्नांडस कोचीन से पोर्टो पोर्टस पैरवस के लिए रवाना हुआ। कोष्टक में दिए गए शव्द 'पोर्टो पिकेनो' से स्पष्ट है कि वह अपने गंतव्य का प्रचलित नाम प्रयोग में ला रहा था इस यात्रा में आए संकट और चिंता के अनेक प्रसंगों का वर्णन करने के वाद वह उस और भी बड़े खतरे का जिक्र करता है जिसका सामना उसे 'पोर्टस' में करना पड़ा। हुआ यह कि यहां उसका जहाज फंस गया था। लेकिन अंत में वे उसे छिछले पानी से निकालने में सफल हो गए, और तव आठ दिनों तक 'पोर्टस' में ही जहाज चलाते रहने के वाद वे पुर्तगाल के हुगली 'स्टेशन' पर पहुंचे। स्पष्ट है कि यहां 'पोर्टस' से फर्नांडस का मतलव हुगली शहर से नहीं वल्कि नदी से है, और मैं समझता हूं कि यह भी उतना ही स्पष्ट है कि उक्त संज्ञा उसने सामान्य पुर्तगालियों से ही ग्रहण की होगी, चाहे वे पुर्तगाली नाविक रहे हों या ऐसे थल कर्मचारी जिनके वीच उसने काम किया। उसने इन नामों का आविष्कार नहीं किया होगा और न यही संभव लगता है कि इनका प्रयोग करते हुए उसने साधारण चलन की भाषा का अनुसरण नहीं किया होगा। गरज यह कि पोर्टो पिकेनो से आवश्यक तौर पर किसी एक शहर का वोध नहीं होता, बल्कि उससे हुगली नदी का भी वोध हो सकता है, जिसके किनारे कलकत्ता वसा हुआ है।

कुछ दिन वहां रहने के वाद फर्नांडस 'पोर्टस मैग्नस' गया। यह यात्रा उसने समुद्री रास्ते से नहीं की, क्योंकि उसने मार्ग में शेरों के खतरे का उल्लेख किया है। इसलिए निश्चय ही उसकी नाव ने किसी अंतर्देशीय जल-मार्ग से यात्रा की। वह पहले श्रीपुर पहुंचा, जिसका वर्णन उसने 'पोर्टस मैग्नस' के एक स्टेशन के रूप में किया है। अपना पत्र लिखना उसने यहीं से आरंभ किया, किंतु वह चटगांव

(और इसे भी उसने पोर्टस मैग्नस का एक स्टेशन वताया है) पहुंचा तो अपनी पहुंच की सूचना देते हुए उसने यहां उस पत्र में एक पुनर्लेख जोड़ दिया। इस प्रकार 'पोर्टस मैग्नस' से फर्नांडस का मतलव सिर्फ चटगांव नहीं, वल्कि चटगांव और श्रीपुर दोनों थे। चटगांव की अवस्थिति तो सव जानते हैं। वंगाल की पूर्वी राजधानी सोनारगांव की अपनी यात्रा के विवरण में फिच ने श्रीपुर की अवस्थिति स्पष्ट की है। परकास X1, 1737)। श्रीपुर 'गंगानदी' के किनारे वसा था, और सोनार-गांव से 6 मील दूर था। वह समुद्री वंदरगाह था, क्योंकि फिच वहां से एक छोटे जहाज में वैठ कर पेगू गया। इस प्रकार फर्नांडस द्वारा प्रयुक्त भाषा को देखें तो 'पोर्टो ग्रैंड' कम से कम कर्णफूली नदी से लेकर ढाका के पास तक तो पहुंचता ही था, और चूंकि वह शव्दों का प्रयोग उसके उन दिनों प्रचलित अर्थों में कर रहा था, इसलिए उन शव्दों को किसी एक वंदरगाह का पर्याय मानना ठीक नहीं होगा। यदि हम वंगाल की खाड़ी के नक्शे को देखें और यह याद रखें कि पुर्तगाली समुद्री मार्ग से वंगाल पहुंचे तो इस शव्द समुच्चय का अर्थ स्पष्ट हो जाता है। वाईं ओर हुगली नदी का मुहाना (पोर्टो पिकेनो) था। दाहिनी ओर मेघना का मुहाना था, जिसका फैलाव वाकरगंज जिले से लेकर चटगांव तक है और वह पूरा 'पोर्टो ग्रैंड' में शामिल है। संभव है कि इसमें और भी वंदरगाह शामिल रहे हों, लेकिन कम से कम श्रीपुर और चटगांव तो थे ही। इसलिए हम यह मानने को मजवूर नहीं हैं कि वंगाल में सिर्फ दो वंदरगाह थे। उसके दो मुहाना क्षेत्र थे और हैं, तथा इनमें अनेक वंदरगाहों की गुंजाइश है और सोलहवीं सदी में कम से कम इतने महत्वपूर्ण थे कि वे हमारे प्रमाण-स्रोतों के लेखकों को उल्लेखनीय प्रतीत हुए। एक था हुगली नदी पर इसी नाम का वंदरगाह, दूसरा था मेघना पर कुछ ऊपर की ओर श्रीपुर और तीसरा था चटगांव।

किंतु 'पोर्टो' का प्रयोग विचाराधीन काल में सार्वजनिक नहीं था। उदाहरण के लिए, पोर्टो पिकेनो शव्द से (परकास II. X, 1736) फिच का तात्पर्य निश्चित रूप से सतगांव से था। कुछ अन्य लेखकों के विवरणों से भी हम ऐसे निष्कर्ष निकाल सकते हैं, मैं समझता हूं अर्थ के इस परिवर्तन का कारण यह था कि पुर्तगाली श्रीपुर के साथ किसी उल्लेखनीय सीमा तक प्रत्यक्ष व्यापार नहीं करते थे, उनका संवंध या तो हुगली से था या चटगांव से, अर्थात प्रत्येक 'पोर्टो' के केवल एक स्टेशन से; इसलिए 'पोर्टो' शव्द सहज ही 'स्टेशन' का पर्याय वन जा सकता था—उसी प्रकार जैसे 'मर्सी' शव्द लिवरपूल का लगभग समानार्थी वन गया है। लेकिन फर्नांडस के विवरण में प्राप्त उदाहरणों से प्रकट होता है कि सोलहवीं सदी के अंत तक यह अर्थ सर्वत्र नहीं अपनाया गया था, और इसलिए इससे यह मानना उचित ठहरता है कि 'पोर्टो' का अर्थ कम से कम ऐसे प्रसंग में तो मुहाना क्षेत्र लगाया ही जा सकता है, जहां वह संगत जान पड़े।

अव स्वभावतः यह सवाल उठता है कि इनमें से 'सिटी आफ वंगाला' (वंगाल नगर) कौन सा है, जिसका वर्णन सोलहवीं सदी के आरंभ में वारवोसा ने किया है? मेरी अपनी राय यह है कि वारवोसा का मतलव पास के वंदरगाह सहित सोनार गांव से था, लेकिन यह प्रश्न इतना जटिल है कि इस पर यहां विवेचन करना उचित नहीं होगा और जव तक लौंगवर्थ डेम्स द्वारा वारवोसा का अनुवाद

पूरा नहीं हो जाता तब तक पाठक अंतिम निर्णय पर पहुंचने का प्रयत्न स्थगित रखें तो अच्छा हो।

परिशिष्ट 'घ'

जहाजरानी टन क्षमता

जहाजरानी टन का मूल उत्स मदिरा का 'टन' है।[10] 'यूरोपीय बंदरगाहों में जहाज की माल लादने की क्षमता बताने के लिए जिस पैमाने के प्रयोग का रिवाज चल पड़ा वह यह था कि उसमें कितनी 'टन' मदिरा लादी जा सकती है। एक 'टन' में दो पीपे मदिरा होती थी, और एक 'टन' द्वारा घिरने वाला स्थान 40.3 घनफुट होता था। इसमें पीपों का आकार जोड़ देना चाहिए। पीपे के बिल्कुल घनाकार न होने के कारण कई पीपे साथ रखने पर कुछ स्थान बेकार चला जाता था। इसलिए इस स्थान को भी उसमें जोड़ देना चाहिए। दोनों को जोड़ कर 'टन' द्वारा घिरने वाला स्थान लगभग 60 घनफुट आता है।[11] आरंभ में 'टनों' की संख्या का पता नापकर नहीं लगाया जाता था। मदिरा ढोने वाले जहाज की क्षमता का अनुभव के आधार पर अनुमान लगाया जाता था। मदिरा ढोने वाले जहाज की क्षमता का अनुमान अनुभव से लगा लिया जाता था और व्याव-हारिक लोग रूपाकृति देखकर अन्य जहाजों की क्षमता का भी पता लगा सकते थे। विचाराधीन काल के जहाजों की क्षमता के बारे में हमें इसी तरह के अनुमान उपलब्ध हैं। ये अनुमान गोलमोल संख्याओं में दिए गए हैं, और स्पष्ट ही उन्हें बिल्कुल यथार्थ टन की इकाई में पेश करने की मंशा भी नहीं रही है। ये अनुमान औसतन शायद सत्य के काफी निकट है, यद्यपि कथन विशेष के संबंध में निस्संदेह भूल की गुंजाइश है।

सोलहवीं सदी के अंत में इंग्लैंड में जहाजों की 'टन' क्षमता के हिसाब का महत्व बहुत बढ़ गया, क्योंकि जहाज बनाने में दी जाने वाली सहायता की राशि उसी पर निर्भर थी। अब तक जिस तरह से हिसाब लगाया जाता था वह अब ठीक नहीं माना गया, इसलिए उसके स्थान पर माप की एक नई प्रणाली ढूंढ निकाली गई। कोई जहाज कितना 'टन' माल ले जा सकता है, यह तय करने के लिए पहले तो प्रयोग का तरीका अपनाया गया। इस तरह जब उस जहाज की 'टन' क्षमता का पता चल गया तब उसकी लंबाई, चौड़ाई और गहराई को नाप लिया गया और तब कुल घनफुट स्थान का हिसाब लगाया गया। आगे का हिसाब अनुपात का सरल हिसाब था। यह हिसाब लगाने पर पाया गया कि जिस पद्धति पर माप ली गई उसके अनुसार हर 'टन' के लिए लगभग 97 घनफुट स्थान की जरूरत है। इसी आधार पर सामान्य नियम तय किया गया, जो यह था कि किसी जहाज के आयतन को एक निश्चित पैमाने से नाप कर परिमाण को 97 से विभाजित कर देना चाहिए।

इस नियम के परिणामस्वरूप परिभाषा बदल गई। लेकिन आरंभ में 'टन' का आकार नहीं बदला। इकाई अब भी एक टन मदिरा के लिए आवश्यक स्थान था, और एक खास तरीके से नापने पर यह इकाई 97 घनफुट पाई गई। यह प्रणाली आज तक कायम रही है, लेकिन नाप का तरीका और विभाजक संख्या

दोनों समय समय पर वदलते रहे हैं। अव 'पंजीकृत टन' की परिभाषा व्यापारिक जहाजरानी अधिनियमों के अधीन तय किए गए निश्चित पैमानों से नापा गया 100 घनफुट स्थान है। यह एक पारंपरिक इकाई है, जिसका मदिरा 'टन' के साथ मूल संवंध समाप्त हो गया है, और उसका वर्तमान संवंध ठीक ठीक तभी तय किया जा सकता है जव कई आधुनिक मालवाही जहाजों को 'टनों' से भरकर देखा जाए। ऐसा कोई करेगा, इसकी संभावना नहीं दिखती। हमारे प्रयोजन के लिए महत्व की वात यह है कि माप के तरीकों में जो परिवर्तन हुए हैं उनके फलस्वरूप यह इकाई माल द्वारा वास्तव में घेरे जानेवाले स्थान की माप के निकटतर आती गई है। पूरे जहाज की लंवाई, चौड़ाई और गहराई नापने के तरीके से वास्तविक माल क्षमता तभी ज्ञात हो सकती थी जव जहाज आयताकार होता और उसके ऊपरी डेक के नीचे कोई ढांचा नहीं वना होता। यहां वताए गए तरीके से नापने पर 97 घनफुट स्थान की आवश्यकता सिर्फ 60 घनफुट वास्तविक लदाई के लिए होती थी, इससे प्रकट होता है कि माल-क्षमता वहुत वढ़ा कर वताई जाती थी। अव यह स्थिति नहीं रह गई है, क्योंकि हर डेक की नाप अलग से ली जाती है और दोनों वगलों के घुमाव के लिए गुंजाइश रखी जाती है। इसलिए अव एक 'टन' मदिरा रखने के लिए 100 घनफुट से काफी कम (नापे गए एक टन) स्थान की जरूरत होगी और सच तो यह है कि हाल में वनाए गए जहाजों में ले जाए जाने वाले साधारण माल का आयतन मोटे तौर पर, नाप द्वारा निकाले गए आयतन से अधिक ही वैठता है। इससे यह परिणाम निकलता है कि यदि हम यह कहें कि एक 'टन' शराव के लिए 4/10 से 6/10 आधुनिक पंजीकृत टन की जरूरत होगी तो इसमें 16वीं सदी के भारतीय जहाजों की माल-क्षमता को घटा कर आंकने की कोई संभावना नहीं रह जाएगी। इस दृष्टि से 1000 टन मदिरा के लिए जहाजरानी के 400 से 600 आधुनिक टन स्थान की जरूरत होगी और इसीलिए हमने सोलहवीं सदी के भारतीय व्यापार के लिए जिस 'टन–क्षमता' का अनुमान लगाया है उसमें से 2/5 से 3/5 हिस्सा तक कम कर देना चाहिए। इस तरह हमें कुल परिमाण आधुनिक टनों में मिल जायेगा। पाठ में लगाए गए हिसाव के आधार पर मैंने भारतीय व्यापार का अधिकतम संभावित परिमाण 60,000 टन तय किया है। इसके लिए आधुनिक नाप में 24,000 से 36,000 टन तक स्थान की जरूरत होगी और चूंकि इसकी तुलना लगभग 67,50,000 टन (युद्ध के पूर्व भारतीय व्यापार के परिमाण) से करनी है, इसलिए इससे कोई फर्क नहीं पड़ता कि हम पहले अंक को लेते हैं या दूसरे को अर्थात, 24,000 को लेते हैं या 36,000 को।

आजकल 'ग्रास' और 'नेट' टनों में जो अंतर किया जाता है, उसके वारे में भी दो शब्द कह देना आवश्यक है। अभी हमने जहाजरानी के जिन दो आंकड़ों को उद्धृत किया है वे 'नेट' पंजीकृत टनों में हैं[12], और दोनों का अंतर महत्वपूर्ण है। जहाज की 'ग्रास' टन क्षमता में मशीन आदि द्वारा घेरा जानेवाला वह स्थान भी शामिल होता है जो माल के लिए सुलभ नहीं होता। 'नेट' टन क्षमता में वही स्थान आता है जो माल के लिए सुलभ होता है 'ग्रास' टन-क्षमता और 'नेट' टन-क्षमता का पारस्परिक अनुपात जहाजों के प्रकार के अनुसार वदलता

रहता है, लेकिन आधुनिक मालवाही जहाजों की ('नेट') टन-क्षमता को हम 'ग्रास' क्षमता का 60 प्रतिशत मानें तो अधिक भूल की गुंजाइश नहीं रहेगी। इसलिए यदि हम यह कहें कि सोलहवीं सदी के अंत में भारत का समुद्री व्यापार 24 से 36 हजार नेट टन तक रहा होगा तो हम कह सकते हैं कि उसके लिए 40 से 60 हजार तक कुल 'ग्रास' टन-क्षमता की जरूरत होगी, या दूसरे शब्दों में वर्ष के हर महीने चलने वाले सामान्य आकार के एक आधुनिक जहाज की आवश्यकता होगी।

परिशिष्ट 'ङ'

प्रमाण स्रोतों की सूची

पाठ की टिप्पणियों और संदर्भों में जिन संक्षिप्तियों या संकेत-शब्दों का प्रयोग हुआ है उनका स्पष्टीकरण यहां उनके वर्णानुक्रम से दिया जा रहा है।

अकबर-नामा : दि अकबर नामा। लेखक—अबुल फजल-ए-'अल्लामी'। मूल फारसी पाठ एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल' द्वारा प्रकाशित। एच- बीवरीज द्वारा अनूदित और उसी सोसाइटी द्वारा प्रकाशित, लेकिन अभी अपूर्ण।

अब्दुर्रजाक : देखिए प्रविष्टि मेजर के अंतर्गत।

आईन : आईन-ए-अकबरी। लेखक अबुल-फजल-ए-'अल्लामी'। मूल फारसी पाठ का संपादन एच० ब्लाकमैन द्वारा।'एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल' के लिए मुद्रित। ब्लाकमैन और जैरेट द्वारा अनूदित, 'एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल, के लिए मुद्रित।

इंग्लिश फैक्ट्रीज : दि इंग्लिश फैक्ट्रीज इन इंडिया। लेखक—डब्ल्यू फोस्टर आक्सफर्ड।

इंपीरियल गजेटियर : दि इंपीरियल गजेटियर आफ इंडिया (26 भाग) आक्सफर्ड, 1908।

इर्विन : दि आर्मी आफ दि इंडिया मोगल्स। लेखक—डब्ल्यू इर्विन (लंदन, 1903)

इलियट-रेसेज : मेमायर्स आन दि हिस्ट्री, फोकलोर ऐंड डिस्ट्रीब्यूशन आफ दि रेसेज आफ दि नार्थ वेस्टर्न प्रोविंसेज आफ इंडिया। लेखक—सर एच० एम० इलियट। जे बीम्स द्वारा संपादित, लंदन, 1869।

इलियट हिस्ट्री : दि हिस्ट्री आफ इंडिया ऐज टोल्ड बाई इट्स ओन हिस्टोरियंस। सर एच० एम० इलियट के मरणोपरांत उपलब्ध कागजातों के आधार पर संपादित। संपादन जे डासन। लंदन 1867-77।

एप्सटीन : अर्ली हिस्ट्री आफ दि लिवांट कंपनी। लेखक—एम० एप्सटीन, लंदन, 1908 ।

ओटेन : यूरोपियन ट्रेवलर्स इन इंडिया। लेखक—ई० एम० ओटेन, लंदन, 1909.

ओपेन हीम : हिस्ट्री आफ दि एडमिनिस्ट्रेशन आफ दि नेवी। लेखक—एम ओपेन-हीम, लंदन, 1896

कनिंघम : ग्रोथ आफ इंग्लिश इंडस्ट्री एंड कामर्स। तृतीय संस्करण, 1903।

कांटी : देखिए प्रविष्टि 'मेजर' के अंतर्गत।
कूटो : देखिए प्रविष्टि 'डेकाडास' के अंतर्गत।
क्लिफर्ड : फरदर इंडिया। लेखक—एच० क्लिफर्ड, लंदन, 1904.
गार्सिया दा ओर्टा : कोलोकीज आन दि सिंपल्स एंड ड्रग्स आफ इंडिया। सर सी० मारखम द्वारा अनूदित, लंदन, 1913।
जर्नल, आर० ए० एस० : दि जर्नल आफ दि रायल एशियाटिक सोसाइटी आफ ग्रेट ब्रिटेन एंड आयरलैंड, लंदन।
जर्नल, ए० एस० बी : दि जर्नल आफ दि सोसाइटी आफ बंगाल, कलकत्ता।
जोर्डाइन : जान जोर्डाइंस जर्नल आफ ए वायेज टु दि ईस्ट इंडीज, 1608-17. हकलुत सोसाइटी के लिए संपादित, 1905।
टामस क्रॉनिकल्स : दि क्रानिकल्स आफ दि पठान किंग्स आफ डेलही, लेखक—एडवर्ड टामस, 1871।
टामस-रिसोर्सेज : दि रेवेन्यू रिसोर्सेज आफ दि मुगल इंपायर इन इंडिया, 1593—1707. लेखक—एडवर्ड टामस, 1871।
टेरी : वायेज टु ईस्ट इंडिया। लेखक—एडवर्ड टेरी (पुनर्मुद्रित) लंदन, 1777।
टैवर्नियर : ले सिक्स वायेजेज डी० जे० वी० टैवर्नियर एन टर्की, एन, पर्से, एट आक्स इंडैस सेकेंड पार्टी, पेरिस, 1692।
डेकाडास : (डेकाडास) दि एशिया। संपादन जे० डी० बैरोस और डी० डेकूटो, 24 भाग, लिस्बन, 1777-88.
डी कैंडोल : ओरिजिन आफ कल्टिवेटेड प्लांट्स। लेखक—ए० डी० कैंडोल। अंग्रेजी अनुवाद, लंदन, 1884. संदर्भ इस अनुवाद से ही दिए गए है। मैंने 1883 के फ्रेंच संस्करण का उपयोग किया है।
डी लाएट : डी इमपीरियो मैग्नी मोगोलिस। लेखक जे० डी० लाएट, लीडेन, 1631.
डु जैरिक : थेसारस रिरम इंडिकैरम। लेखक—पी० डु जैरिक। कोलोन 1615-16 (मूल फ्रेंच संस्करण मुझे प्राप्त नही हो सका है।)
डेनवर्स : दि पोर्तुगीज इन इंडिया। लेखक—एफ० सी० डेनवर्स, लंदन, 1894।
वदायूंनी : मुंतखावउत्-तवारीख। लेखक—अल-वदायूंनी, एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल द्वारा प्रचारित।
वर्नियर : ट्रैवल्स इन दि मुगल इंपायर, 1656-68। ए० कांस्टेबुल द्वारा संशोधित संस्करण, लंदन, 1891.
वावर : दि मेमायर्स आफ वावर, 'वावर नामा' का एक नया अनुवाद, जिसमें लीडेन और एर्स्काइन का 1826 ई० का अनुवाद शामिल है संपादक और अनुवादक—एस० वीवरेज, लंदन, लुजाक एंड कं०।
वारवोसा : लिव्रो डे डुआर्टे वारवोसा। लिसवन रायल एकेडमी आफ साइंस द्वारा प्रचारित, 'कोलेकाओ डे नोटिसिअस पैरा अ हिस्ट्रोरिया ए जियोग्राफिया डास नैकोस अल्ट्रामैरिनास' का भाग ii, संख्या VII।
हकलुत सोसाइटी द्वारा 1865 में प्रचारित अनुवाद को अब रद्द करके लौंगवर्थ डेम्स के नए अनुवाद का पहला भाग 1918 में प्रचारित कर दिया

गया है। अगर यह अनुवाद पूर्ण होता तो मैं इसके संदर्भ देता, परंतु चूंकि इसका एक भाग ही अभी तैयार हुआ है मैंने मूल पाठ को ही उद्धृत किया है।
फैलकाओ, लिस्रो : एन क्वे से कोंटेम रोडा अ फैंजिएडा ए रियल पैट्रिमोनियो ...' लेखक—एल० डे फिगेरो फैलकाओ। लिस्बन, 1859.
डेला वेल : ट्रेवेल्स इन इंडिया। हकलुत सोसाइटी, 1892.
डोडोएंस : फ्रूमेंटोरम लेगुमिनम ...हिस्टोरिया।
लेखक—आर० डोडोनियस, एंटवर्प, 1566.
तुजुक : मेमायर्स आफ जहांगीर, ए० राजर्स द्वारा अनूदित। रायल एशियाटिक सोसाइटी के लिए एच० बीवरीज द्वारा संपादित, लंदन, 1909-14.
थोरल्ड रोजर्स : हिस्ट्री आफ एग्रिकल्चर एंड प्राइसेज इन इंग्लैड, 1259-1793। लेखक—जे० ई० थोरल्ड रोजर्स, आक्सफर्ड, 1866-1902.
थेवनो : ले वायेजेज डि० एम० डि० थेवनो आक्स इंडेस आरिएंटेल्स। एम्सटर्डम, 1727।
निकितिन : देखिए प्रविष्टि 'मेजर' के अंतर्गत।
नुनिज : देखिए प्रविष्टि 'सेवेल' के अंतर्गत।
परकास : परकास : हिज पिलग्रिम्स। लेखक एस० परकास (मैने 1905 मे हकलुत सोसाइटी के लिए प्रकाशित पुनर्मदित संस्करण का उपयोग किया है, लेकिन मैने जो संदर्भ दिए हैं, वे मूल संस्करण के पृष्ठांकन के अनुसार दिए है। ये पृष्ठांकन पुनर्मुद्रित संस्करण के हाशिए में दिए गए है)
पाइरार्ड : द वायेज आफ फ्रैंकाइस पाइरार्ड, आफ लैवेल, टु दि ईस्ट इंडीज। हकलुत सोसाइटी के लिए अनूदित, 1887-89 (संदर्भ इसी अनुवाद के दिए गए है, लेकिन मैने 1679 के पेरिस संस्करण के फ्रेंच पाठ का उपयोग किया है।)
पाइस : देखिए प्रविष्टि 'सेवेल' के अंतर्गत।
फर्स्ट लेटर बुक : दि फर्स्ट लेटर बुक आफ दि ईस्ट इंडिया कंपनी। लेखक—सर जी० वर्डवुड और डब्ल्यू० फोस्टर, लंदन, 1893.
फारिया वाई सूजा : दि पोर्तुगीज एशिया। लेखक—एम० डि० फारिया वाई सूजा. जे० स्टीवेंस द्वारा अनूदित, लंदन, 1695.
मंडी : दि ट्रैवेल्स आफ पीटर मंडी इन यूरोप एंड एशिया, भाग II, हकलुत, सोसाअटी के लिए संपादित, 1914.
मरे : हिस्टोरिकल अकाउंट आफ, डिस्कवरीज एंड, ट्रैवल्स इन एशिया, लंदन, 1820.
मुकर्जी : हिस्ट्री आफ इंडियन शिपिंग। लेखक—आर० मुकर्जी, लंदन, 1912.
मेजर : इंडिया इन दि फिफ्टीथ सेंचुरी। हकलुत सोसाइटी के लिए आर० एच० मेजर द्वारा संपादित, 1858. (इसमें कांटी, निकितिन और अब्दुर्रजाक के विवरणों के अनुवाद दिए गए है।
मेफिअस—ट्रैंजेक्शंस : रिरम ए सोसाइटेट जेसु इन आरिएंटें जेस्टैरम वाल्यूमें। लेखक—जे० पी० मेफिअस। कोलोनाय, 1605।
मेफिअस—सिलेक्ट लेटर्स : सिलेक्टैरम एपिस्टोलैरम एक्स इंडिया लिवरी क्वैटुअर। लेखक—जे० पी० मेफिअस। ऐंटवर्प, 1605।

मैकनैटन : प्रिंसिपुल्स ग्राफ हिंदू एंड मुहम्मडन ला। लेखक सर डब्ल्यू० एच० मैकनेटन, एच० एच० विल्सन द्वारा संपादित, लंदन, 1885।

मैनिरिक : (फ्रे सेवेशियन मैनरिक की मूल इटिनरेरियो मुझे उपलब्ध नहीं हो पाई। इससे प्राप्त कुछ जानकारी मरे (ऊपर) में दी गई है, लेकिन पाठ में दिए संदर्भ 'जर्नल ग्राफ दि पंजाव हिस्टोरिकल सोसाइटी' 1911 भाग–1 के पृष्ठ 83, 151 पर सर एडवर्ड मैकलेगन द्वारा उद्धृत इसके कुछ ग्रध्यायों के ग्रनुवाद से लिए गए हैं।)

मोनसेर्राट : मंगोलिका लिगाटिग्रोनिस कमेंटैरिग्रस। लेखक–फादर ए मोनसेर्राट। मेमायर्स ग्राफ दि एशियाटिक सोसायटी ग्राफ वंगाल, भाग III. 9, पृ० 513-704।

यूजफुल टेवल्स : जर्नल ग्राफ एशियाटिक सोसाइटी (वंगाल) के परिशिष्ट में दी गई उपयोगी तालिकाएं। कलकत्ता, 1834-36।

यूल-कैथी : कैथी एंड द वे दिदर। लेखक—सर हेनरी यूल। हकलुत सोसाइटी के लिए एच० कार्डियर द्वारा संपादित, 1913–16।

यूल—मार्कोपोलो : द बुक ग्राफ मार्को पोलो। लेखक—सर हेनरी यूल, तृतीय संस्करण, लंदन, 1903।

रोलिसन : इंटरकोर्स विट्वीन इंडिया एंड दि वेस्टर्न वर्ल्ड। लेखक एच० जी० रालिसन, लंदन, 1916।

रो : दि एम्बैसी ग्राफ सर टामस रो टु दि कोर्ट ग्राफ दि ग्रेट मोगल, 1615-19 हकलुत सोसाइटी के लिए संपादित, 1889।

ला : दि प्रोमोशन ग्राफ लर्निंग इन इंडिया ड्यूरिंग मुहम्मडन रूल। लेखक—एन० एल० ला, लंदन, 1916।

लिनशाटेन : दि वाएज ग्रॉफ जान ह्यगेन नान लिनशाटेन टु दि ईस्ट इंडीज हकलुत सोसाइटी के लिए संपादित, 1884।

लेटर्स रिसीव्ड : लेटर्स रिसीव्ड वाई दि ईस्ट इंडिया कंपनी फ्राम इट्स सर्वेंट्स इन दि ईस्ट, जिल्द I-VI लंदन, 1896-1902।

लेवेसियर : ला पापुलेशन फ्रेंकाइज। लेखक ई लेवेसियर—पेरिस, 1889।

लोप्स : देखिए प्रविष्टि 'सेवेल' के ग्रंतर्गत।

वरथेमा : दि टेवेल्स ग्राफ लुडोविको डि वरथेमा, हकलुत सोसाइटी के लिए ग्रनूदित, 1863. (इस पुस्तक का मुक्त पाठ मुझे उपलब्ध नहीं हो सका है।

वी० स्मिथ ग्रकवर : ग्रकवर, दि ग्रेट मोगल : लेखक—विंसेंट स्मिथ— ग्रक्सफोर्ड, 1917।

ह्वाइटवे : दि राइज ग्राफ पोर्तुजीज पावर इन इंडिया। लेखक—ग्रार० एस० ह्वाइटवे, लंदन 1899।

सेवेल : ए फारगाटन इंपायर। लेखक—ग्रार० सेवेल, लंदन, 1900. (इसमें पाइस ग्रौर नुनिज के पुर्तगाली भाषा में दिए गए विवरणों का ग्रनुवाद प्रस्तुत किया गया है। इन विवरणों का मूल पाठ 1897 में लिस्वन से प्रकाशित डी लोप्स की कृति। 'क्रोनिका डोस रेइस डि विसनागा' में दिया गया है।

स्काट : कंस्टीट्यूशन एंड फाइनेंस ग्राफ इंग्लिश, स्काटिश एंड ग्रायरिश जाइंट

स्टाक कंपनीज़, 1720। लेखक—डब्ल्यू० आर० स्काट, कैंब्रिज, 1910.
स्टीवेंस : दि डान आफ ब्रिटिश ट्रेड टु दि ईस्ट इंडीज। लेखक—एच० स्टीवेंस, लंदन, 1886।
स्लेवरी रिपोर्ट : स्लेवरी (ईस्ट इंडीज) 8 फरवरी, 1841 को भेजा गया गवर्नर जनरल का खरीता (सं० 3) हाउस आफ कामंस के आदेश (सं० 282) से मुद्रित।
हकलुत : कलेक्शन आफ दि अर्ली वायेजेज, ट्रैवेल्स, एंड डिस्कवरीज़ आफ दि इंग्लिश नेशन, 1809-12 का संस्करण।
हाकिंस : द हाकिंस वायेज़ेज हकलुत सोसाइटी के लिए संपादित, 1877।
हाब्सन-जाब्सन : ए ग्लासरी आफ कोलोकियल ऐंग्लो इंडियन वर्ड्स एंड फ्रेज़ेज। लेखक—यूल और बर्नेल। डब्ल्यू क्रूक द्वारा संपादित, लंदन, 1903।
हीथ : सम एकाउंट आफ दि वारिशिपफुल कंपनी आफ ग्रोसर्स। लेखक जे० बी० हीथ, लंदन, 1854।
हे : डी रेबस इयापोनिसिस, इंडाइसिस एट परवेनिस। लेखक जान हे, ऐंटवर्प, 1605।
होम्स : एंशिएंट एंड मार्डन शिप्स। लेखक—सर जी० सी० वी० होम्स भाग–1, लंदन, 1900।

संदर्भ

1. इस उदाहरण का संबंध मुख्यतः उत्तर भारत से है। दक्षिण में सोने की मुद्राओं का चलन था और इसमें से कुछ सिक्के बहुत कम मूल्य के भी होते थे। इसलिए संभव है कि दक्षिण में निम्नतर वर्गों के लोगों ने भी बड़ी माला में धातुएं दबा रखी हों।
2. यह चित्र मूलतः उत्तर भारत से संबंधित है। दक्षिण में, जहां सोने के सिक्के आमतौर पर चलते थे और कम मूल्य के सिक्के भी प्रचलित थे, निम्न आर्थिक वर्ग के लोगों ने भी अच्छी खासा स्वर्ण भंडार पचा लिया होगा।
3. इस काल के नाविकों ने भारतीय बंदरगाहों पर जहाजों को होने वाली क्षति का उल्लेख किया है। उदाहरण के लिए पेटन इस बात पर जोर देता है कि सूरत जाने वाले जहाजों पर दोहरे परदे होने चाहिए, क्योंकि वहां कीड़ों से बहुत अधिक खतरा रहता था (परकास I, iv 522)।
4. युद्ध पोतों के अनुमान में पुर्तगाली नौसेना और 'जलदस्युओं के जहाज भी शामिल कर लिए गए हैं। परिवर्ती डिकाडास में पुर्तगाली बेड़ों का जो विशद विवरण दिया गया है, उससे पुर्तगाली नौसेना के जहाजों के आकार का पता लगाया जा सकता है।' जलदस्युओं की नावें निश्चय ही उनसे छोटी और संख्या में भी कम थी और उनकी कुल क्षमता को मैंने उनके शत्रुओं के युद्ध पोतों की क्षमता के आधे से कुछ ही अधिक आंका है।
5. ये आंकड़े 'स्टैटिस्टिकल ऐब्सट्रेक्ट रिलेटिंग टु ब्रिटिश इंडिया' की तालिका संख्या 183 से लिए गए हैं, मैंने इंडिया आफिस से यह जानकारी हासिल कर ली है कि इसमें दिखाई गई टन क्षमता नेट टन क्षमता है। भारत के देशी राज्यों के बंदरगाहों में बनाए गए जहाजों को भी शामिल करें तो इन आंकड़ों को शायद बढ़ाया जा सकता है। लेकिन इस संबंध में फिलहाल कोई जानकारी उपलब्ध नहीं है, और यदि कोई भूल हो रही हो तो वह बहुत बड़ी नहीं हो सकती।
6. जिन पाठकों ने जहाजरानी की तुलनात्मक सांख्यिकी का अध्ययन नहीं किया है उनके लाभ के लिए अन्य देशों से संबंधित कुछ आंकड़े अंतर समझाने के ख्याल से, यहां दिए जा सकते हैं। ठीक युद्ध से पहले जो जहाज जापान से माल लेकर चले उनका भार जापान की आबादी के अनुपात में प्रति व्यक्ति 2/5 टन था, अर्थात बर्मा सहित भारत के प्रति व्यक्ति औसत टन भार से लगभग पंद्रह गुना अधिक। उसी समय संयुक्त राज्य अमेरिका का प्रति व्यक्ति औसत

टन भार आधा टन से अधिक, आस्ट्रेलिया का एक टन और इंग्लैंड का लगभग डेढ़ टन था। अधिकांशतः समुद्री व्यापार के सहारे जीने वाले देश को प्रतिवर्ष प्रति व्यक्ति कम से कम एक टन या इससे कुछ अधिक माल भेजना चाहिए।

7. यहां इस बात की पुनरावृत्ति की जा सकती है कि मुगल साम्राज्य के जिन हिस्सों में राजस्व निर्धारण की विनियमन प्रणाली लागू नहीं थी उनसे इस निष्कर्ष का संबंध नहीं है—खास कर बंगाल और बरार से या कुछ अन्य प्रांतों के कतिपय भागों से, जो अधिकांशतः बहुत कम उपजाऊ थे। इन क्षेत्रों में राजस्व-दर क्या थी, हमें मालूम नहीं है, लेकिन हम ऐसा सोच सकते हैं कि वह साम्राज्य के शेष भागों से बहुत कम नहीं रही होगी।
8. फिच ने सोनारगांव को सिन्नारगन और श्रीपुर को सरेपोर लिखा है, लेकिन मैं समझता हूं, इससे दोनों स्थानों की पहचान में कोई अंतर नहीं आता। फर्नांडिस ने श्रीपुर का साइरीपुर लिखा है।
9. फिच मूल ध्वनि के आधार पर शब्दों की वर्तनी बनाता है। उसके वृत्तलेख में सोनारगांव और श्रीपुर क्रमशः सिन्नरगैन और सेरेपुर हो गए हैं, मगर मेरा खयाल इससे किसी को कोई भ्रम नहीं होना चाहिए। फर्नांडिस ने श्रीपुर को साइरीपुर लिखा है।
10. यह टिप्पणी मूल ग्रंथ में नहीं है। सोलहवीं सदी में प्रचलित जहाजरानी 'टन' और आज के जहाजरानी टन भार में अंतर है, इसलिए इन दोनों टनों का भेद दिखाने के लिए लेखक ने मूल में इसकी दो वर्तनियां रखी हैं, जिसका उच्चारण एक-सा है। हिंदी में ऐसा संभव नहीं है। इसलिए सोलहवीं सदी के जहाजरानी टन को चिह्नों उद्धरण में रख कर दिखाया गया है। (अनुवादक)
11. ओपेनहम 60 घनफुट बताता है, होम्स कहता है कि 'टन' में 42 घनफुट तथा 42 का एक तिहाई और हिस्सा शामिल होता है। इस तरह न्यूनतम स्थान 56 घनफुट आता है। मैं गोलमोल संख्या 160 को स्वीकार कर रहा हूं। इसमें भूल की संभावना तो है, लेकिन इसके संदर्भ में जिन अन्य बातों का भी खयाल रखना जरूरी हो सकता है उनकी तुलना में यह भूल मामूली होगी।
12. सामान्य जहाजरानी विज्ञापनों में कुल 'ग्रास' क्षमता ही दी जाती है और थल वासियों के एतद्-विषयक साधारणतः अस्पष्ट ज्ञान के स्रोत ये विज्ञापन ही हैं।

अनुक्रमणी